वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में आंचलिकता

("बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी" की पीएच० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)

पर्यवेक्षक:—

डॉ० कृष्णदत्त अवस्थी एम० ए०, पीएच० डी० (द्वय), डी० लिट् (हिन्दी)
वरिष्ठ प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
पं० जवाहरलाल नेहरू महाविद्यालय, बाँदा (उ० प्र०)
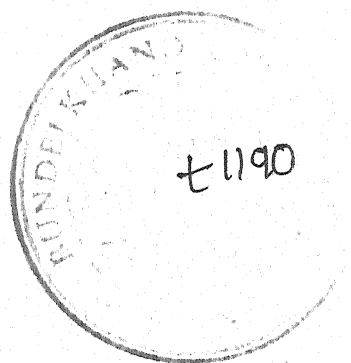
मकर संक्रान्ति, सम्वत् २०३५ वि०

लेखिका—

कु० प्रेमलता एम० ए० (द्वय), बी० एड्०
प्राध्यापिका, हिन्दी
राजकीय कन्या इन्टर कालेज, बाँदा (उ० प्र०)

प्रमाण-पत्र
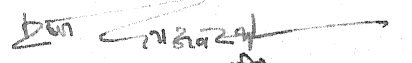
प्रमाणित किया जाता है कि -

(1) प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध शोध-छात्रा द्वारा स्वयं लिखा गया है और मौलिक है।

(2) शोध-छात्रा ने मेरे निर्देशन में प्रार्थना-पत्र की तिथि से दो वर्ष से अधिक समय तक कार्य किया है।

(3) इन्होंने हमारे हिन्दी-विभाग में वांछित उपस्थिति भी दी है।

दिनांक 2/2/98

(डॉ कृष्ण दत्त अवस्थी)
एम0ए0, पी-एच0डी0, डी0लिट्0
वरिष्ठ-प्राध्यापक
हिन्दी-विभाग
पं0जवाहर लाल नेहरू महाविद्यालय, बाँदा
(उ0प्र0)

विषयानुक्रमणिका

वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों में आंचलिकता

विषयानुक्रमणिका

वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों में आँचलिकता

वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों

में

आंचलिकता

भूमिका

पठनकाल से ही मेरे चित्त में उच्चतर अध्ययन की आकांक्षा बलवती रही है। संस्थागत छात्रा के नाते मेरी इस प्रवृत्ति को उत्तरोत्तर संवर्धन एवं प्रोत्साहन मिलता गया। जब मैंने स्नातकोत्तर कक्षा में वर्मा जी के 'मृगनयनी' उपन्यास का अध्ययन किया तभी से मेरे मन में वर्मा जी के उपन्यासों के प्रति अटूट आस्था उत्पन्न हो गयी थी। उन्होंने बुन्देलखण्ड की जिन विशेषताओं को अपनी सबल लेखनी के द्वारा समुद्घाटित किया है, उनसे मेरा मानसिक जगत् अनायास ही प्रभावित होता गया। फलतः पीएच0डी0 स्तर के शोध के लिए मैंने बाबू 'वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों में आंचलिकता' को ही शोध का विषय बनाया। इसके हेतु पर्यवेक्षक का चयन भी एक समस्या बनकर मेरे समक्ष मँडराती रही, किन्तु बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागीय संयोजक डा0 डी0पी0 मित्तल(एम0ए0, पीएच0डी0, डी0लिट्0, अध्यक्ष - हिन्दी विभाग बुन्देलखण्ड कालेज, झाँसी) की महती अनुकम्पा के कारण बुन्देलखण्ड के सुधी-समीक्षक एवं प्रख्यात-पर्यवेक्षक डा0 कृष्णदत्त अवस्थी डी0लिट्0 से मुझे निर्देशन की सुविधा प्राप्त हो गयी, फलतः उनकी कृपा एवं अपने यथार्थ-परिश्रम के कारण मैंने अपने शोध-विषय को साध्य बनाने की अनवरत चेष्टा की है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में बाबू वृन्दावन लाल वर्मा के जीवन-परिचय का उल्लेख करते हुए मैंने यह निष्कर्ष निकाला है कि स्वयं उनका जीवन भी एक उत्तम उपन्यास है। उपन्यास कथाओं के बीज उन्हें इसी बुन्देलखण्ड की धरती से प्राप्त हुए हैं. जहाँ तक लेखन-प्रेरणा का प्रश्न है, बहुत कुछ समाज से ही उन्हें सहायता प्राप्त हुई है। पारिवारिक पर्यावरण तो सहायक रहा ही है। उनके वकालत के पेशे ने भी उपन्यास लेखन में पर्याप्त सहायता प्रदान की है। इष्ट मित्रों का सम्पर्क आंचलिक-प्रेम और प्रोत्साहनों ने भी उन्हें उल्लेखनीय सहयोग दिया है। वे प्रकृति से साहसी और स्नेही-व्यक्तित्व के धनी रहे हैं। परिणाम स्वरूप उनकी कृतियों में भी यह दोनों प्रवृत्तियाँ उभर कर समक्ष आयी हुई हैं। यद्यपि इन्होंने उपन्यासों के अतिरिक्त नाटक और कहानियाँ भी लिखी हैं, किन्तु प्रमुख रूप से यह अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं। उनके इन उपन्यासों में आंचलिक-बोध के पर्याप्त तत्व विद्यमान हैं।

द्वितीय अध्याय में आंचलिकता का तात्पर्य, उसकी उपादेयता तथा उसके व्यापक स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आंचलिकता के विभिन्न तत्वों का उल्लेख किया गया है।

तृतीय अध्याय में वर्मा जी के उपन्यासों में भाषायी-आंचलिकता पर विचार करते हुए आंचलिक पदों और वाक्यों का सोदाहरण विवेचन किया गया है। वाक्य के रूप में बुन्देलखण्डीय लोकगीतों को भी अध्ययन का अंश बनाया गया है। शब्द-शक्ति के परिचय के संदर्भ में यह प्रदर्शित किया गया है कि वर्मा जी ने स्थानीय-लोकोक्तियों एवं मुहावरों के द्वारा अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का कितना सुन्दर चमत्कार प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थअध्याय में वर्मा जी के उपन्यासों में सांस्कृतिक आंचलिकता का अन्वेषण किया गया है। प्रारम्भ में सभ्यता और संस्कृति का परिचय एवं दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए दोनों के अविभाज्य संबंध को स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् उनके उपन्यासों में प्राप्त धर्म, नीति, दर्शन, कला आदि विशेषताओं के सोदाहरण तत्वों की खोज करते हुए उपन्यासों की गरिमा सिद्ध की गयी है।

पाँचवे अध्याय में वर्मा जी के उपन्यासों में भौगोलिक आंचलिकता की खोज की गयी है। इस संदर्भ में बेतवा, धसान, चम्बल, केन, यमुना, पुष्पावती आदि नदियों, 'बकनवारा' प्रभृति नालों और विन्ध्य-श्रेणी के विभिन्न पर्वतों की विशेषताओं का संदर्भ सहित चित्रण किया गया है। यहाँ के वन कितने सुन्दर और भीषण हैं, यहाँ की जलवायु किस प्रकार की हैः, यहाँ कौन-कौन से खनिज पदार्थ प्राप्त हैं, विभिन्न ऋतुओं में यहाँ कैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, यहाँ के दुर्ग और खण्डहर अपना क्या महत्व रखते हैं और यहाँ के जीव-जन्तुओं में कौन-कौन सी विशेषताएँ पायी जाती हैं, इन सब तथ्यों का सोदाहरण आकलन करके निष्कर्ष निकाले गये हैं।

षष्ठ अध्याय में वर्मा जी के उपन्यासों में ऐतिहासिक आंचलिकता की खोज की गयी है। इसके लिए उनके उपन्यासों की भूमिकाओं और इतिहास ग्रन्थों से विशेष सहायता ली गयी है और यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि वर्मा जी ने इतिहास और परम्परा दोनों का मन्थन करके यथासम्भव यथार्थ को कल्पना की रंगीन तूलिका से रंग कर उसे औपन्यासिक जामा पहनाया है। जिन स्थलों में इतिहास से

विरूद्ध घटनाएँ चित्रित की गयी हैं, वहाँ उनके कारणों पर भी समुचित प्रकाश डाला गया है।

सप्तम अध्याय में वर्मा जी के उपन्यासों में सामाजिक एवं आर्थिक-आंचलिकता पर प्रकाश डाला गया है इस संदर्भ में वर्ण-व्यवस्था की स्थिति, सामन्ती-जीवन की झलक, कृषक-जीवन का दुख-दैन्य एवं उनकी समस्याएँ, प्रजा की प्रगति, वैवाहिक प्रथाओं, आर्थिक स्थितियों, प्रचलित रूढ़ियों और स्वभावगत विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि बुन्देलखण्ड का समाज कितना पिछड़ा हुआ है, रूढ़ि ग्रस्त, दीन-हीन एवं अभिशप्त है।

अष्टम अध्याय में यह दिखाया गया है कि वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में आंचलिकता के जिन रूपों को प्रस्तुत किया है, वे या तो स्वानुभूतिमूलक हैं अथवा परानुभूतिमूलक हैं। स्वानुभूति के क्षेत्र में भौगोलिकता, सामाजिक-चित्रण, भाषायी-चित्रण जैसी विशेषताएँ आती हैं, इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे कथासूत्र भी हैं, जिनके द्रष्टा एवं अनुभूतिकर्ता स्वयं वर्मा जी ही रहे हैं। परानुभूति के क्षेत्र में इतिहास, किम्बदन्तियाँ एवं दन्तकथाएँ आती हैं, जिनसे अप्रत्यक्ष रूप से लेखक को कथासूत्र प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार वर्मा जी के उपन्यासों में आंचलिक-बोध अत्यन्त प्रबल मात्रा में विद्यमान है। यद्यपि इस आंचलिकता में लेखक की रागात्मकता भी सम्मिलित है, किन्तु उसमें भावातिरेक का स्थान नहीं है। इस कारण लेखक का आंचलिक-बोध पर्याप्त ग्राह्य एवं अनुकरणीय हो गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के संदर्भ में मुझे जिन गुरूजनों, प्रबुद्ध मनीषियों, प्रिय परिजनों एवं सुधी समीक्षकों से सहायता प्राप्त हुई है, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित-करना मेरा परम कर्तव्य है। सर्व प्रथम मैं अपने पर्यवेक्षक डा0 कृष्णदत्त अवस्थी — वरिष्ठ प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, पण्डित जवाहर लाल नेहरू कालेज, बाँदा के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ, जिनके सुचारू निर्देशन एवं पर्यवेक्षण से मेरे अध्ययन और शोध का मार्ग प्रशस्त हुआ है। मैंने डा0 मुंशीराम शर्मा, डा0 प्रभुदयाल मित्तल, डा0 डी0पी0मित्तल, श्रद्धेय अमृतलाल नागर, डा0 भगीरथ मिश्र, डा0माता-बदल जायसवाल, डा0 कृष्णा अवस्थी, डा0 सुषमा धवन, रामचरण ह्यारण 'मित्र', डा0 शान्ति स्वरूप गुप्त जैसे विद्वानों एवं विदुषियों के ग्रन्थों अथवा मौखिक सुझावों

से पर्याप्त लाभ प्राप्त किया है। इस हेतु मैं उन सबके प्रति आभारी हूँ। डा0 राम-गोपाल गुप्त, प्रो0 जसवन्त नाग, एवं अपने गुरू तथा प्राचार्य डा0 गोरखनाथ-द्विवेदी के प्रति भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मुझे समय-समय पर पुस्तकीय-सहायता, प्रेरणा, एवं प्रोत्साहन देकर मुझे कृतकृत्य किया है।

परिजनों में परमश्रद्धेय डा0 रमेशचन्द्र नागपाल एम0एल0एम0, बन्धु-वर प्रकाश नारायण एडवोकेट, रमेश चन्द्र एवं प्रो0 उदय नारायण के प्रति किन-शब्दों में आभार व्यक्त करूँ, वे अपने ही परिवार के अभिन्न अंग हैं। अतः उनको धन्यवाद देना अपने को ही धन्यवाद देना होगा। अन्त में मैं अपनी प्राचार्या श्रीमती-'कमला जिन्दल' के प्रति भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मुझे यथासम्भव शोध-सुविधायें देकर मुझे अनुगृहीत किया है। इन पंक्तियों के समाप्त करने के पूर्व मैं अपनी ममतामयी माँ की असीम कृपा , अक्षय आशीर्वाद एवं अनुपम प्रोत्साहन की किन शब्दों में प्रशंसा करूँ, जिनकी असीम-अनुकम्पा ने इस गुरूतर कार्य को उत्तरोत्तर सरल बनाने में आस्था के दृढ़ सम्बल का कार्य किया है। यदि मेरे इस शोध-प्रबन्ध से बुन्देलखण्ड की आँचलिकता का भव्य एवं यथार्थ रूप सामने आ सका और वर्मा जी के कृतित्व में उसके सुनहरे-पानी की पुष्टि हो सकी, तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगी।

मकर संक्रान्ति,

संवत् 2035वि0

लेखिका

(प्रेमलता)

प्रथम अध्याय

वृन्दावन लालवर्मा एवम् उनके उपन्यासों का परिचय

प्रथम अध्याय

वृन्दावनलाल वर्मा और उनके उपन्यासों का -

परिचय

बुन्देलखण्ड की पावन-भूमि में अनेक महापुरूषों ने अवतार लेकर इसके सामाजिक , सांस्कृतिक , राजनीतिक , तथा साहित्यिक स्तर को उन्नत बनाने का अथक प्रयास किया है। इतिहास के पृष्ठों का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि यहाँ के स्त्री - पुरूष सामानरूप से परिश्रमी, उत्साही एवं कर्मठ रहे हैं। जहाँ तक महापुरूषों का प्रश्न है, यह भी बड़े सरल, उदार, आदर्शवादी एवं उद्यमी रहे हैं, जिनकी यशोगाथाओं से प्रत्येक-बुन्देलखण्डवासी गर्व से अपने मस्तक को ऊँचा मानता हुआ यथासम्भव उनसे प्रेरणा लेता है। हिन्दी-साहित्य के 'वाल्टर स्काट' 'बाबू वृन्दावन लाल वर्मा' हमारे बुन्देलखण्ड के ऐसे जाज्वल्यमान रत्न हैं, जिनसे हिन्दी-साहित्य ही नहीं, अपितु विश्व-साहित्य भी प्रेरणा ले सकता है। मूलतः वे ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में विश्व-विख्यात हैं। किन्तु उन्होंने अनेक सुन्दर सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं। जिनके कारण वे जन-जीवन की समस्याओं के यथार्थ ज्ञाता एवं मानव-जीवन से लेकर वन्य-जीवन तक के प्रत्यक्ष अनुभवी माने जाते हैं। जैसा कि उनके उपन्यासों के अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है। उनके उपन्यासों में बुन्देलखण्ड का जीवन सजीव होकर बोलता है। खानपान, रहन-सहन, आचार-विचार, विभिन्न मान्यताएँ, व्यसन, राग-रंगोत्सव, उद्योग, अर्थोपार्जन, आखेट, व्यायाम, भाषा-सौन्दर्य आदि सभी से उनका आत्मीयतापूर्ण प्रगाढ़ परिचय रहा है, जिसकी सरस अभिव्यक्ति उन्होंने अपने इन उपन्यासों में की है। अस्तु, उनका आंचलिक-बोध स्वर्णाक्षरों से उल्लेखनीय है। ऐसे महनीय तथा चिरप्रतिष्ठित साहित्यकार के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की पुनः - पुनः परीक्षा एवं समीक्षा करना प्रत्येकसाहित्य-सेवी का गुरूतर उत्तरदायित्व है। विशेषतः बुन्देलखण्डीय प्रतिभाओं के लिए ऐसे अमरशिल्पी अक्षय वरदान हैं, अतः हम क्षेत्रवासियों को उनके साहित्य का तलस्पर्शी अध्ययन करने के लिए अथक प्रयास करना चाहिए। इसी धारणा को लेकर प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में उनकी आंचलिकता को विविध दृष्टिकोणों से स्पष्ट करने की चेष्टा की जा रही है। जिसके प्रारम्भ में उनके प्रशस्त व्यक्तित्व एवं अप्रतिम कृतित्व का लेखा-जोखा प्रस्तुत है:-

जीवन-और व्यक्तित्व :—

अमर कथाशिल्पी श्री वृन्दावन लाल वर्मा का जन्म मऊरानीपुर, झाँसी में 9 जनवरी सन् 1889 तदनुसार पौष शुक्ल अष्टमी, सम्वत् 1945 को एक साधारण कायस्थ परिवार में हुआ था। वर्मा जी के पिता का नाम श्री अयोध्या प्रसाद और माता का नाम श्रीमती सबरानी था। पिता, झाँसी तहसील में रजिस्ट्रार कानूनगो थे और माता वैष्णव थीं। फलतः वैष्णव - वातावरण में वर्मा जी का जीवन फला-फूला। चार वर्ष की आयु में उनकी शिक्षा का श्रीगणेश हुआ। इनके विद्यागुरू श्री विद्याधर दीक्षित थे। सात वर्ष की आयु में ही पढ़ना-लिखना सीख लिया। साहित्य में उनकी अभिरूचि इनके चाचा श्री बिहारी लाल ने बढ़ायी, चाचा ललितपुर में ज्वाइण्ट मजिस्ट्रेट के अहलमंद थे।

घटना उन दिनों की है, जब उनके हाथ में बंगला से अनूदित 'अश्रुमती' नाटक आया। उसमें अश्रुमती , जो राणा प्रताप की पुत्री थी, को अकबर के लड़के सलीम पर अनुरक्त दिखाया गया है। यह बात वर्मा जी को बहुत खटकी और अन्ततः वे अपने चाचा से परामर्श करके इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उस समय या तो सलीम का जन्म ही नहीं हुआ होगा या तो वह बहुत छोटा रहा होगा।[1] इसी प्रकार एक घटना और घटी, जब 'ई0मार्सडन' की एक पुस्तक 'हिस्ट्री आफ इण्डिया' उनके हाथ में पड़ गयी। उन्होंने पढ़ा कि 'भारत एक गरममुल्क है, इसलिए यहाँ के निवासी कमजोर हैं और इसी कारण ठण्डे देशों के आक्रमणकारियों के सामने हारते रहे हैं।[2] वर्मा जी क्रोध से उबल पड़े और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हिन्दुस्तान गुलामी से शायद ही मुक्त हो सके। इस समय वे ललितपुर - झाँसी में एक स्कूल में पाँचवी कक्षा में पढ़ते थे और तभी से वे अध्ययन में जुट गये। कुछ ही वर्षों में उन्होने 'चन्द्रकान्ता सन्तति' 'गुलिवर्स ट्रेवल' 'राबिन्सन क्रूसो' 'विलियम रेनाल्डस' कृत 'सोल्जर्स वाइफ', गेटे का 'फाउस्ट' शेक्सपियर कृत 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' 'टेम्पेस्ट' 'मैकबेथ' 'हैमलेट' और आथेलो' आदि कृतियाँ पढ़ डालीं। वर्मा जी का विवाह 11-12 वर्ष की अल्पायु में ही हो गया था। वर्मा जी के शब्दों में "पत्नी जो मिली वह आज भी मेरे जीवन की, मेरे घर की दीप्ति और शोभा है। रक्षा करने वाली देवी, हिम्मत में असाधारण और सेवा करने में अद्वितीय।[3]"

1- अपनी कहानी, वृन्दावन लाल वर्मा, पृ0 4-5

2- वही, पृ0 17

3- वही, पृ0सं0 16

उच्च-शिक्षा अर्जन हेतु उन्होंने 1913 में आगरा कालिज, आगरा में एल0एल0 बी0 में प्रवेश लिया। इस वर्ष भाग्य ने उनका साथ नहीं दिया और वे परीक्षा में असफल रहे। वे हिम्मत हारने लगे थे कि माँ ने प्रोत्साहित किया —" एक ही बार तो फेल हुए हो, कोई बात नहीं। हिम्मत न हारो, राम को मन में रखो, कोई विघ्न-बाधा तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगी।" और माँ के उक्त आशीर्वादात्मक प्रोत्साहन से वर्मा जी परीक्षा में सफल हुए। किन्तु विधि की बिडम्बना तो कुछ और ही थी। सन् 1914 ई0 में इनकी माता जी अपनी दो पुत्रियों का गुरुतर भार इनकी पत्नी के ऊपर सौंप कर परलोक सिधार गईं। उनकी हिम्मत टूटने ही लगी, किन्तु तभी उनको माता श्री के वचनों से प्रेरणा मिली और 1916 में वकालत प्रारम्भ की। पहले तो विशेष सफलता नहीं मिली, तदुपरान्त चल निकली। वकालत के मध्य भी उनकी अध्ययन की अभिरुचि में रुकावट नहीं आयी। उन्होंने मेटरलिंक, अनातोले फ्रान्स, मौलियर, मोपांसा, तालसताय और पुश्किन की कृतियों का भरपूर आनन्द उठाया।

'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है' इसकी सजीव मूर्ति थे वर्मा जी। कुश्ती, व्यायाम, का बेहद शौक था, क्रिकेट, हाकी फुटबाल भी खेलते थे। क्रिकेट के तो वे कप्तान थे। वर्मा जी घुमक्कड़ प्रकृति के थे। बुन्देलखण्ड से उन्हें विशेष मोह था। वहाँ के पहाड़ों, वनों, नदियों, झीलों, तालाबों, मन्दिरों, मठों, जंगल-मैदानों के एक-एक कण से वे परिचित हैं। प्रकृति के प्रति भी उनका अप्रतिम अनुराग है। बुन्देलखण्ड की भूमि उसके नदी, नालों, पर्वत, पठार, पेड़ पौधों और मौसम के अनुकूल रात-दिन के विविध क्षणों का जैसा सूक्ष्म ज्ञान वर्मा जी को है, उससे उनका बुन्देलखण्ड के प्रति अमिट-प्रेम का परिचय मिलता है। यथा —"एक पंजाबी मित्र के यहाँ ब्याह था उनके पिता और कुछ नातेदार दस-पन्द्रह बरस पहले व्यवसाय के सिलसिले में झाँसी आ बसे थे। बुन्देलखण्ड और बुन्देलखण्डी उनके मिहमानों की चर्चा के विषय थे।

"बड़ा कमबख्त इलाका है जी यह' एक बोला। दूसरे ने जोड़ा, आदमी बडे मरियल-सड़ियल हैं' — हाँ औरतें मजबूत होती हैं।"

'जंगल, पहाड़, झील और नदियों के सिवाय और है क्या यहाँ?'

'जानवर हैं जानवर, आदमी से अच्छे।'

'मेहमान हँस पड़े। मेरे कलेजे में छुरियाँ-सी छिद गयीं। जिस भूमि ने मेरे माता-पिता को जन्म दिया, वहाँ लक्ष्मी बाई का पराक्रम प्रकट हुआ। जिस भूखण्ड में चंदेले और उनके बाद छत्रसाल हुए, वह कमबख्त है। जहाँ के आदमियों का 'आल्हा' सब जगह गाया

जाता है। जिन्होने औरंगजेब के, फिर अंग्रेजों के दाँत खट्टे किए, वे मरियल-सड़ियल।"।

उस दिन से बुन्देलखण्ड की एक-एक कंकड़ी, एक-एक बूँद, एक-एक पत्ती और कली मन को रमने लगी। परन्तु प्रारम्भ से ही मैंअपनी इस भावना कोसंकुचित होने से बचाए रहा। 'हरिचन्द्र' का नील देवी नाटक, भारतदुर्दशा नाटक, रामायण और महाभारत मेरे सम्बल रहे। केवल क्षेत्र विकल्प की समस्या थी जो अपने आप हल हुई।"[2]

इसी पुस्तक में वर्मा जी ने अन्यत्र लिखा है —" ये मेले, उत्सव और अवसर बिना किसी उपदेश के शक्ति संचय करने का संदेश देते हैं, नसों में ताजगी का संचार करते हैं, फिर मैं क्यों न कुछ इसी प्रकार का ढंग अपनाऊँ।" बुन्देलखण्ड की पावन धरती ही उनकी प्रेरणा-स्रोत बनी। उन्हीं के शब्दों में —" आप कभी बुन्देलखण्ड के भीतर स्थानों में घूमें हों तो आपको स्मरण होगा, हमारा यह दरिद्र खण्ड कितना विभूतिमय है। इन-लोगों के पास पैसा नहीं है, परन्तु हम लोग फिर भी फागें और दादरे गाते हैं, अपनी झीलों, नदी नालों के किनारे नाचते हैं और अपनी रंगीली कल्पनाओं में मग्न हो जाते हैं।"[3]

संगीत से भी वर्मा जी को उतना ही लगाव था, जितना साहित्य-सृष्टि से। इस विषय में उनका अभिमत है कि "गीत जीवन का एक रस है। एक मात्र हिन्दू ही संसार में ऐसा है, जिसने उसका पूरा-पूरा आनन्द उठाया है। मृत्यु का रूप हिन्दू शास्त्रों में बारह वर्ष की कन्या जैसा माना गया है। हमारा अत्यन्त प्रिय देवता श्री कृष्ण नट-नागर है, जो बाँसुरी बजा रहा है।[6]" नृत्यकला और मूर्तिकला में भी उनकी विशेष अभिरुचि थी। शिकार का भी उन्हें बेहद शौक था। फलतः वैदिग्धकता, शारीरिकबल और कलात्मकता की त्रिवेणी वर्मा जी के व्यक्तित्व में परिलक्षित होती है।

साहित्य-सेवा के साथ-साथ उन्होंने समाजसेवा भी की। 12 वर्ष तक डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के चेयरमैन रहे। इस अवधि में भरपूर जनसेवा की। अहिंसा में उनकी अडिग आस्था थी, तथापि हिंसा अथवा क्रान्ति में भी विश्वास रखते थे। इसलिए उन्होंने क्रान्तिकारियों की

---

1 अपनी कहानी, वृन्दावन लाल वर्मा, पृ0 26

2- अपनी कहानी, पृ0सं0 १८

3- अपनी कहानी, पृ0सं0 २६

तन-मन-धन जैसे भी बन पड़ा सहायता की है। उनका कहना है —"गाँधी जी के अहिंसात्मक आन्दोलन ने जनता को निर्भीक तो बनाया, परन्तु हमें सन् 1857 के दयानंद-सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, तिलक, गोखले, दादाभाई नौरोजी आदि अन्य आतंकवादियों के कार्यों को सामूहिक रूप से ध्यान में रखना चाहिए। सुभाष और आजाद-हिन्द-फौज तथा इण्डिया नेवी के विद्रोह को भी नहीं भूलना चाहिए।"[1] वर्मा जी स्वभाव से सरल, विनम्र और संयमी हैं। छोटे-बड़े सभी उनकी दृष्टि में समान है। मानव-मात्र के प्रति उनके मन में सहानुभूति की भावना थी। वस्तुतः वे कलम के धनी और व्यक्तित्व से सर्वगुण सम्पन्न थे। उनका स्वभाव इतना सरल था कि वे साधारण से साधारण अपरिचित व्यक्ति को भी आत्मीय-भाव से सम्मान देते थे और प्रत्येक पत्र-व्यवहार का समुचित उत्तर देते थे। उन्हें अहं-भावना ने कभी ग्रस्त नहीं किया। इतने महान साहित्यकार होने पर भी वे जन-जन को प्रिय बने रहे, यही कारण है कि आज की इस साहित्यिक दलबन्दी में भी प्रत्येक साहित्यकार या आलोचक उनके बहुमुखी व्यक्तित्व एवं सफल कृतित्व की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है।

वर्मा जी के प्रेरणा-स्रोत :—

बड़े से बड़े साहित्यकारों का यह इतिहास होता है कि वे देशकाल और परिस्थिति से प्रभावित होते हैं। रचनाओं में जहाँ उनका वैयक्तिक अध्ययन, वैयक्तिक जीवन और वैयक्तिक प्रतिभा का प्रभाव पड़ता है, वहाँ प्रत्येक कृति का कुछ विशिष्ट प्रेरणा स्रोत भी होता है। वर्मा जी की साहित्यिक प्रेरणाओं को यदि वर्गीकृत रूप में देखना चाहें, तो सुविधा की दृष्टि से हम निम्नलिखित वर्गीकरण प्रस्तुत कर सकते हैं —

(1) पारिवारिक परम्परायें :-

(2) वातावरण

(3) तत्कालीन परिस्थितियाँ

(4) स्वाभाविक देश-प्रेम और राष्ट्रीयता

(5) बुन्देलखण्डी लोककथायें

(6) लोक प्रचलित किम्बन्दितियाँ

(7) ऐतिहासिक अध्ययन

(8) आत्माभिव्यक्ति की सहज-प्रेरणा

1- अपनी कहानी, वृन्दावनलाल वर्मा, पृ0सं0

इनमें से वंशपरम्परा से प्राप्त पारिवारिक गतिविधियाँ वर्मा जी की मूलस्रोत रही हैं। वर्मा जी के परिवार में अनेक कवि और वैद्य उत्पन्न हुए थे, उनके परदादा 'आनन्दीराम' कविता लिखने में विशेष रूचि रखते थे। यद्यपि इस समय उनकी लिखित एक भी कविता प्राप्त नहीं है।[1] किन्तु इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि साहित्यिक रचना के बीज इनकी वंश-परम्परा में उनके पूर्वजों में विद्यमान रहे हैं। इसके अतिरिक्त इनके शैशव में प्रतिदिन रामायण का पाठ इनके घर में होता था, जिसके कारण इन्हें अव्यक्तरूप से भारतीय-संस्कृति के प्रति विशेष अभिरूचि होती गयी।

इनके चाचा 'बिहारी लाल' बड़े ही साहित्य-मर्मज्ञ थे, उन्हीं के पास इनका शैशव व्यतीत हुआ। इससे यह पता चलता है कि बाल्यकाल से ही इन्हें साहित्य के प्रति आस्था हो गयी थी। इनके चाचा ने 'रामवनवास' शीर्षक एक अधूरा नाटक भी लिखा था, उनकी अकाल मृत्यु हो जाने पर वर्मा जी ने इसे पूर्ण किया था। इस प्रकार लेखन की सर्वप्रथम सक्रिय प्रेरणा यहीं से प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है।

पारिवारिक जीवन के अतिरिक्त वर्मा जी का साहित्यिक संसर्ग भी साहित्यिक-रचनाओं की प्रेरणा के लिए पर्याप्त प्रभावशील सिद्ध हुआ है। किशोरावस्था से ही इन्हें राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का मैत्री-सम्बन्ध सुलभ रहा है। अतः यह माना जा सकता है कि इन्हें गुप्त जी से साहित्यिक प्रेरणा अवश्य मिलती रही होगी।

छात्र-जीवन में हिन्दी के प्रति इनका असीम अनुराग था। हिन्दी-समिति का गठन करके उसका प्रचार प्रसार करना इस बात का द्योतक है कि इन्हें साहित्य के प्रति कितनी गहरी आस्था थी। 'नरान्तक वध' नाटक और 'अनूठे देवेश6 की रचना इन्हीं प्रेरणाओं का परिणाम है। जब इन्होंने बुन्देलखण्ड के शौर्य से प्रभावित होकर 'सेनापति ऊदल' शीर्षक नाटक की रचना की, तब इलाहाबाद के 'इण्डियन प्रेस' ने उसे केवल प्रकाशित ही नहीं किया, अपितु पचास रूपये का प्रोत्साहन पुरस्कार भी दिया। निश्चितरूप से किसी साहित्यकार के साहित्यिक शैशव के लिए ऐसे प्रोत्साहन प्रेरणा-स्रोत बन जाते हैं। वर्मा जी के विषय में भी यही बात लागू होती है। इसके अतिरिक्त 'जुझौतिया-प्रेस' के संचालक मऊ निवासी श्री बलदेव प्रसाद रिछारिया ने अपने 'जय जुझौति' शीर्षक मासिक पत्रिका के सम्पादन का उत्तरदायित्व वर्मा जी के हाथों सौंप दिया। परिणाम स्वरूप इतना बड़ा साहित्यिक-

---

1- वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों में सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0 126

उत्तरदायित्व संभालने के साथ ही साथ वर्मा जी को साहित्य-सृजन की विशेष प्रेरणा प्राप्त हुई होगी, इसमें कोई विशेष सन्देह नहीं है।

जब वर्मा जी ने एल0एल0बी0 की परीक्षा पास की उसी के आस-पास इन्हें सत्यनारायण कविरत्न, बद्रीनाथ भट्ट, मन्नन द्विवेदी जैसे प्रसिद्ध साहित्यकारों का सहयोग प्राप्त हुआ और विशेषकर गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे प्रतिभाशील एवं साहित्यकार ने इन्हें साहित्य-सृजन के लिए बराबर प्रेरित किया। उन्होंने 'प्रताप' शीर्षक समाचार- पत्र में भी इन्हें लेखन का अवसर प्रदान किया। एक बार तो विद्यार्थी जी ने इनसे यहाँ तक कह डाला था —"वर्मा तुम्हारा अदालती गाउन जला डालने को जी चाहता है।" इस वाक्य से यह ज्ञात होता है कि वर्मा जी को साहित्य-सृजन की कितनी अधिक प्रेरणा प्राप्त हुई होगी। यहाँ तक तो हुई वर्मा जी की सामान्य-प्रेरणा की चर्चा। किन्तु उनकी प्रत्येक कृति के पीछे कोई न कोई उल्लेखनीय प्रेरणास्रोत अवश्य रहा है, जिसको उन्होंने तद्-तद् ग्रन्थ की भूमिका में अवश्य संकेतिक किया है। यहाँ पर उनका संक्षिप्त किन्तु क्रमिक विश्लेषण प्रस्तुत है।-

<u>लगन :—</u>

इसकी मुख्य घटना 'दुर्जन कुम्हार' नामक व्यक्ति ने वर्मा जी को बतलाई थी।[1] इस प्रकार इस उपन्यास का प्रेरणास्रोत समाज माना जा सकता है।

<u>संगम :—</u>

इस उपन्यास के मूलस्रोत के रूप में 1925 ई0 में झाँसी के आये हुए मुकदमें तथा 1918 ई0 में झाँसी में फैले हुए इन्फ्लुएँजा में वर्मा जी द्वारा निर्मित सेवा समिति की सेवाओं के संस्मरण उक्त ग्रन्थ के मूल-प्रेरणा स्रोत हैं। इस प्रकार लोक-जीवन की समसामयिक परिस्थितियाँ ही इस उपन्यास के सृजन में बीज प्रतीत होती हैं।

<u>प्रत्यागत :—</u>

इस उपन्यास की प्रेरणा सामाजिक है। 1927 या 1928 ई0 में घटित होने वाली छुआछूत की घटनायें, वर्मा जी को इस उपन्यास-लेखन में प्रेरणा प्रदान करती रही हैं।

1- लगन की भूमिका के आधार पर।

कुण्डलीचक्र :—

वर्मा जी ने 'रतन' और 'भुजबल' के विवाह का प्रसंग सत्य घटना के आधार पर चित्रित किया है। इस प्रकार सामाजिक घटना ही इसका प्रेरणा-स्रोत है।

प्रेम की भेंट —

इस उपन्यास की घटना वर्मा जी को उनके एक मित्र से प्राप्त हुई थी। उसमें यत्किंचित् परिवर्तन करके उन्होंने उसे साहित्यिक रूप दिया है।

अचल मेरा कोई —

इस उपन्यास की मूल प्रेरणा कानपुर नगर की एक विशेष घटना है, जो उस समय के 1945 से 1948 समाचार-पत्रों में प्रकाशित होती रही है।[1]

कभी न कभी —

1941—42 में झाँसी जिला बोर्ड, चिरगाँव में बेतवा के पास बन रही सड़क के निरीक्षणकर्ता के रूप में वर्मा जी ने मजदूर-जीवन का रोमान्स उस दौरान देखा और घटनाओं से इस उपन्यास की कथावस्तु प्रेरित है।

कचनार :—

इस उपन्यास का प्रेरणा-स्रोत भी एक सत्य घटना है। यथा — 'भुवाल' सन्यासी का मनोरंजक, किन्तु विवादास्पद मुकदमा था। वर्मा जी ने उक्त घटनाओं के निष्कर्ष अर्थात् स्मृतिलोप और स्मृति लौट आने के विषय में जो तथ्य दिये हैं, उनके आधार झाँसी के सिविलसर्जन डा0 एन0जे0 बारू के किए गये लम्बे विचार-विमर्श हैं।[2]

अमरबेल तथा उदयकिरण —

इनके कथानकों की प्रेरणा सामाजिक है। जब वर्मा जी जिला सहकारी बैंक के डायरेक्टर थे, तब उन्होंने बुन्देलखण्ड के गाँवों में आधुनिक युवा पुरुषों के क्रान्तिकारी विचारों को अपनी आँखों देखा और कानों सुना था, उसी को उन्होंने इन दोनों उपन्यासों में पल्लवित कर दिया है।

1- अचल मेरा कोई, परिचय भाग से उद्धृत

2- कचनार, परिचय।

आहत —

वर्मा जी के विद्यार्थी-जीवन के कटु अनुभवों की स्मृतियाँ इस उपन्यास की मूल प्रेरणा हैं।

गढ़ कुण्डार —

इस उपन्यास में वर्णित वर्मा जी का परम विश्वसनीय व्यक्ति 'दुर्जन' कुम्हार है। जो अर्जुन कुम्हार के रूप में है और उनका आखेट सहयोगी 'करामत' इस उपन्यास का 'इब्नकरीम' है।

विराटा की पद्मिनी —

इसका प्रेरणास्रोत इस उपन्यास का मुख्य पात्र 'लोचन-सिंह' है जिसकी उद्दण्ड एवं लड़ाकू प्रवृत्ति ने वर्मा जी को ही नहीं, अपितु मैथिलीशरण गुप्त को भी 'सरस्वती' पत्रिका में 'दास्ताने' शीर्षक कविता लिखने को प्रेरित किया था।[1]

कचनार —

वर्मा जी की अमर-कण्टक यात्रा के दौरान मिली हुई एक विरक्त महिला के मौन-आग्रह पर यह उपन्यास लिखा गया है।[2]

झाँसी की रानी —

इस उपन्यास की प्रेरणा लेखक को व्यक्तिगत दो तीन व्यक्तियों के द्वारा बताये गये झाँसी की रानी 'लक्ष्मी-बाई' के जीवन विषयक-सूत्र हैं। इतिहासकारों ने लक्ष्मीबाई का वह रूप नहीं प्रस्तुत किया, जो वर्मा जी को इन जन-श्रुतियों से ज्ञात था। फलतः सत्य के उद्घाटन करने के दृष्टिकोण से उन्होंने इस उपन्यास को लिखा है, जैसा कि ग्रन्थ की भूमिका से स्पष्ट है।[3]

टूटे काँटे —

इस उपन्यास का प्रमुख स्रोत वर्मा जी को अपने जन्म स्थान 'मऊरानीपुर' की एक महिला से मिला।

1- विराटा की पद्मिनी, परिचय

2- अपनी कहानी, पृ0 118

3- झाँसी की रानी, भूमिका के आधार पर

इन प्रेरणास्रोतों के अतिरिक्त शेष उपन्यास व्यक्तिगत तथा सामाजिक आग्रह पर लिखे गये हैं। उदाहरणार्थ 'इन्दौर' में 'अहिल्याबाई-जयन्ती' के उद्घाटन के अवसर पर प्रशंसकों द्वारा 'अहिल्याबाई' उपन्यास लिखने का आग्रह किया गया था। इसी प्रकार रानी साहब ग्वालियर के पत्र से प्रेरित होकर वर्मा जी ने 'मृगनयनी' उपन्यास की रचना की।[1]

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वर्मा जी को सर्व प्रथम अपनी वंशपरम्परा एवं परिवार से साहित्यिक लेखन की प्रेरणा प्राप्त हुई, जो साहित्यिक मित्रों के संसर्ग, प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से उत्तरोत्तर पुष्ट होती गयी। तदनु वकालत की वैविध्यपूर्ण घटनाओं और चरित्र प्रदान करने वाली सामाजिक चेतनाओं ने उन्हें लेखन की प्रेरणा दी। तत्पश्चात् उनके विविध प्रशंसकों एवं आलोचकों ने आग्रह एवं अनुरोध के द्वारा उन्हें साहित्य-सृजन की प्रेरणा दी। इसके अतिरिक्त उनकी राष्ट्रीयता, मातृभूमि एवं समाज-कल्याण की भावना ने उन्हें जागरूक बनाया और उनकी सत्यान्वेषी प्रवृत्ति ने उन्हें ऐतिहासिक भूलों का पर्दाफाश करने के लिए उत्प्रेरित किया। फलतः उन्होंने ऐतिहासिक भूलों को निरस्त करते हुए बुन्देलखण्ड के सत् इतिहास की खोज करने के लिए साहित्य को अपना आधार बनाया। बस यही वर्मा जी के साहित्य-सृजन की मूल प्रेरणायें हैं।

वर्मा जी की कृतियाँ एवम् उनके उपन्यास —

वृन्दावन लाल वर्मा ने गद्य की अनेक विधाओं पर प्रकाश डाला है, जैसे कहानी, नाटक, उपन्यास आदि। यहाँ पर हम क्रमशः उनके उपन्यासों पर संक्षिप्त प्रकाश डालेंगे। — वर्मा जी ने दो प्रकार के उपन्यास लिखे हैं। ऐतिहासिक उपन्यास एवं सामाजिक उपन्यास।

ऐतिहासिक उपन्यास —

ऐतिहासिक उपन्यासकारों में वर्मा जी का अग्रगण्य स्थान है। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की प्रेरणा उन्हें बुन्देलखण्ड के इतिहास से मिली। वर्मा जी ने सर्वप्रथम ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास और रोमांस का उद्भुत समन्वय प्रस्तुत किया। अतः वही इस कला के जन्मदाता भी हैं। उनके सभी उपन्यास राष्ट्रीयता और स्वदेश प्रेम की भावना से ओत-प्रोत हैं। उन्होंने सच्ची घटनाओं को समाज के समक्ष उपस्थित किया है। अब तक उनके प्रकाशित ऐतिहासिक उपन्यास निम्नलिखित हैं —

---

1 — अपनी कहानी, पृ०सं० 2

(1)	गढ़कुण्डार	(1928)
(2)	विराटा की पद्मिनी	(1933)
(3)	मुसाहिब जू	(1937)
(4)	झाँसीकी रानी	(1946)
(5)	कचनार	(1948)
(6)	माधव जी सिंधिया	(1949)
(7)	टूटे काँटे	(1949)
(8)	मृगनयनी	(1950)
(9)	भुवन विक्रम	(1954)
(10)	अहिल्याबाई	(1955)
(11)	रामगढ़ की रानी	(1961)
(12)	महारानी दुर्गावती	(1964)

गढकुण्डार —

वर्मा जी का सर्व प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास है। सामन्ती युग में भीषण युद्धों और प्रेम से आपूरित गढ़कुण्डार में वीरता का अद्भुत प्रदर्शन, प्रेम की सुन्दर झलक एवं पारस्परिक जाति-दर्प देखते बनता है। चौदहवीं शती में क्षत्रियों में परस्पर ठन गई। एक ओर खंगार थे और दूसरी ओर बुन्देले। घटनाओं की योजना और दृश्य विधान प्रशंसनीय हैं। मानवती, अग्निदत्त, तारा, दिवाकर और नागदेव- हेमवती जैसे तीन प्रेमी युग्मों की अवतारणा से कथावस्तु को आद्यान्त सरस बनाये रखने में सफल रहे हैं। चरित्र और देशकाल चित्रण में कहीं भी शिथिलता नहीं आयी है। भाषा-शैली और संवाद सर्वत्र विषय और पात्रानुकूल रहे हैं। समग्रतः यह उपन्यास सामन्तीय युग की प्रवृत्तियों का सजीव चित्र उपस्थित करता है। रोमांस और इतिहास का सम्मिश्रण इसकी अतिरिक्त विशेषता है।

(2) विराटा की पद्मिनी —

प्रस्तुत उपन्यास को ऐतिहासिक उपन्यास की अपेक्षा विशुद्ध रोमांस कहना अधिक न्यायसंगत होगा। इसमें वर्णित सभी घटनाएँ काल्पनिक जनश्रुतियों एवं किम्बदन्तियों पर आधारित हैं। हाँ, उन्हें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में वर्णित अवश्य किया गया है। इसमें लेखक ने इतिहास के उस युग का वर्णन किया है, जब भारतवर्ष की राजनीति में भीषण अस्थिरता और अस्तव्यस्तता के बादल मंडरा रहे थे। 'फर्रुखसियर' जैसे निर्बल बादशाह का शासन काल था। शासन की बागडोर वस्तुतः सैयद बन्धुओं के हाथ में थी। इसीलिए सर्वत्र अशान्ति

व्याप्त थी। पूरी कथा नायिका 'कुमुद' के इर्द-गिर्द घूमती है। कुमुद पालर में एक दाँगी के घर जन्मी। लोगों ने उसे दुर्गा का अवतार समझ लिया। 'कुमुद' और 'कुंजर' का प्रेम कथा का मुख्य आकर्षण है। दृश्य-योजना भी सफल है। कथा में गति एवं प्रवाह है।

(3) मुसाहिब जू —

इसमें इतिहास के उस युग का चित्रण है, जब अँग्रेज भारत में अपने पैर जमाने में प्रयत्नशील थे और वे देशी राजाओं और नवाबों को संधियों के बन्धन में बाँधकर उन्हें निष्क्रिय कर रहे थे। कथा का सम्बन्ध 'दतिया' राज्य की एक जागीर 'केरूआ' के मुसाहिब 'दलीपसिंह' से सम्बन्धित है। वस्तुतः यह उपन्यास उद्‌देश्यप्रधान है। जिसमें प्रदर्शित किया गया है कि दरिद्रता में पिसते हुए सामन्त और मुसाहिब भी अपने जातीय-गौरव के प्रति पर्याप्त सजग थे।

(4) झाँसी की रानी —

'झाँसी की रानी' वर्मा जी का सुप्रसिद्‌ध ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें उनका इतिहासकार उपन्यासकार की अपेक्षा अधिक प्रबल हो उठा है। प्रत्येक पात्र, घटना और स्थान इतिहास सम्मत हैं। फलतः कहीं-कहीं नीरसता भी प्रविष्ट कर गयी है। इसमें भारतीय आदर्शों से संवलित एक वीर नारी का सजीव चित्रण उपस्थित है। कथानक-निर्वाह में लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है। कल्पना के क्षणों में भी वे इतिहास को नहीं भूले हैं। तथापि कथावस्तु का आकर्षण कहीं भी कम नहीं होने पाया। भारतीय स्वाधीनता संग्राम की जीवंत झाँकी प्रस्तुत है और लेखक ने यह सिद्‌ध कर दिया है कि भारतीय-नारी केवल श्रृंगार और वासना की पुतली नहीं, अपितु वह हाथ में तलवार पकड़ना भी जानती है और उसके हृदय में धधकती ज्वाला से बड़े-बड़े साम्राज्य धूल धूसरित हो जाते हैं। अँग्रेज-साम्राज्यवादियों की एक बार तो आँखें चौंधिया गयीं थीं। लक्ष्मीबाई का चरित्र पर्याप्त सजीव है। रोमांस और इतिहास का समन्वय कथा को सरस बनाये रखने में समर्थ रहा है। वर्मा जी ने अपने इस कथन —" मैंने निश्चय किया था कि उपन्यास लिखूँगा ऐसा जो इतिहास के रंग-रेशे से सम्मत हो और उसके संदर्भ में ही।" को पूर्ण सत्य कर दिखाया।

(5) कचनार

कचनार में दक्षिणी बुन्देलखण्ड की उपत्यका की [illegible] 'गौड़ गोसाईं' जातियों की ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन किया गया है। इसकी कथावस्तु में ऐतिहासिक-

तथ्यों के साथ कल्पना का मणिकांचन संयोग देखते ही बनता है। कचनार चरित्र प्रधान-उपन्यास है। इसमें मुख्य कथा कचनार और दिलीपसिंह की है। प्रासंगिक कथाओं में कलावती और मानसिंह तथा 'डरू और 'मन्ना' की कथा ले सकते हैं। इस उपन्यास में तत्कालीन राजाओं , राज्य लिप्साओं भोगवादी प्रवृत्तियों का चित्रण अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। कथानक आद्यन्त कलात्मक एवं रोचक है।

(6) माधव जी सिंधिया ——

'माधव जी सिंधिया' की कथा उस युग की है, जिसके लिए कहा जाता है कि मराठे और जाट हल की नोक से, सिक्ख तलवार की धार से और दिल्ली के सरदार मदिरा की छलक से इतिहास लिख रहे थे। क्लाइव के विचित्र रूपों के समन्वय-व्यवसाय, सिपाहीगीरी, भेड़ की खाल उधेड़ने वाली राजनीतिज्ञता, बेइमानी, क्रूरता, धूर्तता, और जबकि 'उत्तर भारत के लगभग सभी खण्ड परदेशी जागीरदारों के हाथ मे चले गये। ऐसी कठिन परिस्थितियों में भी माधव जी सरीखे नायक का ही काम था कि केन्द्र को प्रबल बनाये रखने के साथ ही उन्होंने प्रदेशों को भी आत्मनिर्भर बने रहने में सहयोग दिया और हिन्दू मुसलमानों में एकता की भावना समृद्ध करने के प्रयत्न किए। साथ ही उन परदेशी जागीरदारों और जमीदारों को उखाड़ कर जनता के विकास का मार्ग विस्तृत किया। (माधव जी सिंधिया) पृष्ठ 4, 6) इसमें तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय परिस्थितियों का सुन्दर चित्र खींचने का सफल प्रयास वर्मा जी ने किया है। प्रस्तुत उपन्यास 'माधव जी सिंधिया' का जीवन चरित्र न होकर वरन् उसमें इतिहास को कल्पना के रंग में रंगकर प्रस्तुत किया गया है।

(7) टूटे काँटे ——

'टूटे काँटे' का कथानक 18 वीं शताब्दी से सम्बन्धित है। यह वह समय था, जब देश में अंग्रेजों और पुर्तगालियों के रक्त-रंजित पंजे गड़ चुके थे। दिल्ली में मुहम्मदशाह रंगीले का राज्य था, जिसे सुरा और सुन्दरी से ही अवकाश नहीं मिलता था। फलतः सर्वत्र अस्त-व्यस्तता छाई हुई थी। निरीह व्यक्तियों की हत्या, लूटपाट और अत्याचार के दृश्यों से उपन्यास भरा पड़ा है। जन-जीवन संत्रस्त, बेचैन, लूटमार-धाड़, हत्या से परेशान था और राजमहलों में रंगरेलियाँ मनाने में धन पानी की तरह बहाया जा रहा था। कथानक की ऐतिहासिकता आद्यन्त संरक्षित रही है। 'नूरबाई' और 'मोहन' का प्रसंग यद्यपि कल्पना पर आधारित है, तथापि वर्मा जी के पास उसका भी ऐतिहासिक आधार है। तत्कालीन शक्ति-

आन्दोलन के प्रति झुकाव का दिग्दर्शन नूरबाई के मथुरावृन्दावन जाने से प्रकट है। भक्तिभावना से जनता अनुप्राणित थी और इससे वह परम सन्तुष्ट थी।

(8) मृगनयनी —

मृगनयनी की कथा 15वीं शताब्दी के अन्त से सम्बन्धित है । जब सिकन्दर-लोदी दिल्ली का सुल्तान था। इसमें ऐतिहासिक वातावरण के साथ-साथ मूल घटनायें और पात्र भी ऐतिहासिक हैं। अटल, लाखी, बोधन ब्राह्मण, विजय जंगम ~~भी~~ पूर्ण ऐतिहासिक-पात्र हैं। ग्वालियर के शासक मानसिंह तोमर के समय में देश पूर्णतया अराजकता, संघर्ष, तथा विलासिता के पंकमें आकण्ठ निमग्न था, उस काल में गुजरात, मालवा, राजस्थान, बिहार, बंगालमेंचोरी और मारकाट, स्त्रियों का अपहरण जैसी जघन्य स्थिति थी। ऐसी संकटकालीन स्थिति में भी मानसिंह सिकन्दर के आक्रमणों से अपनी रक्षा करने में समर्थ रहा है। मृगनयनी और लाखी जैसी वीर और साहसी नारियों के क्रिया कलापों से यह उपन्यास भरा पड़ा है।

(9) भुवन विक्रम —

उत्तर वैदिककालीन उपन्यास है। इसका कथानक कल्पना और ऐतिहासिक-अन्वेषण के रंगीन और सप्राण चित्रों से अनुप्रेरित है। इसमें वैदिक कालीन समय, अनु-शासन, संघर्ष, आचार-विचार, सभ्यता, संस्कृति की सुदृढ़ संयोजना की गई है। भुवन-के धर्म और शक्ति के समुचित सेवा स्वरूप, विक्रम के सुन्दर विजय स्वरूप उपन्यास का शीर्षक सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है। डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' के शब्दों में — "उपन्यास में आधुनिक युग की छाप अधिक है। वस्तुतः इसे लिखा ही इसीलिए गया है। साम्यवाद का रूप क्यों हो, यह उसका प्रतिपाद्य है। प्रजा के लिए राजा का आदर्श, विदेशी शक्तियों का जनता का भड़काना, जमींदार और पुरोहित वर्ग का उनके साथ मिल-कर देशद्रोह जहाँअयोध्या की कथा का लक्ष्य है, वहाँ धौम्य ऋषि का आश्रम प्राचीन गुरूकुलों का रूप स्पष्ट करता है।" समग्रतः कहें, तो कह सकते हैं कि इतिहास और कल्पना के आधार पर तत्कालीन युग की सामाजिक राजनीतिक एवं आर्थिक मनोवृत्तियों को इस उप-न्यास में सफलतापूर्वक उद्घाटित किया गया है।

(10) अहिल्या बाई —

इतिहास प्रसिद्ध सूबेदार, मल्हारराव होल्करके पुत्र खण्डेराव की पत्नी की कथा है। वह एक आदर्श, वीर, कर्तव्यनिष्ठ, विवेकशील हिन्दू नारी के रूप में चित्रित

है। कथानक आद्यन्त ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। 'मल्हारराव' और अहिल्याबाई का चरित्र उत्कृष्टता की सीमा को संस्पर्श करने में सक्षम है। अन्य पात्रों में तुको जी, काशिराव, रूक्माबाई, खण्डेराव प्रभृति का ऐतिहासिक महत्व सर्वत्र संरक्षित रहा है। परिचय के अन्तर्गत स्वयं वर्मा जी ने लिखा है —"उपन्यास में जिन स्थानों का वर्णन किया गया है वे आज भी हैं। अनेक घटनाएँ ऐतिहासिक हैं और कुछ काल्पनिक हैं। 'सिन्दूरी,' 'आनन्दी' और 'भोपत' के नाम भर बदल दिये गये हैं, वैसे वास्तविक है। चरित्र ऐतिहासिक हैं और नाम भी उनके वही हैं।

(11) रामगढ़ की रानी —

इसमें रामगढ़ की रानी अवन्तीबाई की कथा बड़े ओजपूर्ण ढंग से कही गयी है। उनका व्रत था कि लड़ते-लड़ते मर भले ही जाँऊ, परन्तु परदेशियों के भार से दबूँगी नहीं। और जीते जी अपने शरीर को फिरंगियों के हाथ नहीं लगने दूँगी।' अन्ततः वह सन् 1857 ई0 की क्रान्ति में फिरंगियों से साहसपूर्वक लड़ते - लड़ते वीरगति को प्राप्त होती हैं। इसमें कल्पना एवं इतिहास के योग से यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत किया गया है। तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ पूरे मनोयोग से वर्णित हैं। इसके सभी पात्र और घटनाएँ ऐतिहासिक हैं। इसके लिए जनश्रुतियों और परम्पराओं का भी सहारा लिया गया है।

(12) महारानी दुर्गावती —

इस उपन्यास की मुख्य कथा कालिंजर के शासक कीर्तिसिंह की पुत्री दुर्गावती तथा गढ़ कटंगा के शासक दलपतशाह के प्यार एवं उसके विकास से सम्बन्धित हैं। कथानक सुसंगठित और कलात्मक है। प्रसंगिक कथाओं में 'रामचेरी' और 'मोहनदास' की कथा महत्वपूर्ण है । घटनाएँ और पात्र इतिहास-सम्मत हैं।

सामाजिक उपन्यास —

वर्मा जी ने अतीत के साथ ही वर्तमान को भी लेखनी का विषय बनाया है। सामाजिक उपन्यासों में भी वे बुन्देलखण्ड की धरती का मोह नहीं छोड़ सके हैं। वर्मा जी ने सामाजिक उपन्यास कम नहीं लिखे हैं, लेकिन फिर भी सामाजिक उपन्यासकार के रूप में उनका विशेष महत्व हिन्दी उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र में स्थापित नहीं हो पाया। समाज

के विविध पहलुओं पर इन उपन्यासों में स्पष्ट संकेत मिलता है। उनके आद्यन्त प्रकाशित सामाजिक उपन्यास हैं —

(1) लगन (1927)

(2) संगम (1927)

(3) प्रत्यागत (1927)

(4) प्रेम की भेंट (1928)

(5) कुण्डलीचक्र (1928)

(6) कभी न कभी (१९४२-४३)

(7) अचल मेरा कोई (1948)

(8) सोना (1958)

(9) अमरवेल (1953)

(10) उदय किरण ([illegible])

<u>(1) लगन</u> —

'लगन' में बुन्देलखण्ड के दो सम्पन्न किसान परिवारों के पारस्परिक दर्प और अभिमान एवं तज्जनित प्रतिक्रियाओं और उनका परिणाम कुशलतापूर्वक चित्रित है। 'देवीसिंह' और 'रामा' का चरित्र विशेष उल्लेखनीय है। इसमें दहेज की समस्या भी उठायी गयी है। इसमें भाषा, कथोपकथन आदि भी कथा, पात्रों की प्रवृत्तियों और वातावरण के अनुकूल है।

<u>(2) संगम</u> —

'संगम' में ऊँच-नीच की भावना सप्राण हो उठी है। इसमें प्रस्तुत समस्याओं के चित्रण में लेखक का प्रगतिशील रूप निश्चय ही प्रशंसनीय है। समाज की सड़ी-गली मान्यताओं और उसकी कुरीतियों का चित्रण किया गया है। जाति-पाँति के थोथे बन्धनों के बाहर मानवीय सम्बन्धों को दिखाया गया है।

<u>(3) प्रत्यागत</u> —

'प्रत्यागत' शीर्षक उपन्यास में भी ऊँच-नीच की भावना को दर्शाया गया है।

(4) प्रेम की भेंट —

'प्रेम की भेंट' में प्रेम का त्रिकोण 'धीरज', 'सरस्वती' और 'नन्दन' के बीच बनता है। यहाँ भी एक लड़की और उसके चाहने वाले दो हैं। प्रेम की खींचातानी में उपन्यास का कथानक विकास करता है। उपन्यास का कथानक गाँव की अकालग्रस्त स्थिति से आरम्भ होता है, लेकिन अकाल-पीड़ित 'धीरज' रोटी की बात भूल कर प्रेम के चक्कर में पड़ जाता है। इस उपन्यास के त्रिकोणी संघर्ष को एक दूसरा स्त्री-पात्र 'उजियारी' अपने संघर्ष से और भी जटिल और तीव्र बना देती है। इससे उपन्यास में अधिक सरसता, रोचकता और जिज्ञासा का तत्व तो आ गया है, पर बात वहीं की वहीं रहती है। प्रेम ही जीवन का एक मात्र संघर्ष है। प्रेम की तीव्रता, ईर्ष्या और घुटन की अनुभूति बड़ी मार्मिकता के साथ चित्रित है। उपन्यास की परिसमाप्ति दुखान्त है।

(5) कुण्डली चक्र —

'कुण्डलीचक्र' का कथानक वर्ग-संघर्ष पर आधारित है। 'रतन' और 'पूना' दो लड़कियाँ हैं और पुरुष हैं – अजीत, भुजबल और ललित। यह संघर्ष अजीत के भुजबल और रतन के त्रिकोण में समाप्त होता है। पूना, भुजबल, अजीत और ललित के चतुष्कोण में। पूना से भुजबल भी शादी करना चाहता है और ललित भी राजी है। यद्यपि पहले इन्कार कर देता है और अजीत की ओर पूना आकर्षित है। अन्त में पूना और अजीत का विवाह हो जाता है। केवल यही प्रेम संघर्ष उपन्यास की सारी कथा पर छाया हुआ है और अपने पात्रों को जीवन की अन्य समस्याओं और परिस्थितियों पर सोचने ही नहीं देता।

(6) कभी न कभी —

'कभी न कभी' का संबंध श्रमिक वर्ग से है। इसमें श्रमिक और पूँजीपति के संघर्ष को बड़े मनोयोग से उभारा गया है। इस उपन्यास में 'लछमन' और 'देवजू' दोनों एक दूसरे का विवाह एक लड़की जिसका नाम है – 'लीला', से कराना चाहते हैं। प्रेम को लेकर परस्पर ईर्ष्या-द्वेष और प्रतिस्पर्धा जैसे दोष मध्यवर्ग के जीवन में ही सम्भव है, मजदूर वर्ग में नहीं। लेखक ने मजदूर वर्ग के जीवन का उत्कर्ष दिखाने के लिए सम्भवतः प्रेम के संघर्ष को परस्पर स्पर्धा के रूप में दिखाया है। तभी 'लछमन' और 'देवजू' 'लीला' से एक दूसरे का विवाह कराना चाहते हैं। अन्त में परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से लछमन का विवाह 'लीला' के साथ हो जाता है। मजदूर जीवन के अन्य संघर्षों तथा उनकी

नैतिकता का कोई महत्वपूर्ण दिग्दर्शन नहीं हो पाया।

(7) अचल मेरा कोई —

'अचल मेरा कोई' समस्याप्रधान उपन्यास का मूल्य उसमें अभिव्यक्त लेखक के राजनैतिक, सामाजिक और कलात्मक विचारों से है। पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित स्त्रीपक्षों के पारस्परिक जीवन से सम्बद्ध इस उपन्यास में उसका समाधान भी इंगित है। इस उपन्यास में प्रेम का त्रिकोण 'अचल,' 'सुधाकर' और 'कुन्ती' के बीच बनता है, और जीवन का सारा संघर्ष इस केन्द्र के चारों ओर चलता है। ऐसा जैसे यही समस्या जीवन की एक मात्र समस्या हो। अचल और सुधाकर जो आरम्भ में गाँधी जी के अहिंसात्मक आन्दोलन में भाग लेकर जेल जाते हैं और जेल से आकर जनता के सम्मान और श्रद्धा के पात्र बनते हैं, लगता है कि उन 'अचल' और 'सुधाकर' की मृत्यु हो गयी, जीवित रह गये प्रेमी और प्रेम को लेकर आपस में लड़ने झगड़ने वाले अचल और सुधाकर। कैसा महान उत्कर्ष दिखाया गया है, लेखक द्वारा अपने प्रमुख पात्रों का। घोर पतन, दोनों का जेल जाना ऐसा लगता है मानो लेखक 'कुन्ती' का उनकी ओर आकर्षित होने का एक स्वाभाविक आधार प्रस्तुत करना चाहता हो। कितना सस्ता आधार है।

साम्प्रदायिक दंगे जैसी अन्य वर्तमान समस्याओं को भी लेखक ने छुआ है, पर रस्मी तौर पर। उनके प्रति लेखक लगाव नहीं रखता। तो फिर उसके पात्रों का ही कैसे उसमें मन रमे। उनका चित्रण होता है और उपन्यास की मूल धारा के बिना प्रभावित किये समाप्त हो जाता है।

(8) सोना —

बुन्देलखण्डी लोककथा पर आधारित यह उपन्यास वर्मा जी की कलाप्रियता का पुष्ट प्रमाण है। इसमें जहाँ एक ओर राजाओं की मूर्खता और कामुकता का चित्र है, वहीं दूसरी ओर श्रम की प्रतिष्ठा व्यंजित है। किसान और श्रमिक जीवन इस उपन्यास की पृष्ठभूमि में है। इसमें दो बहनों की कहानी है — 'सोना' धनी पति से व्याही जाती है और 'रूपा' निर्धन के साथ। रूपा भी धनी होना चाहती है और अपने पति से लक्ष्मी पूजन का आग्रह करती है। लक्ष्मी पूजन के लिए घर का आँगन खोदने पर अपार धन की प्राप्ति होती है, पर धन टिकता नहीं। पानी की तरह बह जाता है। रूपा फिर निर्धन हो जाती है। तब उसे स्वप्न आता है, वह देखती है कि वह आँगन में गड्ढे के पास

खड़ी है, उसके पास एक दीपक जल रहा है। वह दीपक उससे कहता है —"साँप समय और जीवन का चिह्न है। अनन्त का रूप है। वह दिखाई नहीं पड़ता, पर है हर जगह। गरीब काम करते हैं और उन्हें भर पेट खाना नहीं मिलता। तुम लोग कोई काम नहीं करते, धन सम्पत्ति का नाश करते चले जाते हो, मेहनत , सच्चाई और कला की उपासना से ही जीवन को सच्चा बड़प्पन मिलता है, उस तरह के जीवन से नहीं, जिसमें तुम सिर के बल दौड़े जा रहे हो। तुम अगर किसी मंदिर के बनाने के काम पर तसले से जरा चूना ढोने की मजदूरी करो तो तुमको जीवन की कदर मालुम हो और तभी यह जान पड़े – कि मजदूरी का तसला ज्यादा आराम देता है या फूलों की सेज। करके देखो, कितना सुख मिलता है। एक पखवारे करके देख लो। यदि नहीं करते हो तो सत्यानाश हो जावेगा, समय और जीवन का साँप डसेगा और तुम्हारा चौपट कर देगा। सावधान।" इस प्रकार इस उपन्यास में श्रम से धनोपार्जन के महत्व का प्रतिपादन किया गया है।

(9) अमरबेल —

'अमरबेल' में समाज के व्याप्त भ्रष्टाचार और अनाचार का दिग्दर्शन कराया गया है। इस उपन्यास का परिचय देते हुए वर्मा जी ने स्वयं लिखा है ——

"अमरबेल का परिचय तो कुछ उन पेड़ों पर लिखा रहता है जिस पर छाई रहकर यह पेड़ के रस, टहनी और हरियाली को नष्ट करती रहती है और कुछ उस कहावत में व्यक्त है जो लगभग सब कहीं प्रचलित है ' आँखों के अन्धे नाम नयन सुख।' बाकी परिचय हमारे मन को ग्रसे हुए अन्धाग्रह, दुराग्रह और पूर्वाग्रह दे सकते हैं।—यदि उन्हें हम देख पावें तो ...... अनीति से रूपया कमाने की धुन गाँवों में व्यापक रूप से फैली हुई है। सहकारी खेती, किसानी आदि सबमें। समाज में यह घुन की तरह लगी हुई है, जैसे हरे भरे पेड़ में अमर बेल। ईमानदारी का श्रम किये बिना दुस्साहसपूर्ण प्रयत्नों से लखपती बन जाने की प्रवृत्ति थोड़े से असाधारण मनुष्यों तक सीमित नहीं है जो नगरों में रहते हैं। अफीम के अवैध रोजगार के समाचार और मुकदमें बहुधा पत्रों में छपते रहते हैं। इनके नायक उसी प्रवृत्ति के जन्तु हैं, जो गाँवों में भी पाये जाते हैं।"

(10) उदय-किरण —

यद्यपि उपन्यास का नामकरण उदय और किरण नाम के दो पात्रों के ऊपर किया गया है। उदय और किरण दोनों मिलकर गाँवों की प्रगति करना चाहते हैं, गाँवों का चौमुखी विकास करना चाहते हैं। चाहे कोई आज के समय के सहकारी खेती,

सहकारी उद्योग-धन्धों आदि के प्रयासों को असामयिक अनुपयुक्त और अनुचित ही क्यों न कहें, परन्तु वह घड़ी जल्दी आने वाली है, जब भ्रम और शंका के अंधेरे को दूर करने वाली किरण उदय अवश्य होगी। सहकारी समितियों का गाँवों में क्या रूप है और उनसे गाँवों की स्थिति में क्या नए परिवर्तन उपस्थित हो रहे हैं, आदि स्वतंत्र भारत की नवीन-परिस्थितियों का अत्यन्त ही सजग दृष्टि से वर्मा जी ने इस उपन्यास में दिग्दर्शन कराया है।

इस प्रकार संक्षिप्त रूप में हम कह सकते हैं कि वर्मा जी के सामाजिक उपन्यासों में एक तो वे जिनमें प्रेम का त्रिकोणीय संघर्ष दिखाया गया है, उन उपन्यासों में रूमानी रोचकता के अतिरिक्त जीवन के लिए कोई महत्वपूर्ण सन्देश नहीं है। दूसरे वे उपन्यास जिनमें जीवन की समस्याओं को लिया गया है। प्रेमचन्द ने भी ग्रामीण-समाज तथा शहरी-जीवन की अनेकमुखी समस्याओं का चित्रण किया है, पर उस चित्रण की गहराई, मार्मिकता, व्यापकता और स्वाभाविकता को वर्मा जी के उपन्यास नहीं प्राप्त कर पाये हैं। अतः वर्मा जी के सामाजिक उपन्यासों में सभी वर्गों के चित्र मिलते हैं। हाँ जिन समस्याओं को उन्होंने उठाया है, उनका समाधान प्रस्तुत करके उन्होंने अप्रतिम साहस का परिचय दिया है। यह उनकी पृथक् विशिष्टता है।

द्‌वितीय अध्याय

आंचलिकता का तात्पर्य एवम्‌ उसकी उपादेयता

द्वितीय अध्याय

आंचलिकता का तात्पर्य एवं उसकी उपादेयता

वर्तमान युग गद्यविधाओं का पोषक होने के कारण गद्यकार कहलाता है। इसी युग में गद्य का सर्वांगीण विकास हुआ है। एक समय था जब कि महाकाव्य लोकप्रिय थे, किन्तु आधुनिक युग में उपन्यास ने महाकाव्य का स्थान ले लिया है। अतः हम उपन्यास को गद्यात्मक महाकाव्य भी कह सकते हैं, क्योंकि वह जीवन की विशद-व्याख्या करता है। इतना ही नहीं, उसमें काव्यात्मकता भी होती है। पद्य की भाँति उसमें भी भावतत्व, कल्पनातत्व, बुद्धितत्व और शैली तत्व सन्निहित रहते हैं। जन-जीवन के अधिक समीप होने के कारण उपन्यास-विधा अत्यन्त लोकप्रिय हो गयी है। उसका क्षेत्र विशाल है, वह मानव-जीवन के ~~लिए~~ चित्रण के लिए अधिक उपयुक्त है। उपन्यास में मुक्तक काव्य का उक्तिवैचित्र्य, गीतकाव्य की प्रवाहात्मकता, दुखान्त नाटकों का चिरन्तन करुण संघर्ष और गीतिकाव्यों का भावात्मक सत्य, ये सभी तत्व समन्वित रहते हैं। उसमें काव्य की भाँति सत्यं, शिवम्, सुन्दरम्' अपने व्यापक रूप में रहते हैं।

इस प्रकार उपन्यासकार समाज का चित्रक ही नहीं है, अपितु उसका पथप्रदर्शक भी है। मनुष्य अपने समस्त आयामों और समग्र परिवेश के साथ उपन्यास में अवतरित हो सकता है। उसके समस्त उलझे हुए सूत्र, फैले हुए सीमान्त और गहराई के आयाम यहाँ सफलतापूर्वक चित्रित कर दिये जाते हैं। यही कारण है कि उपन्यास सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द ने उपन्यास को मानव-जीवन का चित्र कहा था। दिग्भ्रान्त, विश्रान्त और अशान्त राष्ट्र का उपचार करने में उपन्यास योग्यतम डाक्टर का कार्य करता है। वह पाठक को सत्य एवं शुद्ध दृष्टि प्रदान करता है। अपने लचीले स्वरूप और विस्तृत चित्रफलक के कारण वह किसी भी युग की प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व कर सकता है। उसमें एक व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन भी आ सकता है और कुछ घंटों की कहानी भी। पूरा समाज भी उसकी परिधि में आ सकता है और कथा का नितान्त-अभाव भी उसमें हो सकता है। परिस्थिति की रंगभूमि, कथोपकथन, पात्र और कथानक सबके सुन्दर सम्मिलन से उपन्यास एक ही समय में नाटक और कथा दोनों का आनन्द

एक साथ प्रदान करता है। वास्तव में उपन्यास एक सागर है, उसमें यदि रम्भा जैसी नायिकाओं का वर्णन है, तो ऐरावत के समान अद्भुत प्राणि-वर्ग भी हैं। वहाँ अमृत के समान मधुर भाव एवं सद्विचार हैं, तो विष के समान सन्ताप-दायक नग्न श्रृंगार और अश्लील-प्रसंग भी।

तात्पर्य यह है कि उपन्यास की लोकप्रियता प्रभावशीलता, उपादेयता विस्तृत चित्रणफलक और प्रतिनिधित्व शक्ति के कारण उसका बड़ा महत्व है। यद्यपि उपन्यास में नाटक जैसी प्रत्यक्षानुभूति प्राप्त नहीं हो सकती, फिर भी उसने नाटक को अपदस्थ कर स्वयं को साहित्य के मूर्धन्य सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर लिया है।

उपन्यास' जीवन या उसके किन्हीं पक्षों का संश्लिष्ट एवं भावमय चित्र है। जीवन का यह चित्र जितना सजीव, संश्लिष्ट, यथार्थ एवं सहज होता है, वह उतना ही सुन्दर उपन्यास कहा जाता है। प्रारम्भ में उपन्यास लेखकों की प्रवृत्ति उपन्यास में काव्य और नाटक के समान एक से अधिक अंचलों के कथासूत्रों को एक विस्तृत कथा में गूँथने की ही थी। विविध अंचलों, विविध वातावरणों, विविध चरित्रों एवं विविध भाषाओं और बोलियों के प्रयोग में ही प्रारम्भिक उपन्यासकार अपने उपन्यास की सफलता समझा करते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस प्रकार के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिए बहुत अधिक अवसर मिलते थे। धीरे-धीरे उपन्यासकारों का मन कोरे मनोवैज्ञानिक वर्णनों से ऊबकर नए प्रयोगों के लिए लालायित हो उठा। आंचलिक उपन्यास इन्हीं नए प्रयोगों में से एक रंजक प्रयोग है। सारिका (अक्तूबर-1961) के अंक में डा0 राजेन्द्र अवस्थी ने आंचलिक उपन्यास के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है ——

"जिस कथाकृति में किसी विशिष्ट जनपद या क्षेत्र के जन-जीवन का समग्र चित्रण हो, जिसमें वहाँ की भाषा, वेशभूषा, धर्म, जीवन, समाज, संस्कृति, तथा आर्थिक तथा राजनीतिक जागरण के प्रश्न एक साथ उभर कर आयें, वह आंचलिक-कथा-साहित्य होगा।"[1] डा0 गोविन्द त्रिगुणायत ने आंचलिक उपन्यास का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया है ——

1- सारिका, अंक अक्टूबर, 1961, राजेन्द्र कुमार अवस्थी।

"आँचलिक उपन्यास उन उपन्यासों को कहते हैं, जिनमें क्षेत्र विशेष के जन-जीवन का समूचा चित्र प्रस्तुत किया जाता है। उसमें क्षेत्र विशेष के मानवों की सम्पूर्ण सांस्कृतिक विशेषताएँ उभारना ही इस कोटि के उपन्यासकार का लक्ष्य होता है। वहाँ के लोगों की क्या वेशभूषा है, वे किस प्रकार जीवन यापन करते हैं, उनकी आर्थिक-अवस्था कैसी है, उनके जाति और वर्गगत भेद भावों का क्या रूप है, उनके धार्मिक एवं सामाजिक विश्वास कैसे हैं, उनका चरित्र स्तर किस अवस्था में है, विवाह, मृत्यु आदि जीवन के विविध स्वरूपों और संस्कारों के प्रति उनकी क्या धारणाएँ हैं, उनके मनोरंजन के स्वरूप क्या हैं, उनकी अपनी सामाजिक समस्याएँ कौन सी हैं, उनकी राजनीतिक जाग्रति का क्या रूप है, शिक्षा-दीक्षा का कैसा ढंग है, उनका खान-पान रहन-सहन कैसा है, आदि अनेक विषयों का सांग और संश्लिष्ट चित्र अभिव्यक्त करना ही इस कोटि के उपन्यासों का लक्ष्य होता है।"

'आंचलिक' शब्द अंचल से बना है। 'अंचल' शब्द का अर्थ है, कोई स्थान विशेष, अर्थात् भौगोलिक सीमाओं से घिरा हुआ कोई जनपद या क्षेत्र। अतः आंचलिक का अर्थ हुआ किसी जनपद या क्षेत्र विशेष से सम्बन्धित। इस अर्थ के अनुसार 'आंचलिक उपन्यास' उन उपन्यासों को कहा जाता है जो किसी एक जनपद या क्षेत्र विशेष से ही संबंधित होते हैं।[1] यह साधारण अर्थ है, परन्तु विशिष्ट अर्थ के रूप में आंचलिक उपन्यास उन्हें कहा जाता है जिनमें किसी स्थान विशेष का सम्पूर्ण जन-जीवन अपनी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ प्रतिबिम्बित हो उठता है।

इस 'आंचलिक' शब्द की उत्पत्ति अंग्रेजी के 'लोकल कलर' या Regional टच' जैसे शब्दों से हुई है। इनका अर्थ है क्षेत्रीय या स्थानीय रंग। अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार टामस हार्डी ने कई ऐसे उपन्यास लिखे थे जो 'Wessex Novels' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन उपन्यासों की यह विशेषता थी कि इनमें किसी क्षेत्र विशेष के जन-जीवन को उसकी समग्र विशेषताओं के साथ चित्रित किया गया था। इसी विशेषता को आलोचकों ने स्थानीय रंग कहा है। परन्तु इसमें लेखक पूरी तरह से उस स्थान-विशेष के चित्रण से ही बँधकर नहीं रह जाता था। इसी कारण 'हार्डी' के इन उपन्यासों को 'आंचलिक उपन्यास' न कहकर 'स्थानीय रंग प्रधान' अर्थात् 'आंचलिकता प्रधान'

1- वर्मा जी के उपन्यासों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० , डा०कृष्णा अवस्थी।

उपन्यास ही कहा गया था। इस दृष्टि से आंचलिक उपन्यास को हिन्दी कथा साहित्य की एक मौलिक और नवीन उपलब्धि माना जा सकता है।

आंचलिकता-प्रधान या स्थानीय-रंग-प्रधान-उपन्यास उन्हें कहा जाता है, जिनमें किसी अंचल विशेष के जन जीवन के समग्र बिम्बात्मक चित्रण पर विशेष बल दिया जाता है। परन्तु इनमें लेखक का सारा ध्यान केवल उसी चित्रण पर ही केन्द्रित नही रहता । हिन्दी में 'आंचलिक-उपन्यास' शब्द आजकल जिस अर्थ की ध्वनि दे रहा है उसके अनुसार आंचलिक उपन्यास केवल उन्हीं उपन्यासों को माना जा सकता है, जिनका लेखक यह प्रतिज्ञा सी करके बैठता है कि वह केवल उसी से सम्बद्ध क्षेत्र का ही समग्र वर्णन करेगा, जिसे उसने अपना प्रधान केन्द्र बिन्दु माना लिया है। इन उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनसे सम्बन्धित क्षेत्र विशेष ही प्रधान पात्र बन जाता है। उसके सम्मुख कथा, पात्र और उद्देश्य गौण हो उठते हैं। लेखक बार-बार उसी से सम्बद्ध क्षेत्र को विभिन्न कोणों तथा सामाजिक परिवेशों के साथ उभारने का प्रयत्न करता रहता है, और ऐसा करते समय उसकी प्रधान सहायिका होती है — उस क्षेत्र की विशेष की स्थानीय भाषा। परन्तु आंचलिक उपन्यास का यह मानदण्ड गलत और सीमित दृष्टिकोण की संकीर्णता से आक्रान्त है।

हिन्दी साहित्य-कोश में आंचलिक उपन्यास को सामाजिक उपन्यास का ही एक प्रकार माना गया है। डा० देवराज उपाध्याय ने आंचलिक उपन्यास का परिचय देते हुए लिखा है —

"कुछ उपन्यासों में किसी प्रदेश विशेष का यथातथ्य और बिम्बात्मक चित्रण प्रधानता प्राप्त कर लेता है, और उन्हें प्रादेशिक या आंचलिक उपन्यास कहा जाता है। परन्तु ये उपन्यास भी सामाजिक या ऐतिहासिक ही होते हैं और चारित्रिक के अन्तर्गत आते हैं, क्योंकि पात्रों के चरित्र-चित्रण को यथार्थता प्रदान करने के लिए ही उनकी वाह्य-परिस्थिति को जीवन्त-रूप में चित्रित किया जाता है।"

'अंचल' या जनपद की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेई के अनुसार —

अपरिचित भूमियों और अज्ञात जातियों के जीवन का वैविध्यपूर्ण चित्रण जिन कथाकृतियों में हो, उन्हें ही आंचलिक कहा जाना चाहिए।" कुछ दूसरे विद्वानों

के अनुसार 'अंचल' का अर्थ किसी सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। डा0 राजेन्द्र अवस्थी ने सारिका के 1971 के अंक में लिखा है —

"अंचल एक देहात भी हो सकता है, एक भारी शहर भी। शहर का एक मुहल्ला भी और इन सबसे दूर सघन वन की उपत्यकाएँ भी।"1

आंचलिकता का आग्रह तो सजीव परिवेश के चित्रण में ही रहता है। वह गाँव और शहर का भेद नहीं करता। इस प्रकार स्पष्ट है कि आंचलिक-उपन्यास का प्रमुख उद्देश्य किसी अंचल विशेष के परिवेश को अपनी समग्रता और सजीवता में चित्रित करना होता है।

डाक्टर 'देवराज' के अनुसार आंचलिक-उपन्यास ऐतिहासिक भी हो सकते हैं, परन्तु कुछ आलोचकों का मत यह है कि ऐतिहासिक उपन्यास 'आंचलिक' हो ही नहीं सकते। इन लोगों का तर्क यह है कि ऐतिहासिक उपन्यासों में लेखक किसी अंचल-विशेष का जो चित्रण करता है — वह उसका स्वानुभूत चित्रण नहीं होता। उसका चित्रण वह इतिहास की पुस्तकों का अध्ययन कर उसी के आधार पर करता है। इसलिए उसमें वास्तविकता नहीं आ पाती। ऐसे आलोचकों के द्वारा आंचलिक उपन्यासों के लिए स्वानुभव तथा प्रत्यक्ष दर्शन को आवश्यक माना जाता है। परन्तु उनकी यह मान्यता न्यायसंगत नहीं प्रतीत होती। साहित्य की किसी भी विधा के निर्माण के लिए यह सर्वथा आवश्यक नहीं होता कि लेखक उसमें प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा प्राप्त ज्ञान का ही सहारा ले। संसार अनादि-काल से दूसरों के अनुभवों तथा ज्ञान से लाभ उठाता चला आ रहा है। यदि हमने इतिहास में किसी कालखण्ड को नहीं देखा है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि हम उसका वर्णन नहीं कर सकते। हम उस काल विशेष में रचे गये ग्रन्थों तथा उस काल पर लिखे गये अन्य ऐतिहासिक ~~स~~ ग्रन्थों तथा सामग्री का अध्ययन कर सामाजिक विकास-प्रक्रिया के अनुसार उस काल का एक सजीव सा चित्र अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा अंकित कर देने में पूर्ण समर्थ रहते हैं। किसी स्थान विशेष की भौगोलिक स्थिति तो प्रायः बहुत समय तक एक सी ही रहती है। सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थितियों का अनुमान हम वहाँ की वर्तमान स्थितियों के आधार पर लगा सकते हैं — ~~[illegible]~~ यदि हम ऐसा करते समय सामाजिक विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया को ध्यान में रखकर चलें तो ~~इसलिए~~

1- सारिका अंक 1971 राजेन्द्र अवस्थी।

किसी अंचल विशेष का इतिहास के किसी काल खण्ड के परिप्रेक्ष्य में चित्रण करते समय स्वानुभव तथा प्रत्यक्ष दर्शन की शर्त अनिवार्य नहीं मानी जा सकती। हम उसके वर्तमान रूप को देखकर अपने अध्ययन के बल पर उसके दो सौ या चार सौ वर्ष पूर्व के रूप का अनुमान पूर्ण यथार्थता के साथ लगा सकते हैं। बाबू वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने उन ऐतिहासिक उपन्यासों में, जिनमें किसी अंचल विशेष का विस्तृत और हृदय-ग्राही चित्रण हुआ है, उसी प्रक्रिया को अपनाया है। इस संबंध में दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ, विशेष रूप से उन प्रदेशों की, जो पिछड़े हुए हैं, अभी तक न्यूनाधिक वैसी ही हैं, जैसी कि दो चार सौ वर्ष पहले थीं। उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं आ पाया है। इसलिए उनका चित्रण पूर्ण सफलता के साथ किया जा सकता है। अतः यह धारणा भ्रान्त है कि ऐतिहासिक उपन्यास आंचलिक हो ही नहीं सकते। न्यूनाधिक रूप में बाबू वृन्दावन लाल वर्मा के अनेक ऐतिहासिक उपन्यासों तथा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'बाण भट्ट की आत्मकथा' को ऐतिहासिक आंचलिक उपन्यास मान लेने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए।

साधारणतः आंचलिक उपन्यास उन उपन्यासों को माना जाता है जिनमें किसी विशिष्ट प्रदेश, जनपद या अंचल विशेष का तथा उसमें रहने वाले सभी लोगों अथवा किसी जाति-विशेष के समग्र जीवन का समग्र चित्रण होता है।[1] उनमें लेखक का आग्रह वहाँ की प्रकृति तथा संस्कृति का वैविध्यपूर्ण चित्रण करने के प्रति ही अधिक रहता है। ऐसे उपन्यासों में किसी आंचल विशेष में प्रचलित रीति रिवाजों, खान-पान, विश्वास, आस्थाओं बोली आदि का चित्रण होता है। इस चित्रण में वहाँ का लोक-जीवन अपनी समग्रता के साथ मुखरित हो उठता है। संक्षेप में उस अंचल विशेष की सम्पूर्ण भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक सुषमा, वहाँ के रहने वालों की सभ्यता, संस्कृति, बोली आदि, तीज-त्योहार, परम्पराएँ, धार्मिक और नैतिक आचार-विचार, विश्वास, आस्था, रीतिरिवाज, आर्थिक एवं वर्गगत वैषम्य और संघर्ष, जनता के पारस्परिक सम्बन्ध, स्त्रियों तथा पुरुषों की स्थानीय विशेषताएँ, व्यसन, मनोरंजन, शिक्षा, जीवन संबंधी दृष्टिकोण राजनीतिक-चेतना, रहन-सहन, लोकगीत, लोकनृत्य, लोकभाषा, लोकोक्ति, मुहावरे, आदि सभी कुछ

1- निबन्ध आंचलिक उपन्यास, राजनाथ शर्मा।

अपनी पूर्णता के साथ मुखरित हो उठते हैं। ऐसे उपन्यासों को पढ़कर वहाँ की स्थिति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

आंचलिक उपन्यासों के विषय में डा0 स्वर्ण किरण का मत इस प्रकार है — "आंचलिक उपन्यासों में आंचलिकता की सिद्धि के लिए सामान्यतया स्थानीय दृश्यों, प्रकृति, जलवायु, त्योहार, लोकगीत, बातचीत का विशिष्ट ढंग मुहावरे, लोकोक्तियों भाषा एवं उच्चारण की विकृतियाँ, लोगों के स्वभावगत एवं व्यवहारगत विशेषताएँ उनका अपना रोमांस, नैतिक मान्यताएँ आदि का समावेश बड़ी सतर्कता और सावधानी से किया जाता है।"[1]

डा0 शान्ति स्वरूप गुप्ता के अनुसार —— " आंचलिक उपन्यासकार वह उपन्यास है, जिसमें लेखक आंचलिक दृष्टि अपनाकर किसी विशिष्ट अंचल , जनपद जाति(जन्मगत अथवा व्यवसायगत) के समग्र जीवन का विशद और वैविध्यपूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है, उसमें आंचलिक परिवेश को सजीवता के साथ चित्रित किया जाता है। इसके लिए आंचलिक उपन्यासकार जनपद विशेष के भूगोल, वहाँ की सभ्यता, संस्कृति, रहन-सहन, वेशभूषा, धार्मिक-विश्वास, रूढ़ियाँ, सामाजिक-परम्पराओं, त्योहार, पर्व, नृत्यगीत जीवन स्वर रीति-रिवाज, लोक-गीत, लोकभाषा आदि का अध्ययन कर उनका अपनी कृति में इस प्रकार उपयोग करता है कि वह अंचल विशेष अपनी सम्पूर्ण क्रान्ति और दुर्बलताओं के साथ पाठक के सामने मूर्तिमान हो उठता है।"[2]

संक्षेप में 'आंचलिकता' के तात्पर्य उपादेयता एवं अर्थ के समझ लेने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आंचलिकता में निम्नलिखित मूल-तत्व निर्धारित किए जा सकते हैं —

(1) किसी अंचल विशेष की प्राकृतिक स्थिति एवं सुषमा का अंकन।

(2) कथा का आधार वही अंचल विशेष जिसमें स्थानीय लोककथाओं का समावेश।

(3) स्थानीय लोक-संस्कृति का वैविध्यपूर्ण और विस्तृत चित्रण।

(4) सभी प्रकार की स्थितियों का पूर्ण चित्रण।

(5) उस अंचल में उठती नवीन-जन-चेतना का दृष्टिकोण की संकीर्णता से रहित प्रभावपूर्ण अंकन।

1- गोदान में आंचलिकता, लेख - गोदान गवेषणा, पृ0 79

2- हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास और मृगनयनी, पृ0 139

(6) स्थानीय बोली का सन्तुलित एवं स्वाभाविक प्रयोग।

प्राकृतिक स्थिति एवं सुषमा का अंकन :—

आंचलिक उपन्यासकार सबसे पहले किसी एक अंचल विशेष को चुनता है। फिर उस अंचल की स्थिति का पूर्ण परिचय देने के लिए उसकी भौगोलिक सीमाओं का विस्तार के साथ वर्णन करता है। किसी भी प्रदेश विशेष के जनजीवन के निर्माण में वहाँ की भौगोलिक स्थिति का बहुत बड़ा हाथ रहता है। भौगोलिक स्थिति ही प्रायः वहाँ के पिछड़ेपन का या विकास का कारण बन जाती है। इसीलिए इस स्थिति का विस्तृत अंकन कर उपन्यासकार उस अंचल का एक प्रभावपूर्ण एवं मार्मिक चित्र प्रस्तुत करता है। कथा के साथ ही साथ वहाँ की प्राकृतिक सुषमा के काव्यात्मक चित्र उतारते हैं। रह-रहकर वहाँ के नदी-नालों, पर्वत-टौरियों, हरे-भरे अथवा उजाड़ भूमिखण्डों, लहलहाते खेतों आदि के काव्यमयी भाषा में भावपूर्ण अंकन मिलते हैं, जो हमारे सामने अपने समग्र रूप में उस अंचल का एक सजीव साकार सा चित्र प्रस्तुत कर देता है। वृन्दावन लाल वर्मा के अनेक उपन्यासों में हमें कदमकदम पर ऐसे भावपूर्ण चित्र मिलते हैं। क्षेत्र विशेष की प्रकृति का चित्रण होना आवश्यक तो अवश्य माना जा सकता है, किन्तु उसमें संयम की भी अपेक्षा होनी चाहिए। अगर प्रकृति ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बन उठेगी तो उपन्यास का ढाँचा शिथिल और प्रभावहीन हो जायेगा।

कथा का आधार वही अंचल विशेष जिसमें स्थानीय लोककथाओं का समावेश :—

उपन्यासकार 'आंचलिक-उपन्यास' की कथा का चयन एवं निर्माण अंचल-विशेष के जन-जीवन से ही करता है। उसके सम्पूर्ण पात्र और घटनाएँ स्थानीय रंग में रंगी रहती हैं। उस अंचल की विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थितियाँ ही उन्हें जन्म और विकास देती हैं। कथा और कथा के पात्र उस अंचल को छोड़कर बाहर नहीं जाते। उपन्यासकार का सारा ध्यान कथा के माध्यम द्वारा उसी अंचल पर केन्द्रित रहता है। वह उस अंचल के स्थानों, नदी, नालों, बंजर, उपजाऊ भूमिखण्डों, पर्वत, टौरियों आदि से संबंधित वहाँ प्रचलित प्राचीन लोककथाओं और किम्बदन्तियों का समावेश करता चलता है। इससे कथा का प्रभाव अधिक गहरा हो उठता है। उसके पात्र या घटनाएँ सार्वदेशिक या सार्वभौमिक न बन, उस अंचल विशेष की ही देन होते हैं।

कथा का क्षेत्र सीमित और संकुचित होने के कारण वह वहाँ के जन जीवन का यथार्थ, विस्तृत और मार्मिक चित्र अंकित करने का अधिक अवसर प्राप्त कर लेता है+, जो विस्तृत कथा क्षेत्र को लेकर चलने वाले उपन्यासोंमें सम्भव नहीं होता।

(3) स्थानीय लोक-संस्कृति का वैविध्यपूर्ण विस्तृत चित्रण :—

आंचलिक उपन्यासों में अंचल विशेष कीलोक-संस्कृति सर्वाधिक महत्वपूर्ण बन जाती है। लेखक उस अंचल विशेषमें रहने वाले लोगों के जीवन का विस्तृत चित्रण करता रहता है। इस चित्रण में वहाँ का सम्पूर्ण जन-जीवन अपने विभिन्न कोणों के साथ मुखरित हो उठता है। इसके द्वारा वहाँ की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक-स्थितियों का पूर्ण परिचय मिल जाता है। वहाँ के रहने वालों के रीति-रिवाज रहन-सहन, व त्योहार, पर्व, तीर्थ, मेले, लोक-नृत्य, गीत, परम्परागत मान्यताएँ, विभिन्न-प्रकार की रूढ़ियाँ और विश्वास, कला, बोली-बानी, लोकोक्तियाँ, मुहावरे आदि सभी कुछ अपने यथार्थ रूप में उपस्थित हों, वहाँ की लोक-संस्कृति और जन-जीवन का एक समग्र एवं हृदय ग्राही चित्र प्रस्तुत कर देते हैं। इन्हीं के द्वारा हमें वहाँ की उभरती नवीन-जन-चेतना, पारस्परिक संघर्ष वर्ग-वैषम्य आदि का भी परिचय मिल जाता है। एक तरह से लोक-संस्कृति का यह चित्रण ही इन उपन्यासों का प्रधान तत्व माना जा सकता है। इसके द्वारा हम उस अंचल के कण-कण से परिचित हो जाते हैं।

(4) विभिन्न स्थितियों का पूर्ण-चित्रण :—

आंचलिक उपन्यासों में लोक-संस्कृति के साथ ही साथ अंचल विशेष की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, आदि स्थितियों का चित्रण भी अपना विशेष महत्व रखता है। लेखक वहाँ के वाणिज्य-व्यापार, खेती, बाड़ी कुटीर-उद्योग आदि का व वर्णन कर यह बता देता है कि वहाँ की जनता की आर्थिक स्थिति कैसी है और वह उसे किस प्रकार बदलने या उन्नत करने का प्रयत्न कर रही है। सामाजिक स्थिति में जाति-गत एवं अर्थगत ऊँच-नीच के भेद भाव को स्पष्ट किया जाता है। राजनीतिक स्थिति के अन्तर्गत वहाँ की शासन व्यवस्था, राजनीतिक चेतना संघर्ष आदि का चित्रण होता है। धार्मिक क्षेत्र में वह वहाँ के देवी-देवता, मत-मतान्तर, रूढ़ियाँ, त्योहार-पर्व, शादी-

व्याह आदि का चित्रण करता है।

(5) जन-चेतना का सशक्त अंकन :—

इन सभी चित्रणों के साथ वह जनता में उत्पन्न होने वाली नवीन-जाग्रति का स्पष्ट संकेत देता चलता है। अन्धविश्वासों एवं रूढ़ियों से उत्पन्न कुरीतियों के प्रति भारतीय जनजीवन में सर्वत्र एक क्रान्ति एवं विरोध की भावना उभर रही है। अंचल विशेष भी इस भावना से अप्रभावित नहीं है। इसी कारण आंचलिक-उपन्यासकार नवीन चेतना एवं विरोध के इस स्वर को अधिक उभार कर सामने रखते हैं। लेखक सामाजिक-भ्रष्टाचार, अन्याय, अत्याचार के विरूद्ध विद्रोह के स्वर उठाने वाली जनता को अधिक महत्व दे वहाँ की जन चेतना का एक ऐसा चित्र अंकित करता है, जो स्थानीय न रहकर सार्वदेशिक बन चुका है। वास्तव में आंचलिक उपन्यास पिछड़े हुए प्रदेशों में उभरती हुई नवीन-जन-चेतना के अंकन को ही अप्रत्यक्ष रूप से अपना मूल उद्देश्य मानकर आगे बढ़ते हैं। यही कारण है कि अधिकांश आंचलिक उपन्यास बिहार, मध्यप्रदेश आदि के उन अंचलों से सम्बन्ध रखते हैं, जो सभी दृष्टियों से पिछड़े हुए रहे हैं। और इसी कारण जन-जागृति की नवीन चेतना को अधिक शक्ति, आग्रह और तेजी के साथ अपनाने को प्रयत्नशील हो उठे हैं। समृद्ध प्रदेशों में इस चेतना के दर्शन अपेक्षाकृत कम ही होते हैं, क्योंकि नवीन-चेतना के विद्रोही स्वर वहाँ ही पनप सकते हैं, जहाँ अभावों का अखण्ड साम्राज्य रहता है। अभाव ही विद्रोह और संघर्ष को जन्म देता है।

(6) स्थानीय बोली का सन्तुलित एवं स्वाभाविक प्रयोग :—

कुछ आलोचक स्थानीय अर्थात् अँचल-विशेष की बोली के वाक्यों तथा शब्दों का प्रयोग होना आंचलिक उपन्यास में अनिवार्य मानते हैं। यह ठीक है कि स्थानीय बोली के शब्दों के प्रयोग में उपन्यास में आंचलिक रंग गहरा अधिक हो उठता है। साथ ही हिन्दी-भाषा को ऐसे नवीन शब्दों की उपलब्धि भी होती है, जो अभिव्यक्ति की एक विशिष्ट शक्ति और ध्वनि से ओतप्रोत होते हैं। इस प्रकार ऐसे शब्दों के प्रयोग से हिन्दी के शब्द भण्डार की वृद्धि में सहायता मिलती है। दूसरी बात यह है कि अपढ़-

अशिक्षित लोग अपनी बोली के शब्दों में ही अपने विचारों-भावों को अधिक अच्छी तरह से व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ होते हैं। इससे उनके चरित्र में स्वाभाविकता आ जाती है। परन्तु आंचलिक उपन्यासों में आंचलिक बोली का प्रयोग करते समय उपन्यासकारों को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि ये उपन्यास प्रकाशित होने पर हिन्दी के उन पाठकों द्वारा भी पढ़े जायेंगे जो उस स्थानीय बोली से परिचित नहीं हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें उन शब्दों को समझने में कठिनाई महसूस हो उठी। यदि ऐसे शब्दों का सन्तुलित संयमित एवं कम संख्या में प्रयोग किया जाये और पाद-टिप्पणी में उनके अर्थ दे दिये जायें तो ऐसे पाठकों की इस कठिनाई को दूर किया जा सकता है। परन्तु कुछ आंचलिक उपन्यासकारों में स्थानीय बोली के आधिकाधिक प्रयोग का मोह इतना प्रबल हो उठा है कि उस बोली को समझने के लिए शब्द-कोषों की सहायता लेने पर भी समस्या सुलझ नहीं पाती और उपन्यास के रसास्वादन में व्याघात उत्पन्न हो जाता है। इसलिए स्थानीय बोली के शब्दों का अधिक प्रयोग करते समय हमारे आंचलिक उपन्यासकारों को विशेष रूप से सावधान रहना चाहिए।

कुछ लोगों का यह भ्रम है कि 'आंचलिक-उपन्यास' केवल ग्रामीण क्षेत्रों पर ही लिखे जा सकते हैं, नागरिक क्षेत्रों को लेकर नहीं। परन्तु यह एकांगी दृष्टि-कोण है। ग्रामीण क्षेत्रों को अपनी कथा का विषय बना लेने पर वहाँ के प्राकृतिक दृश्यों आदि का वर्णन करने का पर्याप्त अवकाश रहता है। ~~परन्तु~~ यदि हम किसी नगर या मुहल्ले को अपना कथाक्षेत्र बना लेंगे तो हमारे हाथ बँध जायेंगे और हम वैसा वर्णन नहीं कर सकेंगे, परन्तु वातावरण या दृश्य-चित्रण को ही आंचलिक-उपन्यास-निर्माण की एक अनिवार्य शर्त नहीं माना जा सकता। मूल और अनिवार्य शर्त यह है कि आंचलिक-उपन्यास में किसी अंचल विशेष की जनता के जीवन और संस्कृति का पूर्ण चित्रण हो, जिसके द्वारा हम उस अंचल के विविध रूपमय जन-जीवन का पूर्ण परिचय प्राप्त कर सकें और यह नागरिक अंचलों को अपना कथा क्षेत्र बनाकर भी किया जा सकता है।

'अमृत लाल नागर' का प्रसिद्ध उपन्यास 'सेठ बाँकेमल' इसका प्रमाण है। यद्यपि अभी तक हिन्दी में ऐसे आंचलिक उपन्यास एकाध ही लिखे गये हैं, जो 'सेठ बाँकेमल' के समान किसी नागरिक अंचल को अपना मूल प्रतिपाद्य बनाकर चले हों। परन्तु फिर भी सम्भावनाएँ तो हैं ही। हो सकता है कि भविष्य में उपन्यासकारों

का ध्यान आकर्षित हो। 'रूद्र की बहती गंगा' में काशी नगरी की कथा का क्षेत्र बना कर सफल आंचलिक उपन्यास लिखा भी जा चुका है।

ऐतिहासिक उपन्यास आंचलिक नहीं हो सकते हैं। उनमें केवल आंशिक रूप से आंचलिकता पायी जा सकती है, क्योंकि प्रथम तो ऐतिहासिक उपन्यास में काल्पनिक तत्व प्रचुर मात्रा में होते हैं, जबकि आंचलिक उपन्यास वर्तमान के कटु, कठोर यथार्थ पर आधारित होते हैं, दूसरे ऐतिहासिक उपन्यासकार की दृष्टि अतीतोन्मुख और विशाल, व्यापक होती है, उसका चित्रफलक अधिक विस्तारपूर्ण होता है। तीसरे ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास-रस प्रधान होता है, जबकि आंचलिक-उपन्यास में 'अंचल-रस' की प्रधानता होती है। आंचलिक उपन्यास का घटनास्थल कोई गाँव तथा उससे संलग्न प्रदेश होता है और सफल आंचलिक उपन्यासकार अपनी कृति में आंचलिकता लाने के लिए उससे प्रदेश के चप्पे-चप्पे से परिचित होता है, ताकि उसके भौगोलिक परिवेश को मूर्तिमान कर सके। कलाकार का यह कर्तव्य होता है कि वह जिस क्षेत्र को उपन्यास की क्रीड़ा-भूमि बनावे, उसका पर्यटन और पर्यवेक्षण अवश्य करे।यदि आंचलिक उपन्यास पढ़ते-पढ़ते अंचल विशेष का चित्र अपनी समग्रता को लेकर पाठक के नेत्रों के समक्ष न उतर आये, तो वह आंचलिक उपन्यास कैसे कहा जाये। आंचलिक उपन्यास को कुछ आलोचकों ने नायक-विहीन उपन्यास कहा है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसमें कोई प्रधान पात्र होता ही नहीं, उसका अभिप्राय तो केवल इतना है कि आंचलिक-उपन्यास की दृष्टि अंचल विशेष के सामूहिक जीवन पर होती है, व्यक्ति पर नहीं। अतः उसमें प्रथम तो व्यक्ति पात्र नहीं होते, वर्ग के प्रतिनिधि पात्र होते हैं और दूसरे उपन्यास में पात्र के चरित्र का विकास नहीं दिखाया जाता, उसके व्यक्तित्व की सर्वांगीण अभिव्यक्ति नहीं होती, केवल उन विशेषताओं पर प्रकाश डाला जाता है, जो उस अंचल के अधिकांश व्यक्तियों में पायी जाती हैं। आंचलिक उपन्यास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है अंचल-विशेष की लोक-संस्कृति का चित्रण, वहाँ की परम्परागत मान्यताओं, रीतिरिवाज, रहन-सहन, वेशभूषा, त्यौहार-पर्व, लोकगीत, नृत्य तथा भाषा-कला आदि का चित्रण, जिनका परिचय लेखक स्वयं प्राप्त करता है और स्वानुभव के आधार पर जिनका चित्रण करता है।

प्रदेश-विशेष की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति का यथार्थ-अंकन भी उपन्यास को आंचलिकता प्रदान करने में सहायक होता है। इसी प्रकार क्षेत्र-

विशेष की भाषा वहाँ की आंचलिकता को प्रतिबिम्बित करने में बड़ी सहायता करती है, क्योंकि सामाजिक विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है। हर क्षेत्र में अपना-अपना बोलने का ढंग होता है। क्षेत्र-विशेष की परम्परा को द्योतित करने वाले क्षेत्रीय-मुहावरे भी होते हैं, जो उस क्षेत्र की विशेषताओं, हीनताओं, न्यूनताओं आदि के बोधक होते हैं। इतना ही नहीं, क्षेत्र-विशेष की लोकोक्तियों एवं मुहावरों में वहाँ का जन-जीवन मुखरित रहता है। कुछ अंचलों में ह्रस्व वर्णों का अधिक प्रयोग होता है, कुछ में दीर्घ का अधिक प्रयोग होता है। कुछ में कोमल एवं मधुर वर्णों का अधिक प्रयोग होता है, किसी किसी अंचल-विशेष की भाषा में ओज-प्रधान, कर्ण कटु शब्दावली का प्रयोग होता है। कहीं-कहीं पर भाषा का असंस्कृत रूप अपनी फूहड़ता और अशिष्टता की अभिव्यक्ति के लिए सहायक होता है और कभी-कभी वह विनम्रता, शिष्टता, सज्जनता एवं सरसता का बोधक होता है। अतः भाषा तत्व से अंचल विशेष की बौद्धिकता, भावुकता, शिष्टता, सभ्यता, गम्भीरता, सरसता, नीरसता आदि विशेषताओं का बड़ी सरलता के साथ ज्ञान कर लिया जाता है। इस प्रकार आंचलिक उपन्यास अंचल विशेष का समग्र चित्र होता है, उसमें जहाँ यथार्थ का प्रबल स्थान रहता है, वहाँ उसके समुपलब्ध आदर्शों का भी लेखा-जोखा रहता है, इसलिए अन्य उपन्यासों की तुलना में आंचलिक-उपन्यास लिखना अधिक कठिन होता है। लेखक जब तक अंचल-विशेष में घुलमिल नहीं जाता, वहाँ के भूत और वर्तमान का परिपुष्ट ज्ञान नहीं कर लेता , जब तक उसमें समस्त आंचलिक तत्वों को आत्मसात् करने की क्षमता नहीं उत्पन्न होती है, तब तक वह आंचलिक उपन्यास हो ही नहीं सकता, क्योंकि सुने-सुनाये अनुभवों के आधार पर यदि हम आंचलिक-उपन्यास लिखने को बैठते हैं तो अनेक त्रुटियों के रह जाने की संभावना बनी रहती है। मैंने आंचलिक उपन्यासकार 'त्रिलोचन-शास्त्री' और बाँदा के प्रसिद्ध प्रगतिशील कवि 'केदार' बाबू की वार्तालाप के मध्य त्रिलोचन जी को यह कहते हुए सुना था कि मैं जिस क्षेत्र-विशेष पर उपन्यास लिखना चाहता हूँ, उस क्षेत्र में पर्याप्त समय तक जाकर बस जाता हूँ और जब उपन्यास समाप्त हो जाता है, तभी वहाँ से लौटता हूँ। उनके इस कथन का तात्पर्य यही है कि आंचलिक उपन्यास लिखने के लिए दो प्रकार के उपन्यास-लेखक सक्षम सिद्ध हो सकते हैं। प्रथम तो यह कि आंचलिक उपन्यास लेखक को उस क्षेत्र का मूल निवासी होना चाहिए अथवा उस क्षेत्र में कई वर्षों तक बसकर क्षेत्रविशेष की समस्त विशेषताओं से सम्यक् अवगत होना चाहिए।

आंचलिकता की महत्ता :—

किसी स्थान विशेष या क्षेत्र विशेष की समग्र विशेषताओं को अंकित करने में आंचलिकता की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। उदाहरणार्थ यदि हम बुन्देल-खण्ड से सम्बन्धित कोई उपन्यास लिखते हैं, तो उसके उससे संबंधित समग्र पक्षों का यथार्थ चित्रण करना होगा। उसकी भौगोलिक सीमा क्या है? उसके अन्तर्गत महत्वपूर्ण पर्वतों, नदियों, वनों आदि का क्या महत्व है, उस क्षेत्र का इतिहास कैसा रहा है, वर्तमान समय में उसकी क्या स्थिति है, वहाँ का जनजीवन अपने सामाजिक स्तर को कहाँ तक विकसित कर रहा है। इसकी धार्मिक स्थिति क्या है, राजनीतिक क्षेत्र ने उसको कहाँ तक प्रभावित किया है? उस क्षेत्र में साँस्कृतिक जीवन में कौन-कौन सी विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं? जनता का खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार धार्मिक रूढ़ियाँ विश्वास, मान्यताएँ कैसी हैं? उद्योग-धन्धे, आर्थिक-जीवन, नैतिक मूल्यों की अवतारणा, विभिन्न पर्व, उत्सव, त्यौहार आदि मनाने की विधियाँ अनेक दार्शनिक-चेतनाएँ, सामाजिक संगठन, सामाजिक दुर्व्यसन, कृषि, व्यापार, जीविका के साधन, इत्यादि विशेषताओं के साथ विद्या अध्ययन, कला-कुशलता, स्वास्थ्य, औषधि-विज्ञान, परिश्रम, उत्साह, जातीय-चेतना आदि का ऐसा सजीव एवं जीता-जागता चित्र प्रस्तुत किया जाता है कि जिसको पढ़कर एक उस क्षेत्र से सर्वथा अपरिचित व्यक्ति भी वहाँ की इन समग्र विशेषताओं के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इस दृष्टि से आंचलिक रचनाओं का बड़ा महत्व है।

आंचलिक उपन्यासों में हमें लेखक की आंचलिक भाषा शक्ति का परिज्ञान बड़ी आसानी से हो जाता है। किस क्षेत्र विशेष में किसी विशिष्ट शब्द के लिए कौन सा शब्द व्यवहृत होता है। यह ज्ञान कम मनोरंजक नहीं होता। स्थानीय लोकोक्तियों एवं मुहावरों का भण्डार उस क्षेत्र विशेष की अपनी सम्पत्ति होती है। उनसे यह जाना जा सकता है कि वहाँ की क्षेत्रीय जनता ने अपना कितना मानसिक एवं बौद्धिक विकास कर लिया है और किस गति से वहाँ का विकास हो रहा है। इस प्रकार अंचल विशेष की साँस्कृतिक-चेतना और सामाजिक-चेतना के समाजशास्त्रीय अध्ययन के

लिए आंचलिक रचनाएँ वरदान सिद्ध होती हैं।

ऐसे बहुत कम व्यक्ति होते हैं, जो विभिन्न प्रदेशों के देहाती अंचलों का भी परिभ्रमण करने का अवसर प्राप्त कर सकते हैं। स्थान विशेष में भौगोलिक-दृश्य बड़े रोचक एवं मनोहर होते हैं। वे पर्यटकों के लिए प्रेरणा-स्रोत बन जाते हैं। अतः आंचलिक रचनाओं का भौगोलिक-महत्व बहुत अधिक है।

'मानव-शास्त्र' के अध्येता किसी क्षेत्र विशेष की सामाजिक स्थिति और वहाँ के मानसिक धरातल का गहन अध्ययन करना चाहते हैं। आंचलिक रचनाएँ उनके लिए बहुत कुछ ऐसी सामग्री प्रस्तुत कर देती है, जिनके आधार पर वे घर बैठे ही क्षेत्र-विशेष का मानव शास्त्रीय अध्ययन कर सकते हैं।

संक्षेप में आंचलिक रचनाएँ ज्ञान-पिपासा की दृष्टि से भी बड़ी रोचक होती हैं। जहाँ एक ओर उनका सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्व है, वहाँ दूसरी ओर उनका भौगोलिक, राजनीतिक और भाषायी महत्व भी है। ये रचनाएँ अधिकांश यथार्थ पर आधारित होती हैं। अतः वे इनका महत्व इस बात में भी है कि वे लेखकों को सूक्ष्म-पर्यवेक्षण-शक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान करती हैं। नई-नई वस्तुओं को नवीन-नवीन पद्धतियों से अभिव्यक्त करने की कला का आविष्कार करने के लिए लेखक को वाध्य करती हैं। सत्यता या ईमानदारी के दावेदार लेखक को अंचल विशेष का गहन परिचय प्राप्त करने के लिए कुछ दिन वहाँ रहना भी पड़ता है। इससे वह जन-जीवन में घुल मिल जाता है और वहाँ की वास्तविकता को वह समझ जाता है। अतः आंचलिक-रचनाओं का महत्व यह भी है कि वे लेखकों को पर्यटनशील, सत्यग्राही, सहिष्णु, संवेदनशील एवं कला-कुशल बनाती हैं। यही कारण है कि वर्तमान युग की आंचलिक-रचनाएँ अधिक लोकप्रिय हो रही हैं।

आंचलिकता के विभिन्न रूपों के अन्तर्गत सामाजिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, आदि रूपों का गहन अध्ययन करते हैं। किसी अंचल-विशेष में प्रचलित रीति-रिवाज, खान-पान, विश्वास, आस्थाओं, बोली आदि का चित्रण होता है। इस चित्रण में वहाँ का लोक-जीवन अपना समग्रता के साथ मुखरित हो उठता

है। संक्षेप में उस अंचल विशेष की सम्पूर्ण भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक सुषमा , वहाँ के रहने वालों की सभ्यता संस्कृति, धर्म, नीति, दर्शन, बोली, तीज, त्योहार, वर्ण-व्यवस्था, सामन्ती जीवन, विवाह-प्रथा, कृषक जीवन, प्रजा प्रगति, परम्परारँ, धार्मिक और नैतिक आचार-विचार, विश्वास, आस्था, रूढ़ियाँ, रीतिरिवाज, आर्थिक रवं वर्गगत वैषम्य और संघर्ष, सरलता, जनता के पारस्परिक सम्बन्ध, स्त्रियों तथा पुरूषों की स्थानीय विशेषतारँ, व्यसन, मनोरंजन, शिक्षा, जीवन संबंधी दृष्टिकोण, राजनीतिक चेतना, रहन-सहन, लोक-गीत, लोक नृत्य, लोक-भाषा, लोकोक्ति, मुहावरे, जलवायु, कृषि, आदि सभी कुछ अपनी पूर्णता के साथ मुखरित हो उठते हैं। रेसे उपन्यासों को पढ़कर वहाँ की स्थिति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

तृतीय अध्याय

वर्मा जी के उपन्यासों में भाषायी आंचलिकता

तृतीय अध्याय

वर्मा जी के उपन्यासों में भाषायी आंचलिकता

सामान्यतया आंचलिकता की सिद्धि के लिए स्थानीय दृश्य, प्रकृति, जलवायु, त्योहार, लोकगीत एवं बातचीत का विशेष ढंग, लोकोक्तियाँ, भाषा एवं उच्चारण की विकृतियाँ, लोगों की स्वभावगत एवं व्यवहारगत विशेषताएँ उनका अपना रोमान्स तथा नैतिक मान्यताओं का समावेश बड़ी सतर्कता और सावधानी से किया जाता है।

यहाँ पर हमारा उद्देश्य वर्मा जी के उपन्यासों में भाषायी आंचलिकता की खोज करना है, जिसके अन्तर्गत सर्वप्रथम पदों की आंचलिकता पर विचार किया जा रहा है —

(क) पदो की आंचलिकता :—

वर्मा जी ने पदों की आंचलिकता पर विशेष ध्यान दिया है जो अधिकांश संज्ञा-शब्दों की श्रेणी में आते हैं।[1]

1- टटिया	मृगनयनी	पृ04	ओटी	लगन	पृ076
चून	वही	पृ08	भभड़	कचनार	पृ0125
ततूरी	वही	पृ047	पटा	वही	पृ0205
मडय्या	वही	पृ030	पिछौरी	वही	243
बिजूका	वही	पृ017	गदाती	दुर्गावती	पृ019
कुटवार	वही	पृ0139	कछोटा	वही	पृ057
टोकनी	वही,	पृ0109	करतूत	वही	पृ069
चिउँटी	वही	पृ0287	चिरौरी	वही	पृ0227
टोटा	अहिल्याबाई	पृ056	कैंडवाला	भुवनविक्रम	पृ05
टोटका	वही	पृ088	ढोर	वही	पृ014
छालिया	प्रेम की भेंट	पृ05	इत्ती	गढ़कुंडार	पृ020
घरीचा	लगन	पृ015	कोइयापन	वही	पृ0127
भदूना	मृगनयनी	पृ021	छोकरा	माधव जी सिं0	पृ033
टन्नाती- छन्नाती,	वही,	पृ0	ब्याह्रू	झाँसी की रानी	पृ0156

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वर्मा जी बुन्देलखण्ड के लोकजीवन से घनीभूत परिचित थे अन्यथा व्यवहारोपयोगी आंचलिक संज्ञाओं का इतना अधिक ज्ञान कर पाना अत्यन्त दुष्कर है।

वर्मा जी के उपन्यासों में क्रियागत आंचलिकता भी कम महत्वपूर्ण नहीं है, उन क्रियाओं में वहाँ का लोकजीवन झाँकता हुआ सा प्रतीत होता है। कतिपय क्रिया शब्दों की सूची इस प्रकार है।[1]

वर्मा जी के उपन्यासों में आंचलिक विशेषण बड़े ही सटीक प्रयुक्त हुए हैं जिनमें ध्वन्यात्मकता का भी चमत्कार यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। उनके उपन्यासों की कतिपय शब्दावली

1-

विगस गया	मृगनयनी	पृ07	सुधियाया	दुर्गावती	पृ028।
छकाना चाहिए	वही	पृ019	कड़कड़ाई	भुवनविक्रम	पृ07
बिसा लूँगा	वही	पृ044	किड़किड़ाया	वही,	पृ061
मुर्की	वही	पृ0262	चेताया	वही	पृ0165
हुक्श दिया	वही	पृ0309	थथोलनी है	वही	पृ0231
बिरबिराई	वही	पृ0277	आँस नही	गढ़कुण्डार	पृ041
कलाई-छेदाई	भारत यह है, पृ028		मुकुर गया	वही	पृ0137
सकारा	अहिल्याबाई, पृ011		रोउती	वही	पृ0219
समोये गये	वही	पृ047	पछियाना	वही	पृ0478
मुरका दी	वही	पृ047	आँसिगी	झासी की रानी	पृ020
चेता रहो हो	वही	पृ075	छुटकाती	वही	पृ0114
लौकने लगा	वही	पृ064			
झल्लायेंगे	लगन	पृ040			
ठठोली लरेगें	लगन	पृ041			
बिसरती थी	कचनार	पृ0108			
डिगमिगाने लगा	वही	पृ0211			
रौरा मचा थे	वही	पृ0266			
बिदकाया	महारानी दुर्गावती, पृ020				
कुसमुसाई	वही	पृ0352			

से यह बात स्पष्ट है।[1]

वर्मा जी के उपन्यासों में क्रिया विशेषण बड़े ही मौलिक हैं उनके चुभते हुए प्रयोगों से भाषा में सर्वथा एक नवीनता एवं चमत्कार उत्पन्न हो गया है। जैसा कि निम्न-लिखित शब्दावली से स्पष्ट होता है। इनके प्रयोगों में लेखक की मनोवृत्ति पर्याप्त रमी है।[2]

1- मरियल	मृगनयनी	पृ016	कंकियउँता	माधवजीसिंधिया	पृ031
चमकीली चाँदनी,	वही	पृ016	ब्याहता	वही	पृ084
धूमरे	भारत यह है	पृ075	रखेली	वही	पृ084
तिरचाँवरी	अहिल्याबाई	पृ08	करामाती	वही	पृ090
चकचका	वही	पृ011	मोटे-झोटे	सोना	पृ024
चिलकते हुए	वही	पृ018	सड़ियल	माधवजी सिंधिया	पृ241
मोटे-मुस्टण्डों	वही	पृ042	घरू	कभी न कभी	पृ071
मुड़चिरे	कचनार	पृ0281	मैला-कुचैला	सोना	पृ0
छुटभैये	दुर्गावती	पृ0188	पुरखौती	उदयकिरण	पृ078
भगेडू	दुर्गावती	पृ0247	ऊबड़-खाबड़	भारत यह है	पृ071
गरूरी	वही	पृ0258	बिचवैये	उदयकिरण	पृ068
बंधुआ	भुवनविक्रम	पृ032	बगर के बगर	लगन	पृ015
सीधी-सूधी	भुवनविक्रम	पृ0188	नामी गिरामी	लगन	पृ023
ि फटियल	गढ़कुण्डार	पृ0145	किरानी	झाँसी की रानी	पृ246
सरसराती	वही	पृ0155	दुबचरें	कचनार	पृ0297
हरावल	माधव जी सिंधिया, पृ09		सबरी निराट	गढ़कुण्डार माधवजी सिंधिया	पृ070 पृ0111
2- हिचिर-मिचिर कर रहा है, सोना, पृ065			चिरौरी	सोना	पृ043
कुसमिसाना	सोना	पृ062	लल्लो-चप्पो करना	सोना	पृ070
बँधा-रँधा	मृगनयनी	पृ09	सरसराना	मृगनयनी	पृ012
पड़र-फड़र	मृगनयनी	पृ045	छितरा-छितरा	वही	पृ025
मचक-मचक	वही	110	टन्नाती-भन्नाती	वही	पृ297
अखर-अखर	वही	पृ0445	तड़ाक से	भारत यह है	पृ084
ताबड़-तोड़	अहिल्याबाई	पृ046	झक-झक	अहिल्याबाई	पृ017
ठिल-ठिल	प्रेम की भेंट	पृ033	खुसफुस	कचनार	पृ154
बुकल-बुकल	कचनार	पृ0298	रिसरिस	दुर्गावती	पृ046
हकबका	दुर्गावती	पृ061	हाँफते-हाँफते	दुर्गावती	पृ018

वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में जहाँ ग्रामीण पात्रों का प्रस्तुतीकरण किया है, वहाँ उन्होंने उनके मुख से प्रायः बुन्देलखण्डी बुलवाने का प्रयास किया है। ऐसे स्थलों में हमें उनके सर्वनामों में आंचलिकता के दर्शन होते हैं। कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं।[1]

वाक्य-रचना :— यद्यपि वर्मा जी ने अपने सभी उपन्यास खड़ी-बोली में लिखे हैं। लेकिन जहाँ पर उन्होंने ग्रामीण पात्रों या ग्रामीण जीवन के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है वहाँ उन्होंने आंचलिक शब्दों का ही नहीं अपितु आंचलिक वाक्यों का प्रयोग किया है। यहाँ पर बुन्देलखण्डी भाषा से परिपूर्ण उन मूल वाक्यों को उद्धृत किया जा रहा है जिनके अध्ययन से यह ज्ञात हो सकेगा कि वर्मा जी के उपन्यासों में आंचलिक बोध, वाक्यों में भी कितना मुखर है ——

(क) "खूब कई साब तुमने, स्याबास। अंगरेजन कौ जासूस सौ का हतो? तम्बोली-बोला, हुइये। का करने कक्का।' भग्गी दाउजू ने कहा, 'जो झाँसी की लटी लकै तिहिं खाएँ कालका माई।' 'वा दाउजू वा,' तम्बोली बोला, 'कविराजई तो ठैरे।'"[2]

उपर्युक्त अंश में कही — कई, साहब — साब, शाबाश— स्याबास, क्या था— का हतो, होगा—हुइये, क्या करना — का करने, दाऊजी — दाउजू, खराब—लटी, वाह— वा, कविराज ही —कविराजई, ठहरे - ठैरे, ये परिवर्तन दर्शनीयहैं जो आंचलिकता के बोधक है। उक्त वाक्यावली सिंह और भग्गी दाऊजी इन दो ग्रामीण पात्रों के बीच प्रयुक्त हुईहै।

(पिछले पृष्ठ के शेष क्रिया-विशेषण)

ऊण्ड-बण्ड	दुर्गावती	पृ0202	कुड़कुड़ाते हुए	भुवनविक्रम	पृ026
चबड़-चबड़	भुवनविक्रम	पृ038	चुलबुलाना	भुवनविक्रम	पृ066
नोंच-करोंच	वही	पृ0270	बिलबिलाना	गढ़कुण्डार	पृ146
तमककर	गढ़कुण्डार	पृ0250	कुड़मुड़ाकर	माधवजीसिंधिया	पृ289
फड़फड़ाकर	माधवजीसिंधिया	पृ0472	कलपते-तड़पते	वही	पृ447

1—इत्ती =	इतनी	गढ़कुण्डार	पृ033	तोरो =	तेरा	झाँसी की रानी,		152
				हमाओ =	हमारा,	वही		पृ0152
मोसों =	मुझसे	वही	पृ020	मोये =	मुझे	वही,		पृ152
ऊके =	उसके	वही	पृ070	ऊपै =	उसपर	वही,		पृ152
कितै =	कहाँ	वही	पृ0147	कीकौ =	किसका	वही		151
				ई =	इस	वही		151
अपुन खाँ =	अपने को	वही	पृ0147	ऊखाँ =	उसको	वही		151
का =	क्या	झाँसी की रानी,	पृ154	बौ =	वह	वही		151
तिहि =	उसको	वही	पृ0154	बे तौ =	वे तो	वही		150
				इतै उतै=	इधर उधर	वही		150

2—झाँसी की रानी, पृ0 154

(छ) "काय जू अब झाँसी में का होने?[1] (क्यों जी अब झाँसी में क्या होगा?) "हम गाँव वारे इतनईं में समझ जात होते तो का न हतो। तनक उल्था करके बताओ।"[2] (हम गाँव वाले इतने में ही समझ जाते होते तो क्या न था, तनिक अनुवाद करके बताओ) यह वार्तालाप भी ग्रामीणों का है। "मोसों और छोटे राजा से जो बाते भई हैं, वे मोये सुनानैं हती।"[3] (मुझसे और छोटे राजा से जो बाते हुईं वे मुझे सुनानी थीं) "हाँ—आँ सिर नीचा करके वह उँगरी से जिमीन कुरेदने लगी।"[4] (हाँ, सिर नीचा करके उँगली से जमीन कुरेदने लगी) एक स्त्री ने कीचड़ का लड्डू फस्स से उसकी छाती पर रेल दिया।"[5] (एक स्त्री ने कीचड़ का लड्डू बनाकर फस्स की ध्वनि करता हुआ उसकी छाती पर मार दिया) "एक बेचवार चीख उठा — बैल बिसावन जाओ कन्ता, छेरा के जिन देखो दन्ता।"[6] "काये जू कितै खौं जा रए' काए तुमै का करनै।"[7] (क्यों जी तुम किधर जा रहे हो, तुम्हें क्या करना है।)

वैसे तो वर्मा जी के प्रत्येक उपन्यास में आंचलिक शब्दावली मिलती है। किन्तु आंचलिक वाक्यावली उपर्युक्त संदर्भों से सम्बन्धित उपर्युक्त उपन्यासों में ही मिलती है। उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्मा जी के बुन्देली के वाक्य आकार में लघु किन्तु भाव एवं विचार की दृष्टि से बड़े ही सटीक होते हैं। उनमें बीच-बीच में व्यंग्य, लोकोक्तियों एवं मुहावरों का भी प्रयोग मिलता है। माधुर्य मृदुता और सौष्ठव इन वाक्यों की अपना विशेषताएं हैं। बुन्देली वाक्यों के प्रयोगों से वर्मा जी के संवाद बड़े ही सटीक, स्वाभाविक और बेजोड़ लगने लगे हैं। अन्य विशेषता यह है कि उन्होने घनघोर आंचलिकता पूर्ण शब्दों का प्रयोग जानबूझ कर नहीं किया। क्योंकि बुन्देली से अनभिज्ञ पाठकों को अर्थ अनुसंधान करने में बाधा उपस्थित हो सकती थी।

उपर्युक्त व्याकरण की विशेषताओं के अतिरिक्त संधि, समास आदि से सम्बन्धित कोई उल्लेखनीय विशेषता आंचलिक भाषा बुन्देली में नहीं पायी जाती।

वर्मा जी ने अपने कुछ उपन्यासों में बुन्देली लोकगीतों का भी प्रयोग किया है जो उनके आंचलिक बोध के रागात्मक परिचायक हैं। वे उपन्यास हैं — उदयकिरण, अहिल्याबाई, मृगनयनी, विराटा की पद्मिनी, संगम। यहाँ पर कतिपय बुन्देली गीतों के अंश उद्धृत किए जा रहे हैं।

1- झाँसी की रानी, पृ0सं0 149
2- वही, पृ0 सं0 149
3- गढ़ कुण्डार, पृ0 सं0 98
4- अहिल्याबाई, पृ0 सं0 34
5- मृगनयनी, पृ0सं0 7
6- सोना, पृ0 सं0 89
7- संगम, पृ0 सं0 10

"उबई न होय बारे चन्दा

हम घर होयँ लिपना पुतना

सास न होय देवै गरियाँ

ननद न होय कोसै बिरना।"[1]

उपर्युक्त बुन्देलखण्ड में विशेष प्रचलित हैं। विजय दशमी के सांस्कृतिक पर्व में यहाँ की बालिकाएँ अपने घरेलू जीवन के उच्छ्वास को जिन मधर शब्दों में व्यक्त करती हैं वे कितने रमणीय हैं।

होली के पर्व-उल्लास में ग्रामीण स्त्रियों के बीच में निन्नी के समवेत स्वर से यह गीत फूट निकला —

जाग परी मैं पिय के जगाये

भाग जगे पिय मोरे घर आये

उन नैनन में नींद कहाँ है, जिन नैनन में आप समाये।"[2]

होली के गीतों में अपने राजा के सम्मानार्थ लोक जीवन कितना राजात्मक होता था, इसकी झलक इस गीत में देखिए —

"मान खेलै होरी राज माना

खेलै होरी ....।"[3]

उदय किरण उपन्यास में ग्रामीण स्त्रियाँ उदय नामक ग्रामीण के आग्रह पर कलक्टर को एक गीत सुनाती है। जिसमें एक ग्रामीण स्त्री के कर्तव्य परायणता अपने पारिवारिक परिवेश के उमंग में इस प्रकार निखर उठी है —

"हँस-हँस ननद संग कुंवला पैजाऊँ

लाऊँ भर गंगाजल भोजन पकाऊँ

कटाऊँ करबी मिल गट्ठा घर लाऊँ।"[4]

एक ग्रामीण स्त्री सूर्योदय की बेला में सेज पर बैठे हुए अपने पति को कर्तव्य परायणता का ध्यान दिलाती हुई कहती है ——

1- संगम, पृ० सं० 90

2- मृगनयनी, पृ० सं० 11

3- मृगनयनी, पृ० सं० 332

4— उदय किरण, पृ० सं० 75

"सूरज चढ़ आबो सीस पै अगिन दोपरी होय
काहे बैठे सेज पै जू? काम करे कुछ होय।
खेत पै जाओ गोड़ो निराओ, सींच घरै आओ
खलियान कों जाओ, दाँय चलाओ, अनाज घर ल्याओ।"[1]

इसी प्रकार विवाह के पूर्व स्त्रियाँ हल्दी से रंगकर पुरूखों की पूजा में दीवाल पर स्वस्तिकों पर हत्था लगाती हुई गाती है —

"सरग फिरन्ती वो गिरधन्नी मक नीवता लईं जाय
धवसिंह नीवता थेने, ले जोअई जावो मंडवा की रात।"[2]

(अर्थात् हे स्वर्ग की अप्सरा मेरा यह नेवता पहुँचा देना धनसिंह को नेवता देती आना, वह मंडवे की रात अवश्य आ जावे।)

इस प्रकार इस गीति से बुन्देलखण्डीय आंचलिकता एवं परम्परा का बोध होता है। विराटा की पद्मिनी में पद्मिनी के मुख का गीत भी कितना अच्छा है —

"मलिनियाँ फुलवा ल्याओ नंदन वन के, ऊँची-नीची घटिया डकर पहार
जहाँ वीरा लँगूरा लगाईं फुनवार, मालीनियाँ फुलवा ल्याओ नन्दन वन के।"[3]

इस प्रकार गीतोंके द्वारा भी वाक्यगत आंचलिकता का सफल बोध होता है। मेरे विचार से लेखक ने अपने उपन्यासों में इन आंचिलिक लोगगीतों को तीन कारणों से स्थान दिया है।

(1) पात्रों की वास्तविकता की अभिव्यक्ति के लिए
(2) बुन्देलखण्डी लोकजीवन से अपने मनोराग की अभिव्यक्ति के लिए
(3) पाठकों को अपनी मातृभाषा की मधुरता समझाने के लिए।

निश्चित रूप से वर्मा जी अपने इन तीनों लक्ष्यों की पूर्ति में शतप्रतिशत सफल हुए हैं। ग्रामीण अंचल से इन गीतों का चयन करने में भी लेखक ने जिन प्रसंगों की अवतारणा की है वे भी बड़े मधुर हैं। ऐसा लगता है कि अपने आंचलिक जीवन से उन्हें अत्यधिक अनुराग था जिसे बिना व्यक्त किए हुए उनका लेखकीय व्यक्तित्व सन्तुष्ट नहीं हो पाता क्योंकि लोकगीतों की यह विशेषता होती है कि वे लोककवि या लेखक के मानस-पटल पर सदैव विराजते रहते हैं और सुअवसर पाते ही झुक्-झुककर इस प्रकार झाँकने लगते हैं कि जिनके दर्शन से सहृदय पाठक भी मंत्रमुग्ध हो कृतार्थ हो जाता है और वह उनके अन्य उपन्यासों में वैसे ही मधुर लोकगीतों की खोज में लग जाता है।

1- उदयकिरण, पृ०सं० 88
2- अहिल्याबाई, पृ० सं० 87
3-विराटा की पद्मिनीः पृ०सं० [illegible]

(ख) लोकोक्तियाँ एवं मुहावरे :—

उपन्यासों में लोकोक्तियाँ एवं मुहावरे भाषा में पर्याप्त सजीवता ला देते हैं। ये मुहावरे लोकजीवन के घनिष्ट सम्पर्क में रहने पर ही लेखक की लेखनी के साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध बना पाते हैं। वर्मा जी का व्यक्तित्व लोक जीवन के साथ ऐसा घुला-मिला था कि वे अपने बुन्देलखण्ड के जीवन को वहाँ के रहन-सहन को, वहाँ की वैयक्तिक विशेषताओं को कभी नहीं भुला सके। बुन्देली भाषा के प्रति उनका जितना रागात्मक संबंध रहा है उतना संभवतः किसी आँचलिक भाषा से नहीं रहा। उन्होने दो प्रकार के मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग किया है। एक तो वे हैं जो प्रायः अनेक क्षेत्रों में प्रयुक्त होते हैं। दूसरे वे हैं जो केवल बुन्देलखण्ड क्षेत्र में ही प्रयुक्त होते हैं। वर्मा जी के प्रयोग की यह विशेषता है कि उन्होने हिन्दी के लोक प्रसिद्ध मुहावरों को भी बुन्देली के रंग में रंग कर प्रस्तुत किया है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह मुहावरों बुन्देली के ही हैं। यह उनका शैलीगत विशेषता का सुपरिणाम है। द्वितीय प्रकार के मुहावरों में बुन्देलखण्ड का विशुद्ध जीवन गहराई से झाँकता हुआ प्रतीत होता है अतः हम उन्हें केवल आँचलिक कह सकते हैं। यहाँ पर उनके उपन्यासों में आये हुए दोनों प्रकार के मुख्य मुहावरों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

धमकने लगा मठा मूसल की [1] (बेसिर पैर की बात करने लगा)

तोरई छोकना[2] (बीच में बकवास करना)

तिड़ी भूल जाना [3] (किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाना)

बैर बिसाना [4] (व्यर्थ में शत्रुता लेना)

छक्के पंजे की उड़ना[5] (बहस मुबाहसा होना)

मलाई तुम चाटो धूल हम फाँके [6] (मजा तुम करो कष्ट हम झेलैं)

दाँये हाथ का किया बाँया न देख पाये[7] (अत्यन्त गोपनीयता से कार्य करना)

निमक हरामी [8] (कृतघ्नता)

नौ सौ चूहे मारकर नर्मदा तीर्थ पर जा बैठा है।[9] (जघन्य अपराध को करके पुण्य कमाने का ढोंग करना)

धौल धप्प करना [10] (मारपीट करना)

1-मृगनयनी, पृ० 30
2- वही, पृ०सं०149
3- वही, पृ०सं० 166
4- अहिल्याबाई, पं०सं० 32
5-अहिल्याबाई, पं०सं०11
6- वही, पं०सं० 13
7- वही, पं०सं०16
8- वही, पं०सं० 80
9- अहिल्याबाई, पं०सं०103
10- वही, पं०सं० 117

फूटी कौड़ी के मोल जाना[1]	(मूल्यविहीन हो जाना)
कानी आँख भी न देखना[2]	(अत्यन्त उपेक्षित करना)
भाड़ ही झोंका[3]	(बेकार का काम किया)
दो ठौ खरी सुनाना[4]	(कुछ कटु बाते कहना)
तले की टटोल लेता हूँ[5]	(हृदय की बात जान लेना)
नाक जड़ से कटना[6]	(बिलकुल बेइज्जती हो जाना)
जी उजला हो जाना[7]	(हृदय पवित्र हो जाना)
हाथ पसार कर टटोलना[8]	(श्रम करके खोजना)
दूधो कुल्ले करती रहना[9]	(अत्यधिक सुखमय रहना)
पलकों में रहना[10]	अतिशय प्रिय होना)
धूरे के दिन फिरना[11]	(उपेक्षित का भी समय बदलना)
अपनी-अपनी खिचड़ी पकाना[12]	अपनी-अपनी अलग-अलग बात कहना)
काँटो की टोपी सिर पर रखना[13]	(खतरे से भरा हुआ उच्च पद प्राप्त करना)
उल्टी आँति गले पड़ना[14]	चाल करने वाले पर ही आपत्ति आना)
एक के निन्यान्नवे बनाना[15]	(सत्यता से बहुत आगे बढ़चढ़ कर बातें करना)
बुरे घर बायना देना[16]	(बुरे व्यक्ति के साथ चालबाजी करके उलझ जाना)
दन्ता किटकिट होना[17]	(कलह होना)
घर की कुरैया से आँख फूटना[18]	(जिसको अपना समझा जाता है वही धोखा देता है)
नाक के बाल बने फिरना[19]	(अपने को बहुत ऊँचा समझना)
भूजी भाँग न होना[20]	(खाने को कुछ न होना)
राई रत्ती बजा लाना[21]	(कर्तव्य का पूरा पूरा निर्वाह करना)

1-प्रेम की भेंट, पृ०सं०17

2- वही, पृ०सं० 53

3- वही, पृ०सं० 63

4- लगन, पृ०सं० 8

5- वही, पृ० सं०22-23

6- वही, पृ०सं०46

7- वही, पृ०सं० 48

8- वही, पृ०सं० 63

9-सोती आग, पृ०सं०4

10-वही, पृ०सं०4

11- वही, पृ०सं०19

12- वही, पृ०सं० 20

13- वही, पृ०सं० 41

14- मुसाहिब जू, पृ०सं०49

15- वही, पृ०सं०94

16- संगम, पृ०सं०59

17-संगम, पृ०सं० 74

18-वही, पृ०सं० 75

19- वही, पृ०सं० 104

20- वही, पृ०सं० 105

21- कचनार, पृ०सं० 280

घास सी काटना [1]	(तुरन्त नष्ट कर देना)
कुतका बता दउँ [2]	(परास्त करना)
छाती पै उर्दा दखाऊत[3]	(समीप बस ही कष्ट देना)
बिलैया दण्डौत[4]	(छलपूर्ण विनम्रता)
छाती पर होला भुनवाना[5]	पास ही रहकर अत्याचार करना)
एक लोढे से दो चिड़ियाँ लुढ़काई[6]	(एक पंथ दो काज करना)
छेड़ छाड़ लेना [7]	(युद्ध मोल लेना)
छोड़ छुट्टी होना [8]	(तलाक देना अथवा त्याग देना)
दूध के धुले होना [9]	(पवित्र होना)
गाज सी टूट पड़ना[10]	(एक बारगी कठोर विपत्ति आना)
धूल में मूसल पटकना[11]	(व्यर्थ प्रयास करना)
लल्लो-चप्पो करना [12]	(चापलूसी करना)
वन में मोर नाची किसने जानी[13]	(मातृभूमि से उन्नति करना किस काम)
ठकुर सुहाती कहना [14]	(चापलूसी करना)
पानी बिलमना[15]	किसी बात के प्रवाह का रूक जाना)
कौन बौ बसाता बाँट रओ[16]	(अच्छी देन देना)
छार-छार करना [17]	(टुकड़े-टुकड़े करना)
फबती कसना[18]	(चुभती हुई बात कहना)
बादल देखकर पोतला न फोड़ना[19]	(किसी प्राप्ति की आशा से प्राप्त का परित्याग न करना)
किनारा काटना[20]	(तटस्थ हो जाना)
पारा गरम होना [21]	(क्रुद्ध होना)

1-कचनार, पृ0सं0 296
2- गढकुण्डार, पृ0सं0 72
3- वही, पृ0सं0 127
4- वही, पृ0सं0 132
5- वही, पृ0सं0 145
6- माधव जी सिन्धिया, पृ0सं0 501
7- वही, पृ0सं0 488
8- माधव जी सिन्धियाँ, पृ0सं0488
8-दुर्गावती, पृ0सं0 227
10- माधव जी सिन्धियाँ, पृ0सं0 163
11-सोना, पृ0सं0 10
12- वही, पृ0सं0 3
13- वही, पृ0सं0 70
14- वही, पृ0सं0140
15- सोना, पृ0सं0146
16-झाँसी कीरानी, पृ0146
17-वही, पृ0151
18-वही, पृ0सं0316
19-उदयकिरण, पृ026
20- वही, पृ089
21- वही, पृ0सं047

पेट और पीठ मारना[1] (मजदूरी न देकर शारीरिक दण्ड देना)
पिंजरा खाली करना[2] (स्थान रिक्त कर देना)
चोटी का पसीना एँड़ी पर आ जाना[3] (कठोर परिश्रम पड़ना)
चून लगाकर शहीद बनने को आगये[4] (कृत्रिमवेश बनाकर त्यागी बनने का ढोंग करना)
उल्टी पट्टी पढ़ाना[5] (विपरीत बात सिखाना)
कउये के कोसने से ढोर नहीं मरता[6] (किसी तुच्छ के बुरा मनाने से कुछ नहीं बिगड़ता)

लोकोक्तियों और मुहावरों की इतनी लम्बी सूची के पश्चात् यह सिद्ध हो जाता है कि वर्मा जी के उपन्यासों में न केवल शब्द अपितु उनके वाक्यों में भी आंचलिकता के दर्शन होते हैं। उनके मुहावरे बहुत कुछ बुन्देलखण्ड क्षेत्र मेंही विशेष प्रचलित हैं। जिनमें भाव, व्यंजना, आंचलिक जीवन बोध, और तीखा व्यंग्य मिलता है। उनके प्रयोगों से भाषा में एक सुन्दर प्रवाह, निखरता हुआ प्रतीत होता है और भाषा अकृत्रिम सी प्रतीत होने लगती है। चट-पटापन सादगी प्रफुल्लता उल्लास और मस्ती के फुहारों में पाठक एक क्षण के लिए डूब सा जाता है। कहना न होगा कियह बुन्देलखण्डी मुहावरे वर्मा जी की भाषा के अमूल्य आभूषण हैं।

शब्द शक्ति-वैशिष्ट्य :——

किसी भी लेखक के पास शब्द ही उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम होते हैं। काव्य शास्त्र के अनुसार शब्द तीन प्रकार के होते हैं — वाचक, लक्षक, व्यंजक। इस आधार पर अभिधा, लक्षणा और व्यंजना ये तीन शब्द शक्तियाँ मानी जाती हैं। इनमें लक्षणा और व्यंजना में चमत्कार अधिक होता है और काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने इनके अनेक भेदोंपभेदों का वर्णन किया है। जहाँ तक अभिधा शक्ति का प्रश्न है वह साक्षात् सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति किया करती है अतः अपने सारल्य के कारण अभिधा शक्ति विशेष चमत्कार पूर्ण नहीं मानी जाती। यह उल्लेखनीय है कि लक्षणा और व्यंजना का सारा चमत्कार अभिधा की मूल भित्ति पर आधारित होता है। यहाँ सर्वप्रथम वर्मा जी के उपन्यासों में उन शब्दों में शब्द शक्ति का चमत्कार दिखलायेंगे जो किसी न किसी वाक्य के अन्तरगत प्रयुक्त हुए है और जिनमें पूर्ण या आंशिक रूप से आंचलिकता भी विद्यमान है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम एक व्यापक तथ्य पाते हैं

1- कभी न कभी, पृ0सं0 28
2- वही, पृ0सं0 54
3- अचल मेरा कोई, पृ0सं0 35
4- अचल मेरा कोई, पृ0सं0 93
5- भुवन विक्रम, पृ0सं0 199
6- वही, पृ0सं0 156

कि वर्मा जी ने अनेक सार्थक शब्दों के साथ उनसे मिलते -जुलते जोड़ेदार निरर्थक शब्दों के साथ का भी प्रयोग किया है जिनसे भाषा में अभूतपूर्व चमत्कार आ गया है और उनकी अभिधा शक्ति किसी भी प्रकार लक्षणा और व्यंजना से कम महत्वपूर्ण नहीं लगती। इस बात की पुष्टि के लिए यहाँ पर ऐसे अनेक वाक्य मूल रूप में उदधृत किए जा रहे हैं जिनमें अभिधा प्रधान शब्दावली का चमत्कार विद्यमान है ——"वृक्षों के बड़े बड़े पल्लवों को खरभरा-खरभरा कर पवन मानव किसी दूर देश को चला जा रहा था।"[1] यहाँ पर रेखांकित शब्द पल्लवों के खर-भर की ध्वनि को साकार करता हुआ प्रतीत होता है। भाषा विज्ञान के अनुसार ऐसे शब्द ध्वन्यात्मक श्रेणी में आते हैं। "कभी सनसनाहट और कभी सड़सड़ाहट इन्हीं ध्वनियों में होकर नाहर डरे हुए साँभरों और चीतलों को कभी तीक्ष्ण और कभी मंद पुकार।"[2] यहाँ पर सनसनाहट तीव्रगति का बोधक है और सड़सड़ाहट पल्लवों से सटकर तीव्र गति का बोधक है। जिसमें ध्वनि अधिक उत्पन्न होती है। इन दोनों गत्यार्थक शब्दों में कितना सूक्ष्म अन्तर है इसको लेखक ने भलीभाँति समझा है। "ततूरी के मारे लाखी के पैर जल रहे थे।"[3] यहाँ ततूरी शब्द संतप्त भूमि की तपी हुई पथ की धूलि के लिए आया है । सामान्यतया 'ताप या तपता' शब्द गर्म होने अर्थ में प्रयुक्त होता है और ऊरी प्रत्यय कर्ता अर्थ में प्रयुक्त होता है इस प्रकार ततूरी का अर्थ उष्मा युक्त भूमि से हुआ जिसे लेखक एक ही शब्द के द्वारा व्यक्त कर दिया है और उस आंचलिकता का बोध कराने के लिए जल रहे' थे' क्रिया भी रख दिया है इससे आंचलिक शब्द का अर्थ भी अनायास स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार सैकड़ों शब्द अकेले मृगनयनी' उपन्यास में ही मिलजाते हैं। लेखक ने अधिकांश ध्वन्यात्मक शब्दों का बड़ा ही सफल प्रयोग किया है जैसे फड़र-फड़र,[4] छितरा-छितरा[5] चचक चमक,[6] कुगत - जुगत,[7] डाँग-डूँगर[8] बिरबिरायी[9] टन्नाती-सन्नाती[10] झिलझिलान[11] आदि।

झाँसी की रानी' उपन्यास में भी अभिधा प्रधान शब्दावली का चमत्कार दर्शनीय है। यह अपवाद खुसफुस के रूप में फैला। यहाँ पर खुसफुस शब्द का अर्थ गुपचुप कान में कहना है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में पर्याप्त महत्वपूर्ण है।'क्या ऊल-जलूल साफा बाँधे है।"[12] यहाँ पर ऊल-जलूल शब्द अव्यवस्थित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

1- मृगनयनी, पृ०सं० 14

2- वही, पृ०सं० 14

3- वही, पृ०सं० 47

4- वही, तथा 5 से 11 तक - वही, क्रमशः पृ०सं०- 45, 85, 110, 136, 163, 270, 297, 249

12- झाँसी की रानी, पृ०सं० 43

'अनिवर्य माथा टेक सलाम'[1] मस्तक झुकाकर अनिवार्य रूप से प्रणाम करना। 'अपुन लोग जरा नशा पत्ता करेंगे'[2] यहाँ पर नशा पत्ता का तात्पर्य तम्बाखू आदि सेवन से है जो बुन्देलखण्ड में नशा पत्ता या धुआँ धक्कड़ के नाम से जाना जाता है।

महारानी दुर्गावती में भी इस प्रकार के शब्द पर्याप्त मात्रा में हैं। यथा —'दूर के कमरों में हल्ला-गुल्ला हो रहा है।[3] यहाँ पर 'हल्ला-गुल्ला' शब्द शोर करने अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वास्तव मेंहल्ला का अर्थ शब्द और गुल्ला का अर्थ कुछ चुराना या छिपाने से होता है। आमतौर पर आपस में जब कोई भी किसी की चीज चुरा लेता है और पारस्परिक कलह होने लगता है तब उस हँगामे की स्थिति में हल्ला गुल्ला शब्द का प्रयोग होता है। अर्थ गाम्भीर्य की दृष्टि से यह शब्द भी कितना स्वारस्यपूर्ण है।

'अहिल्याबाई' उपन्यास में भी लेखक ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग किया है जिनमें अभिधा का चमत्कार लक्षणा से कम महत्वपूर्ण नहीं है। यथा —' परन्तु चोरी-चपाटी के अपने इस धँधे से अधिक समेट लेता था'।[4] यहाँ चोरी का अर्थ चोरी करना और चपाटी का अर्थ मारकाट करना है। क्योंकि जब चोर लोग घिर जाते हैं वे मारकाट पर भी उतारू हो जाते हैं। इतने बड़े अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए लेखक ने कैसा चुभता हुआ शब्द चुना है। 'श्रीपत ने घिघयाने पतियाने का रूपक किया।'[5] यहाँ पर रेखांकित शब्द दैन्य प्रदर्शित करने अर्थ में प्रयुक्त हुआ है वास्तव में जब व्यक्ति में दूसरे से दया प्राप्त करने की आतुरता होती है तब उसका गला रूँध जाता है। जिसको घिग्घि बँध जाना भी कहते हैं इसी से घिघियाना शब्द बना है। और विश्वास करने अर्थ में पतियाने का प्रयोग होता है। जब व्यक्ति किसी बड़े आदमी या अधिकारी के सामने विश्वास भरी चिरौरी -बिनती करता है तब उक्त शब्द का प्रयोग होता है लेखक ने उक्त आंचलिक शब्द का प्रयोग करके अपनी अभिधा शक्ति का कितना प्रौढ़ परिचय दिया है।

सोना' शीर्षक उपन्यास में भी इस प्रकार की व्यापक शब्दावली के दर्शन होते हैं जिनमें लेखक की अभिधा शक्ति का सहज में ही ज्ञान हो जाता है। यथा — 'अजूबा कुछ हिचिर-मिचिर कर रहा था।'[6] बुन्देल खण्ड में 'हिचिर-मिचिर' का अर्थ इधर उधर करना होता है। अपने आंचलिक रूप में यह शब्द कितना विचित्र लगता है। सम्भवतः अंग्रेजी के 'हिच'और हिन्दी के 'मिच' शब्द से आंचलिक 'इर'प्रत्यय लगाकर यह दोनों शब्द बने हैं जो प्रथक-पृथक 'हिचक' और विचलित होने अर्थ में हैं किन्तु सामूहिक रूप में इधर-उधर करना अर्थ इसलिए

1-झाँसी की रानी, पृ0सं0 167
2- वही, पृ0सं0
3-महारानी दुर्गावती, पृ0सं0 25
4- अहिल्याबाई, पृ0सं0 60
5- वही, पृ0सं0 93
6— सोना, पृ0सं0 65

संगत है कि किसी हिचक के होने पर ही कोई व्यक्ति किसी काम के करने में विचलित होता है। इसी प्रकार एक वाक्य यह भी है —'अनूप ने पुटियाया, पुचकारा'।[1] इसका सामान्यतया अर्थ फुसलाना होता है। जब कि कोई व्यक्ति किसी काम को करने में आनाकानी करता है तब चतुर व्यक्ति उस प्रतिकूल हुए व्यक्ति को अपनीओर उन्मुख करता है इसी को बुन्देलखण्ड में 'पुटियाना' कहते हैं। और जब वह चौंकता है तब उसे शान्त करने की आवश्यकता होती है। इसी को 'पुचकारना' कहते हैं। दोनों शब्दों को मिलाकर लेखक ने अभिधा जनित अर्थ गाम्भीर्य को कितनी बुद्धिमत्ता के साथ बढ़ा दिया है।

'लगन' शीर्षक पुस्तक में भी उस प्रकार की शब्दावली दर्शनीय है। 'बादलों के पल्लड़ के पल्लड़ अटूट पानी, पृथ्वी के ऊपर, मूसलाधार बहाने लगे।'[2] यहाँ पर पल्लड़ के पल्लड़ का तत्पर्य 'समुदाय' के समुदाय' से है जो अपनी आंचलिकता में कुछ लाक्षणिक सा प्रतीत होता है किन्तुबुन्देलखण्ड में अभिधा प्रधान ही माना जाता है।

'संगम' शीर्षक पुस्तक में आंचलिक शब्दावली का अभिधेय रूप दर्शनीय है। यथा— 'इस पूँछताँछ और रपोटा-रपोटी में हम तुम सब आफत में पड़ेगें।'[3] यहाँ पर पूँछताँछ और 'रपोटा-रपाटी' दोनों शब्द अभिधा के चमत्कार के द्योतकहैं। अंग्रेजी के रिपोर्ट शब्द से 'रिपोटा-रपाटी' शब्द आंचलिक रूप में निर्मित हैं जो रिपोर्ट इत्यादि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। विदेशी शब्दों को जो आंचलिक रूप में ढाल लेना वर्मा जी की विशेषता है।

'सोती आग' शीर्षक उपन्यास में ऐसी शब्दावली और भी अधिक महत्वपूर्ण प्रयुक्त हुई है। यथा —'लुन्ज-पुन्ज लष्ट्-पष्ट" किसी तरह घर की राह पकड़ी और प्राण बचाये।"[4] यहाँ पर 'लुंज-पुंज' लष्ट-पष्ट" का तत्पर्य लँगड़े और लड़खड़ाते हुए है। जो अपने शब्द स्वारस्य और वर्ण मैत्री के आधार पर अर्थ के ध्वन्यात्मक द्योतक है।

'अचल मेरा कोई' उपन्यास में अभिधेय शब्दों का चमत्कार इस प्रकार है — 'उसके स्वागत के लिए इतना गुल-गपाड़ा हो रहा है'।' यहाँपर 'गुल गपाड़ा' का अर्थ शोरगुल से है जो अपनी ध्वनि के आधार पर शोरगुल और गप्प के लिए बुन्देलखण्ड में प्रयुक्त होता है।

1- सोना, पृ०सं० 101

2- लगन, पृ०सं० 36

3- संगम, पृ०सं० 32

4- सोती आग, पृ०सं० 113

5- अचल मेरा कोई, पृ०सं० 21

'कभी न कभी' शीर्षक उपन्यास में भी ऐसे शब्द विद्यमान हैं। यथा— चबड़-चबड़ मत कर, निकल जा'।[1] 'चबड़-चबड़' करना मुहावरा सा लगता है किन्तु रूढ़ि दशा में यह अभिधा का ही शब्द माना जाता है। ध्वन्यात्मक होने के कारण यह उस समय प्रयुक्त होता है जब कोई व्यक्ति व्यर्थ ही अपनी बात झोंके चला जाता है। चब-चब की ध्वनि तभी उत्पन्न होती है जब वक्ता बहुत जल्दी जल्दी अपनी बात को कहने के लिए मनमानी ऊल-जलूल बकता चला जाता है।

इसी प्रकार वर्मा जी के उपन्यासों में अभिधा शक्ति का चमत्कार भी महत्वपूर्ण है उन शब्दों में आंचलिकता के कारण और भी स्वरस्य बढ़ गया है यद्यपि ऐसे शब्द लक्षणा और व्यंजना के निकट तक पहुँच जाते हैं किन्तु रूढि के आधार पर हम उन्हें वाचक शब्द ही मानते हैं जो अभिधा से गतार्थ होते हैं।

वर्मा जी उपन्यासों में लक्षणा और व्यंजना प्रधान शब्दावली भी पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त हुई है जिनसे भाषा में अद्वितीय चमत्कार, अक्षुण्ण प्रवाह और अप्रतिम सौन्दर्य उत्पन्न हो गया है। लक्षणा और व्यंजना के अनेक उदाहरण अनके विभिन्न उपन्यासों से उद्धृत किए जा रहे हैं। 'झांसी की रानी' 'लक्ष्मीबाई' उपन्यास में कतिपय लाक्षणिक और व्यंजना प्रधान शब्दों का चमत्कार इस प्रकार है यथा —— 'बैठे जो रऔ, कौन बौ बसाता बाँट रओ'।[2] यहाँ पर बतासा बाँटना' मुहावरे का प्रयोग है जो सादृश्यात् वर्णा लक्षणा का उदाहरण है जिसका अर्थ है बताशा की भाँति कोई मीठी वस्तु। इसका प्रयोजन ही व्यंजना है जिसका तत्पर्य है कि वह कोई ऐसी प्रिय या मधुर वस्तु नहीं दे रहा जो उत्तम एवं महत्वपूर्ण हो। इस प्रकार एलिस के तिरस्कार की भावना यहाँ पर व्यंजना के द्वारा अभिव्यक्त की गयी है। उल्लेखनीय हैं कि 'बताशा' शब्द को वर्ण व्यत्यय के आधार पर बशाता कहने की प्रथा बुन्देलखण्ड में प्रचलित है अतः इस मुहावरे में आंचलिकता का भी चमत्कार विद्यमान है। इसी प्रकार 'अहिल्याबाई' उपन्यास में लक्षणा एवं व्यंजना प्रधान शब्दों का अच्छा प्रयोग किया गया है। यथा —'आप डाँटे, फटकारे, धौल धप्प भी कर दें, तो सुधर जायेगा।'[3] यहाँ पर धौल धप्प शब्द मारने पीटने अर्थ में प्रयुक्त हुआ है यह रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण है साथ ही साथ इसमें आंचलिकता भी विद्यमान है।

'मृगनयनी' उपन्यास में भी लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार विद्यमान है। इसके कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं।— 'भाग्य में जो बदा होगा वही होगा, इसी कुटे-पिटे आसरे में सन्तोष था।'[4] यहाँ पर कुटा-पिसा आसरा एक लाक्षणिक प्रयोग है जो सादृश्यात्

1- कभी न कभी, पृ०सं० 3   2— झांसी की ~~नन्न~~ रानी, पृ०सं० 15।

3— अहिल्याबाई, पृ०सं० 117   4— मृगनयनी, पृ०सं० 273

गौड़ी लक्षणा का बोधक है जिसका अर्थ परम्परा प्रधान विश्वास से है। जिस प्रकार खड़ी बोली में 'घिसा-पिटा' का प्रयोग होता है उसी प्रकार बुन्देली में इसी 'कुटे-पिसे' का प्रयोग किया गया है। "तरकश में से लोहे का एक तीर निकाल कर उसको दिया। कहा, अटक भीर पड़ने पर एक और दूँगी।"[1] यहाँ पर आवश्यकता पड़ने पर इस अर्थ में अटक भीर पड़ने का प्रयोग किया गया है जो रूढ़ि लक्षणा का द्योतक है। इसके अतिरिक्त इसमें आंचलिकता भी है। "अब तो इस तगड़ी गाँव वाली को छकाना है।"[2] यहाँ पर छकाना शब्द लक्षणा एवं व्यंजना प्रधानहै जिसका अर्थ जी भर परेशान करना है। यह गौडी लक्षणा का उदाहरण है और पर्याप्त परेशान करना उसका व्यंग्यार्थ है।

इसी प्रकार 'गढ़कुण्डार' उपन्यास में लक्षणा व्यंजना आंचलिकता के परिवेश मेंक बड़ी सुन्दर छटा दिखलाई है। यथा — 'मर जैओ, बलबूजा फूटो।"[3] यहाँ पर 'बलबूजा' पूर्णतः आंचलिक है जो गौडी लक्षणा के आधार पर एक प्रकार के बाँसुरी के समान 'अलगोजा' नामक बच्चों के बाजे के लिए प्रयुक्त हुआ है किन्तु यहाँ पर जीर्ण शीर्ण शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है। व्यंजना यह है कि मेरा शरीर अत्यन्त जीर्ण हो गया है अतः मृत्यु सन्निकट है। इतने बड़े अर्थ की अभिव्यक्ति करने में लेखक ने आंचलिकता का कितना सुन्दर प्रयोग किया है।

'कचनार' उपन्यास में इस प्रकार की शब्दावली भी विद्यमान है। यथा — "आँखों में तारे से छुटक गये।"[4] यहाँ पर मुहावरे का प्रयोग किया गया है जो लक्षणा और व्यंजना से पूर्ण है। जिसका तात्पर्य नया प्रकाश फैल जाना है। और व्यंजना के आधार पर आँखों में नेये उत्साह की झलक उत्पन्न हो जाना अर्थ होता है। आंचलिकता यह है कि 'छिटक गये' के स्थान पर छुटक गये' का प्रयोग बुन्देलखण्ड क्षेत्र में प्रचलित है। 'लूटमार के अवसर का समाचार मिलते ही उसकी बाँछे खिल उठती थीं'।"[5] यहाँ पर 'बाँछे खिल उठना' रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण है जिसका अर्थ प्रसन्न हो जाना होता है।

'उदयकिरण' उपन्यास में —' यह सब टटे की बातें हैं।'[6] यहाँ पर 'टटे' शब्द आंचलिक है रूढ़ि लक्षणा के आधार पर इसका तात्पर्य झूठ या काल्पनिक अर्थ होता है। 'भुवनविक्रम' उपन्यास में भी लाक्षणिक एवं व्यंजना प्रधान शब्द अपने सुन्दर रूप में प्रयुक्त हुए है। यथा —' पास आकर कड़कड़ाई।'[7] यह भी लाक्षणिक प्रयोग है जो कड़-कड़' की ध्वनि के आधार पर कठोर शब्द ऊँचे स्वर बोलने के अर्थ मेंप्रयुक्त हुआ है।

1-मृगनयनी, पृ0सं0 45
2- वही, पृ0सं0 286
3- गढ़कुण्डार, पृ0सं0 151
4- कचनार, पृ0सं0 133
5- वही, पृ0 सं0 210
6- उदयकिरण, पृ0सं0 45
7—भुवनविक्रम, पृ0सं0 7

'उधर राजा भी नकेल तानते हैं।'[1] यहाँ पर नकेल तानना एक मुहावरा है जो चापलूसी करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ पर सादृश्यात् गौडी लक्षणा है और व्यंग्यार्थ यह है कि जिस प्रकार नकेल ऊँट के लगती है उसी प्रकार राजा भी ऊँचा होता है। जैसे ऊँट की नकेल तानने पर वह प्रसन्न होता है उसी प्रकार चापलूसी करने पर राजा भी प्रसन्न होता है इस अर्थ की अभिव्यक्ति करने पर इस वाक्य का प्रयोग किया गया है जो वक्रोक्ति का भी सुन्दर उदाहरणहै।

'लगन' उपन्यास में ऐसे शब्दों का चमत्कार इस प्रकार है। यथा — जी में मिसरी सी घुल रही होगी।'[2] मन ही मन प्रसन्न होना इस अर्थ में इस मुहावरे का प्रयोग हुआ है जो रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण है। एक अन्य उराहरण इस प्रकार है —' आप लोगों के दर्शन भर कर लेने से, सच मानिये, जी उजला हो जाता है।'[3] यहाँ पर जी उजला हो जाना एक लाक्षणिक प्रयोग है जो गौडी लक्षणा के आधार पर निर्मलता का या प्रसन्नता का द्योतक है। इसी प्रकार सोना उपन्यास में ऐसे शब्द देखिए —' अनेक अनचाही विपत्तियाँ पलेथन में सिर पर आवे।'[4] यहाँ पर पलेथन में सिर पर आना एक प्रकार का मुहावरा है जिसका अर्थ लक्षणा के आधार पर गौड रूपमें अपने ऊपर आ पड़ना है इस प्रकार पलेथन शब्द लाक्षणिक होता हुआ भी अपनी आंचलिकता का उत्तम बोधक है।

'कभी न कभी' उपन्यास मेंइस प्रकार के शब्द पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। यथा — पढ़ो या पिंजरा खाली करो।'[5] यह पूरा मुहावरा है जो लक्षणा और व्यंजना से परि-पूर्ण है। रूढ़ि लक्षणा के आधार पर इसका तात्पर्य या अर्थ 'काम करो या स्थान छोड़ो' होता है। इसी प्रकार 'तुम्हारे यहाँ पास आ जाने से मन फूल उठता है'[6] यहाँ पर चित्त प्रसन्न हो जाने से तात्पर्य है जो गौडी लक्षणा के आधार पर घटित होता है और व्यंजना के आधार पर मन की कोमलता और सुन्दरता की अभिव्यक्ति होती है।

इस प्रकार वर्मा जी के उपन्यासों में तीनों शब्द शक्तियाँ अपने समुचित रूप में विद्यमान हैं जिनमें प्रायः आंचलिकता की भी गहरी छाप लगी हुई है। ऐसा सशक्त उपन्यासकार अभी तक कोई देखने में नही आया जिसने शब्दशक्ति के स्वाभाविक एवं आंचलिक चमत्कार के साथ शब्दों, वाक्यों एवं मुहावरों का इतना सुन्दर प्रयोग किया हो, अस्तु भाषायी आंचलिकता की दृष्टि से वर्मा जी के उपन्यास सर्वाधिक उत्कृष्ट प्रतीत होते हैं।

1- भुवनविक्रम, पृ0सं0 7
2- लगन, पृ0सं0 25
3- लगन, पृ0सं0 48
4- सोना, पृ0सं0 111
5- कभी न कभी, पृ0सं0 54
6- कभी न कभी, पृ0सं 106

चतुर्थ अध्याय

वर्मा जी के उपन्यासों में सांस्कृतिक आंचलिकता

चतुर्थ अध्याय

वर्मा जी के उपन्यासों में सांस्कृतिक आंचलिकता

संस्कृति मनुष्य को मानवता की ओर प्रेरित करने वाले आदर्शों, आचार - विचारों और कार्यों, अनुष्ठानों की समष्टि का नाम है। अन्य जीवन-व्यापी सत्यों के समान इस शब्द का भी आज अनेक विधि से प्रयोग हो रहा है। इतिहासवेत्ता, दार्शनिक धर्मविद, समाजशास्त्री, और साहित्यिक अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार संस्कृति के स्व-रूप को ग्रहण करते हैं। इतिहासकार के लिए किसी देश का कलात्मक और बौद्धिक वि-कास ही संस्कृति है। दार्शनिक संस्कृति को जीवन का प्रकाश और सौन्दर्य मानते हैं। धार्मिक दृष्टि से मनुष्य के लौकिक पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार-विचारों को संस्कृति कहा जा सकता है।[1]

संस्कृति शब्द का सम्बन्ध संस्कार से है जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। संस्कृत शब्द का भी यही अर्थ होता है। अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' में वही धातु है जो एग्रीकल्चर' में है। इसका अर्थ पैदा करना या सुधारना है। संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं और जाति के भी। जातीय संस्कारों को भी संस्कृति कहते हैं।[2] जल-वायु के अनुकूल रहन-सहन की विधियों और विचार-परम्पराओं के जाति के लोगों में दृढ़ मूल हो जाने से, जाति के संस्कार बन जाते हैं। इनको प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी प्रकृति के अनुकूल न्यूनाधिक मात्रा में पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त करता है। ये संस्कार व्यक्ति के घरेलू तथा सामाजिक जीवन में परिलक्षित होते हैं। मनुष्य अकेला रहने पर भी इनसे छुटकारा नहीं पा सकता। ये संस्कार दूसरे देश में निवास करने तथा दूसरे देशवासियों के सम्पर्क में आने से कुछ परिवर्तित भी हो सकते हैं और कभी-कभी दब भी जाते हैं। किंतु अनुकूल वातावरण प्राप्त होने पर फिर उभर आते हैं। इतिहासवेत्ता, दार्शनिक, धर्मविद् समाजशास्त्री, और दार्शनिक और साहित्यिक अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार संस्कृति के स्वरूप को ग्रहण करते हैं। इतिहासकार के लिए किसी देश का कलात्मक और बौद्धिक विकास ही संस्कृति है। दार्शनिक संस्कृति को जीवन का प्रकाश और सौन्दर्य मानते हैं। धार्मिक

1- कल्याण, हिन्दूसंस्कृति अंग, पृ० सं० 35

2- सेतुविधृतिरेषां लोकानाम संभेदाय , छान्दो० 8/4/1

दृष्टि से मनुष्य के लौकिक पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार-विचारों को संस्कृति कहा जा सकता है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से संस्कृति सीखे हुए व्यवहार की वह समग्रता है जिसमें मनुष्य का व्यक्तित्व पलता और पनपता है, सामान्य व्यवहार में तो विद्यालयों के नाटक गोष्ठी जैसी साहित्यिक गतिविधियों से लेकर गायन नृत्य आदि के कार्यक्रम तक सांस्कृतिक कार्यक्रमों की सूची में सम्मिलित हो जाते हैं। दृष्टिकोण के इसी वैविध्य के अनुसार संस्कृति विषयक परिभाषाओं में पर्याप्त मतभेद और कहीं कहीं विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अतः संस्कृति का निश्चय स्वरूप निरूपित करने के लिए शाब्दिक विवेचन व्युत्पत्ति, अर्थ आदि का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना होगा।

संस्कृति शब्द 'सम' उपसर्ग के साथ संस्कृत की कृ ( ) धातु से ‾ का आगम करके क्तिन् प्रत्यय लगाकर बनता है। जिसका मूल अर्थ साफ या परिष्कृत करना है। सुप्रसिद्ध विद्वान् पण्डित मोती लाल ने इस शब्द की निष्पत्ति को इस प्रकार स्पष्ट किया है —— संस्कृति शब्द के सम्-स-कृति ये मुख्य पूर्वविभाग हैं । पाणिनीय व्याकरण के नियमानुसार सम् उपसर्ग के आगे रहने वाले कृति करादि की अवस्था में सुट् का आगम हो जाता है फलतः समकृति और समकार आदि विभाग संस्कृति संस्कार आदि शब्दों में परिणत हो जाते हैं।[3] जिसका अर्थ शुद्धि, सफाई, संस्कार, सुधार, मानसिक विकास, सजावट, सभ्यता और शाइस्तगी होते हैं।[4] शब्दार्थ की अपेक्षा इस शब्द का भावार्थ अधिक विशद तथा व्यापक है, क्योंकि इसमें परिमार्जन या परिष्कार के अतिरिक्त शिष्टता एवं सौजन्य के भावों का भी समावेश हो जाता है।[5] आज की हिन्दी में यह अंग्रेजी शब्द 'कल्चर'[6] का पर्याय माना जाता है अतः कल्चर शब्द का अर्थ समझ लेना समीचीन होगा।

'कल्चर'

व्युत्पत्ति की दृष्टि से कल्चर cult धातु में ure प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा कोलर(COLERS) से निष्पन्न 'कुलटुरा(CULTURA) शब्द से हुई है। जो संक्षेप में पूजा करने तथा कृषि कार्य

1- गुलाबराय, भारतीय संस्कृति पृष्ठ 11 ?? x
2- कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक, पृ0 35
3- पं0मोती लाल शर्मा, सत्तानिरपेक्ष सांस्कृतिक शब्द एवं सापेक्ष सभ्यता शब्द का चिरन्तन इतिवृत्त तथा भारतीय सांस्कृतिक आयोजना की रूपरेखा, सम्वत् 2015 वि0पृ06
4- संक्षिप्त हिन्दी शब्द-सागर, काशी, नागरीप्रचारिणी सभा, पृ0 844
5- डा0प्रसन्नकुमार आचार्य, भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृ0 ?? x

का द्योतक है। कल्चर और कल्टीवेशन की व्युत्पत्ति मूलक और अर्थमूलक समानता को देखते हुए संस्कृति की प्रक्रिया के स्पष्टीकरण में डा० प्रसन्न कुमार आचार्य लिखते हैं — ''कल्टीवेशन का अर्थ कृषि है। भूमि की प्राकृतिक अवस्था को परिष्कार किया जाता है। रोड़े, कूड़ा-कर्कट और घास तिनके हटाकर भूमि शुद्ध की जाती है जिससे वह उर्वर बनती है। भूमि की भाँति मनुष्य की मानसिक और सामाजिक अवस्थायें भी विकसित हुआ करती हैं। संस्कृति अथवा कानून मनुष्य की सहज प्रवृत्तियाँ नैसर्गिक शक्तियाँ तथा उनके परिष्कार का द्योतक है।''[1]

कोलर शब्द का दूसरा अर्थ पूजा करना है। कल्चर से इसका सम्बन्ध योरोपीय विद्वान् ने इस प्रकार जोड़ा है कि 'जब यह शब्द प्रचलित हुआ तब मनुष्य घुमक्कड़ जीवन से आगे बढ़कर कृषि सीख चुका था और प्रकृति की शक्तियों से त्राण पाने के लिए उसकी पूजा आरम्भ कर दी थी। जो कि सुन्दर और प्रिय गतिविधियों पर आधारित थी।[2] अपने अस्तित्व के रक्षण और कृषि-कार्यों के लिए उसे अन्य सहयोगियों के सम्पर्क में आने की आवश्यकता हुई। जिससे सामाजिकता , सहयोग, संगठन, सद्व्यवहार जैसी प्रवृत्तियों का विकास हुआ। आपसी सम्बन्धों को व्यवस्थित बनाने के लिए कुछ नियम कायदे सोचे गए और सामाजिक संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ। संस्कृति के विकासक्रम की तृतीय अवस्था में मनुष्य का प्रकृति के साथ और मनुष्य का मनुष्य के साथ सम्पर्क हुआ। इस प्रकार कल्चर शब्द की व्युत्पत्ति का द्योतन करने वाले कोलर शब्द के दोनों अर्थों से आरंभ में उससे ग्रहण किये जाने वाले कृषि सम्बन्धी अर्थ की प्रधानता की पुष्टि हो जाती है। उक्त क्षेत्र में चलने वाली परिष्कार सुधार करने वाली कार्य पद्धति कृषि और मानव जीवन के प्राकृत रागद्वेषों में परिमार्जन करने वाली अवस्था संस्कृति कहलाती है।[3] यही कारण है कि दीर्घकाल तक Culter और Civilization एक ही अर्थ के बोधक समझे जाते रहे किन्तु इस शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ और आज के व्यावहारिक प्रचलित अर्थ के मध्य विभिन्न अवधारणाओं की एक परिवर्तनशील श्रृंखला ही है जैसा कि इस संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है। कल्चर शब्द का उक्त अर्थ ही जर्मन, रूसी, स्पेनिश आदि भाषाओं में दीर्घकाल तक प्रचलित रहा।

1- प्रसन्न कुमार आचार्य, भारतीय संस्कृति और सभ्यता, पृ० 1 54?

2- General Anthropology - Boas and others 1938 P. 4

3- साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० 100

संस्कृति पूर्णत्व की खोज है। वह पूर्णत्व जो मानव को मानवता और समाज को सर्वांगीण उन्नति की ओर प्रेरित करता है।[1] उन्होंने संस्कृति को सौन्दर्य और प्रकाश इन दो शब्दों से व्यंजित करते हुए यह माना है कि उसका उद्गम मात्र जिज्ञासा में नहीं वरन् मनुष्य के पूर्णत्व प्राप्त करने की चाह में है। यह शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने मात्र और वैज्ञानिक भावावेश की शक्ति से ही गतिमान नहीं होती अपितु कल्याण करने की नैतिक तथा सामाजिक भावप्रबलता से भी परिचालित होती है।[2] उनके अनुसार "संस्कृति का तत्पर्य है उन सभी विषयों पर, जिनसे हमारा सर्वाधिक संबंध है, संसार में जो कुछ सर्वोत्तम सोचा और कहा गया है उनका ज्ञान प्राप्त कर अपने सम्पूर्ण पूर्णत्व की प्राप्ति के उद्देश्य का अनुकरण तथा इस ज्ञान द्वारा अपनी परम्परागत धारणाओं और अभ्यासों पर नवीन एवं मुक्त चिन्तन की धारा प्रवाहित करना।"[3]

संस्कृति के व्यापक प्रभाव को स्पष्ट करने के लिए वे आगे कहते हैं ——
"धर्म वह महानतम एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रयास है जिसके द्वारा मानव जाति ने अपने को पूर्णत्व देने की प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया है। धर्म के समान ही संस्कृति का लक्ष्य भी मानवीय पूर्णत्व की प्राप्ति का प्रयास है। संस्कृति इस समाधान को अपेक्षाकृत अधिक सम्पूर्ण और निश्चितता प्रदान करने हेतु इस विषय पर व्यक्त मानव अनुभवों, कला, विज्ञान, काव्य, दर्शन, इतिहास, तथा धर्म की वाणियों में खोजती है।[4] नैतिकता की दृष्टि से संस्कृति सौन्दर्य और प्रकाश की उत्कण्ठा है।[5] आगे अर्नाल्ड ने संस्कृति का उद्देश्य इन शब्दों में स्पष्ट किया है ——" संस्कृति एक सामाजिक भाव है केवल व्यक्तिगत उन्नति आंशिक उपलब्धि है। सांस्कृतिक व्यक्ति समानता के दूत है जो कठिन दुस्साध्य और असाधारण ज्ञान को प्रकाश और सौन्दर्य को सर्वसुलभ करने का प्रयास करते हैं।[6] अपनी पुस्तक में की गयी विस्तृत और व्यापक व्याख्याओं के द्वारा मैथ्यू आर्नाल्ड ने संस्कृति की अवधारणा के कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों पर प्रकाश डाला ——

(1) संस्कृति मानव को पशुत्व से पूर्ण मानवत्व की ओर प्रेरित करती है।
(2) मानसिक विकास के द्वारा मानव मन को सुन्दर और प्रकाशपूर्ण बनाती है।
(3) धर्म, इतिहास, कला और साहित्य संस्कृति के अंग है।

1- Culture and Anarcy preface, P Mathew Arnold - P. XI
2- Ibid - P. 6
3- " P. 8
4- " Sweetness and Light P. 30

(4) सामाजिक भाव के द्वारा लोक कल्याण का मार्ग दर्शन करती है।

सुप्रसिद्ध विदेशी विद्वान् श्री रेडफील्ड ने संस्कृति की परिभाषा देते हुए लिखा है कि संस्कृति से हमारा अभिप्राय परम्परागत समझबूझों के संगठित समूह से है जो कला एवं कलाकृतियों में परिलक्षित होता है तथा मानव समूह की विशेषताएँ प्रगट करते हुए परम्परागत रूप में मान्य होता है। इस प्रकार संस्कृति अर्जित विशेषताओं का एवं व्यवहार के प्रतिमानों का योग है जो व्यक्ति एवं संस्था द्वारा आने वाली पीढ़ियों को हस्तान्तरित कर दिया जाता है।

मुनि श्री विद्यानन्द जी ने मनुष्य की शालीनता के तीन उपस्तम्भ — समाज, संस्कृति और सभ्यता माने हैं। समाज में वह बलता है संस्कृति क्षीर को पीकर पुष्ट होता है और सभ्यता के अश्व पर आरूढ़ होकर समय के राजमार्ग पर द्रुतगति से दौड़ लगाता है। समाज उसे सहस्रों वर्षों का संचित गौरवपूर्ण ऐतिह्य-उपायन भेंट करता है, संस्कृति उसे आत्मधर्म का अंगराग लगाती है और सभ्यता की सुरभि से उसके मन प्राणों को आप्यायन मिलता है।"

संस्कृति को मुनि श्री समाज की आचार संहिता मानते हैं क्योंकि बिना संस्कृति के समाज रचना की कल्पना नही की जा सकती है। वह समाज को मार्ग दर्शन कराती है और अयुक्त स्वेच्छागामिता से रोकती है। साथ ही वह अपनी विशिष्ट सम्पत्तियों से उसे विभूषित करती है। कहना चाहिए कि संस्कृति समाज तथा व्यक्ति को सुधारती है, सँवारती है और उज्जवलता प्रदान करती है। आत्मधर्मों का जागरण संस्कृति के पावन प्रभात में होता है। युग-युग में जिन आदर्श, आचारवान् महापुरूषों ने गहन गम्भीर ज्ञान सागर के मन्थन से जिन शाश्वत मूल्यवान् मणि-रत्नों का आविर्भाव किया, उन्हीं के संस्कृति कोष को समृद्धि मिली। वे सांस्कृतिक मणि-रत्न समाज के आचार में, व्यवहार में इतने तद्रूप हो गये हैं कि उन्हें अलग से ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रह गयी।[2]

कल्चर के सम्बन्ध में सबसे अधिक व्यवस्थित और अपेक्षाकृत सर्वांगीण चिन्तन आगे चलकर यूरोपीय समाजशास्त्रियों द्वारा प्रकाश में आया। संस्कृति व्यक्ति और समाज इस त्रिकोण को लेकर विविध दृष्टिकोणों और मतवादों के मन्थन से स्पष्ट हुआ कि प्रो०

1- Ibid. P. 30

2- पिच्छिकमण्डलु, पृ० 166

लेस्ली, पिडिग्टन और क्लुकहोम उक्त तीनों ही अनिवार्य अविच्छिन्नता के सम्बन्ध में एक मत है। प्रो0 लेस्ली के इस कथन ने कि —"मनुष्य तथा संस्कृति का उद्गम साथ-साथ हुआ है।"[1] एक ओर ए0एल0क्रोबर की इस मान्यता का "मानव की सार्थकता संस्कृति के कारण ही है।"[2] का समर्थन और स्पष्टीकरण किया और दूसरी ओर फ्रोबोआस आदि विद्वानों की इस मान्यता का खण्डन किया कि संस्कृति का आरम्भ कृषक जीवन के पश्चात् हुआ।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि अंग्रेजी का 'कल्चर' शब्द खेती, पूजा और संवर्धन आदि अपने मूल अर्थों में विकसित हुआ। आगे बढ़कर आलंकारिक रूप में प्रयुक्त होने लगा और आलंकारिक अर्थ में इसका अर्थ शिक्षा अथवा प्रशिक्षण द्वारा समुन्नत विकसित अथवा परिष्कृत करना हो गया।"[3]

परिष्कृति या परिमार्जन की क्रिया का सीधा सम्बन्ध कृ धातु से निष्पन्न होने वाले संस्क्रिया शब्द से है जो संस्कार करने या सुधारने की प्रक्रिया का सूचक है। इस प्रकार संस्कार और संस्कृति में कार्य-कारण सम्बन्ध मानना पड़ेगा। कुछ विद्वानों के मत में संस्कृति शब्द की अपेक्षा कल्चर का अर्थ द्योतन करने के लिए कृष्टि शब्द अधिक उपयुक्त है। तथापि उसको अब तक प्रयोग और औचित्य की दृष्टि से कोई सफलता नहीं मिल सकी है।[4] क्योंकि हिन्दी का संस्कृति शब्द न केवल कल्चर के विकसित अर्थ को आत्मसात कर चुका है बल्कि इसमें संस्कार संचालित या संस्कृत स्थिति के बोध की व्याख्या भी मिल चुकी है।

'संस्कृति' प्रचीन प्रयोग —

भ भारतीय वाङ्मय में संस्कृति शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन है।[5] वैदिक और पौराणिक साहित्य में विवेचित संस्कृति का स्वरूप विदेशी प्रभावों से मुक्त और विशाल

1- प्रो0 लैस्ली, द इवोल्यूशन आफ कल्चर, 1959, चेप्टर 1, पृ05

2- ए0एल0क्रोबर, एन्थोपोलोजी, चेप्टर 1, पृ0 8 ??

3- हितेन्द्र नाथ दत्त, इण्डियन कल्चर, पृ04

4-(अ) Ibid - P. 4 (ब) [illegible] - [illegible] पृ. ६५

5-(अ) अविच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।

सा प्रथमा संस्कृति श्वरा प्रथम वरुणो मित्रो अग्निः ॥ (यजुः संहिता 7/14)

(आ) योन्सोमानि यानि पृष्ठानि, यानि छन्दांसि, ऐतमारेव सा संस्कृति" (शतपथब्राह्मण 4/4/1/45)

मानवीय आदर्शों से सम्पृक्त है। छान्दोग्योपनिषद की निम्न श्लोक को देखिए ——

"सम्बन्धेषु वा मानवीयत्वदृष्ट्या प्रेरणाप्रदानां तत् आदर्शानां समष्टिरेव संस्कृतिः ....। वस्तुतस्तस्यामेव सर्वस्यापि सामाजिक जीवनस्योत्कर्ष पर्य्यवस्यति। तयैव तुलया विभिन्न सभ्यतानामुत्कर्षापकर्षौं मयिते। किं बहुना संस्कृतिरेव वस्तुतः सेत्तुर्विधृति रेखां लोकानां सम्भेदाय।" (छन्दोग्योपनिषद, 8/4/1)

अर्थात् किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन व्यापारों में या सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले तद् आदर्शों की समष्टि को ही संस्कृति समझना चाहिए। समस्त सामाजिक जीवन का परमोत्कर्ष संस्कृति में ही होता है। विभिन्न सभ्यताओं का उत्कर्ष तथा अपकर्ष संस्कृति द्वारा ही मापा जाता है।"[1]

संस्कृति का आधुनिक स्वरूप —

प्रसिद्ध विद्वान् डा0 सत्यकेतु विद्यालंकर के अनुसार " मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है उसी को संस्कृति कहते हैं।......... मनुष्य ने जो धर्म का विकास किया, दर्शन शास्त्र के रूप में जो चिन्तन किया, साहित्य संगीत और कला का जो सृजन किया सामूहिक जीवन को हितकर और सुखी बनाने के लिए जिन प्रथाओं और संस्कारों को विकसित किया, उन सबका समावेश हम संस्कृति में करते हैं।"[2]

कल्चर की सर्वप्रथम सर्वांगीण विवेचना करने वाले सुप्रसिद्ध मानवशास्त्री टाइलर के शब्दों में —— "संस्कृति नियम वह समुच्चय है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आदर्श, विधि और वे क्षमताएँ और आदतें सम्मिलित रहती है जिन्हें एक मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।"[3] संस्कृति मानव की अर्जनीय सम्पत्ति भी है और वही इसका नियामक भी है। इस तथ्य की पुष्टि में प्रसिद्ध समाजशास्त्री हर्स्कोविट्स की यह संक्षिप्त पर सशक्त परिभाषा प्रस्तुत की जा सकती है —"संस्कृति पर्यावरण का मानव निर्मित भाग है।"

पिछले पृष्ठ का शेष प्रतीक ——
3 (इ) :— अर्थात संस्कृतिरेव स प्रजापतिः , सा अग्निः, स यजमानः (शतपथब्रा08/3/4/1)

1-मंगलदेव शास्त्री, भारतीय संस्कृति का विकास, पृ0 3-4 संवत् 1970

2- डा0सत्यकेतु विद्यालंकर, भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ0 20

3- ई0वी0टाइलर, प्राइमिटिव कल्चर, पृ0।

इन दृष्टिकोणों से भिन्न संस्कृति के प्रति अधिक सूक्ष्म विचार भी कुछ विद्वानों के हैं। डा0 देवराज की दृष्टि में —"संस्कृति वस्तुतः उन गुणों का समुदाय है जिन्हें मनुष्य अनेक प्रकार की शिक्षा द्वारा अपने प्रयत्न से प्राप्त करता है। संस्कृति का संबंध मुख्यतः मनुष्य की बुद्धि, स्वभाव, और मनोवृत्तियों से है। संक्षेप में सांस्कृतिक विशेषताएँ मनुष्य की बुद्धि एवं स्वभाव की विशेषताएँ होती है। इन विशेषताओं का अनिवार्य संबंध जीवन के मूल्यों से होता है।"[1] तथा किसी भी जातीय अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों में विचार वाणी एवं क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है उसी का नाम संस्कृति है।"[2]

इसी बात को औरस्पष्ट करते हुए भारतीय संस्कृति के प्रसिद्ध ज्ञाता डा0 वासुदेवशरण अग्रवाल कहते हैं ——" संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। संस्कृति हवा में नहीं रहती । उसका मूर्तिमान रूप होता है। जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है।[3]

सुप्रसिद्ध कवि और विचारक श्री दिनकर संस्कृति की परिभाषा के साथ साथ उसके जीवन व्यापी प्रभाव पर बल देते हुए कहते हैं कि ——" संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं। इस लिए जिस समाज में हम पैदा हुए हैं अथवा जिस समाज में हम जी रहे हैं उसकी संस्कृति हमारी है, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमां करते हैं वह भी हमारी संस्कृति के अंग बन जाते हैं और मरने के बाद अपनी वस्तुओं के साथ साथ अपनी संस्कृति की विरासता भी अपनी सन्तानों के लिए छोड़ जाते हैं। इसलिए संस्कृति वह चीज मानी जाती है जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ हैं। यही नहीं बल्कि संस्कृति हमारा पीछा जन्म जन्मान्तर तक करती है।"

कुछ अन्य विद्वान् अवधारणा स्वरूप और प्रक्रिया की दृष्टि से संस्कृति का सीधा संबंध संस्कारों से स्थापित करते हैं। संस्कृति उस दृष्टिकोण को कहते हैं जिससे कोई

1- डा0देवराज, भारतीय संस्कृति, पृ0 21

2- राजगोपालाचार्य, हिन्दू संस्कृति अंक कल्याण, पृ0 63

3- डा0 वासुदेव शरण अग्रवाल, 'कल और संस्कृति' पृ0 1

समुदाय विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टि निक्षेप करता है। यह दृष्टिकोण कई बातों पर निर्भर करता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि समुदाय की वर्तमान अनुभूतियों और पुरातन अनुभूतियों के संस्कारों के अनुरूप उसका दृष्टिकोण होता है।[1] संस्कार के प्रभाव के अतिरिक्त सुन्दर बनाने, सजाने सुधारने वाले अर्थ को लक्ष्य करके भारतीय संस्कृति और संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् श्री राम जी उपाध्याय अपनी परिभाषा में न केवल अवधारणा को स्पष्ट करते हैं अपितु संस्कृति की प्रेरणा स्रोत और प्रयोजन को भी उद्घाटित करते हैं। उनके अनुसार मानव ने जो प्रगति की है उसके मूल में वृद्धि और सौन्दर्य की अभिरूचि है। इसका अवलम्बन लेकर वह संसार की यथेष्ट रूपरेखा बनाता जा रहा है। वह स्वभावतः किसी रचना को पूर्ण मानकर सन्तोष नहीं कर लेता, बल्कि नित्य ही कल की वस्तुओं को यथाशक्ति पूर्ण या सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता है। सुन्दर बनाने, सुधारने या पूर्ण बनाने का प्रयत्न मनुष्य की बुद्धि एवं सौन्दर्य भावना के विकास का परिचय देता है। मानव का यही विकास संस्कृति है। संस्कृति का मूल अर्थ सुधारना, सुन्दर या पूर्ण बनाना है।[2]

संस्कृति मनुष्य एवं उसके पर्यावरण के मध्य एक अन्तवर्ती विचार है। वह मानव समूहों के और धर्म के समरूपता स्थापन की प्रकृति का प्रकाशन है। संस्कृति और मानव समूहों की अन्तः क्रियाओं का नैरन्तर्य सामाजिक प्रगति एवं सामाजिक सम्बन्ध का प्रेरक होता है। सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक प्रतिमान परस्पर अन्तर्सम्बद्ध होते है। यदि सामाजिक संरचना समान जीवन पद्धति को अंगीकार करने वाले व्यक्तियों का संगठित स्वरूप है तो संस्कृति सर्व स्वीकृत जीवन पद्धति है। यदि सामाजिक संरचना सामाजिक सम्बन्धों का समुच्चय है तो संस्कृति उन सम्बन्धों का आधार है।"[3]

किसी भी संस्कृति की रूपरेखा आदर्श और मूल्य एक दिन में किसी एक व्यक्तिद्वारा निर्मित नहीं होते अपितु सर्वांगीण विकास के इस क्षेत्र में पीढ़ी दर पीढ़ी प्राचीन अनुभवों का उपादानों द्वारा हस्तान्तरण होता रहता है। पुनर्वृत्तियों में समय और शक्तियों की क्षति करना आवश्यक नहीं होता तथापि सामाजिक और ऐतिहासिक आव-

---

1-डा0 सम्पूर्णानन्द, हिन्दू संस्कृति अंक कल्याण, पृ0 70 जनवरी, 1950

2- डा0 राम जी उपाध्याय, भारत की प्राचीन संस्कृति, 1938, पृ0 2

3- हिन्दी विश्वकोश, 12वाँ खण्ड, पृ0 447

श्यकताओं की पूर्ति के लिए नवीन परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित करने की क्रिया-प्रक्रिया में नवीनीकरण की प्रसक्रिया जाने अनजाने चलती रहती है। सामंजस्य और समायोजन संस्कृति के मूल गुण हैं।

मनुष्य जन्म से ही मानवता के सम्पूर्ण गुणों से सम्पन्न नहीं होता बल्कि वह धीरे धीरे सामाजिक वातावरण में रहकर संस्कृति के गुणों का अर्जन करता है। समाज के कार्य व्यवहार उसकी मानसिक और शारीरिक रूचियों और क्षमताओं के घात-प्रतिघात से विशिष्ट प्रतिक्रियाओं को जन्म देते हैं, विविध संस्कारों द्वारा मनुष्य अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में अपना पद खोजने की चेष्टा करता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि हमारी संस्कृति प्रकृति की गोद में पली हुई आध्यात्मिक संस्कृति है, जिसमें विनय और शील को प्रमुखता दी गयी है। सब में एक ही आत्मा के दर्शन करने का प्रयत्न किया गया है और सब के लिए सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ' की सद्भावना की गयी है।

भारतीय संस्कृति की महत्ता —

संस्कृति स्थिर वस्तु नहीं है। फिर भी उसमें कुछ शाश्वत तत्व हैं, और कुछ परिवर्तनशील हैं। हमारी संस्कृति में जो शाश्वत तत्व हैं वे मानवता के तत्व हैं। अद्वेष - भाव, आत्मौपम्य दृष्टि, करूणा, मैत्री, मुदिता, के तत्व हमको भारतीय संस्कृति ही नही अपितु मानव संस्कृति की ओर ले जाते हैं। हमारा अद्वेष-भाव हमको सब संस्कृतियों से उत्तम और संरक्षणीय तत्वों को ग्रहण करने के लिए प्रेरित करता है। हमारा हिन्दुत्व दूसरों के साथ अद्वेष-भाव रखने में ही संरक्षित रहा है। दूसरों के साथ उदारता करके हम अपनी ही संस्कृति का पोषण करते हैं, किन्तु दूसरों के साथ उदारता का व्यवहार करते हुए हमको यह न भूलना चाहिए कि हमारी संस्कृति हमारे देश की जलवायु और वातावरण के अनुकूल है। हम अपनी संस्कृति पर गर्व करना सीखें। हमारीसंस्कृति में पर्याप्त वैज्ञानिकता है। विशेषकर खान-पान में नियमों में। हमारी पोशाक भी देश के वाता - वरण के अनुकूल है। हमारी संस्कृति जीवित और सबल है। दूसरी संस्कृतियों के संरक्षणीय तत्वों को अपनाकर भी अपनत्व और अपनी विशेषता रख सकती है। हमको अपनी विशेषताओं का अध्ययन करना चाहिए। हमारे रीति-रिवाज, पर्व और उत्सव भी हमारी संस्कृति के परिचायक हैं। हमारी संस्कृति के विराट स्वरूप के ये अंग हैं। हमको संस्कृति के बाहरी चिह्नों का आदर करते हुए और उसको अपनाते हुए उसकी आत्मा को न भूलना चाहिए।

सभ्यताऔर संस्कृति ——

प्रायः सभ्यता और संस्कृति शब्दों का परस्पर पर्याय के रूप में प्रयोग किया जाता है। वैज्ञानिकों के अनुसार दो शब्द पर्यायवाची हैं।[1] तथापि यह दोनों शब्द समानार्थी नहीं है। वैसे साधारण रूप में एक अर्थ में प्रयोग कर लिया जाता है। यद्यपि 18 वीं और 19 वीं शताब्दी के विद्वानों ने सभ्यता तथा संस्कृति को दो पृथक धारणाओं के रूप में स्पष्ट करनेका प्रयत्न जरूर किया लेकिन उनका विवरण पूर्णतया दर्शन पर आधारित था। उनके अनुसार संस्कृति का संबंध शिष्टाचार और मस्तिष्कके प्रशिक्षण से है जबकि सभ्यता का अर्थ कला और विज्ञान की विकसित अवस्था से है। समाजशास्त्रीय रूपों से सभ्यता और संस्कृति इस अर्थ में भिन्न हैं कि संस्कृति का संबंध सामाजिक जीवन के विचारात्मक पक्ष से है, जबकि सभ्यता विशेष रूपसे भौतिक पक्ष से सम्बन्धित है।[2] सामान्य रूप से सभ्यता का अर्थ सभी प्रकार की भौतिक वस्तुओं के संचय से समझा जाता है, वास्तविकता यह है कि समस्त भौतिक वस्तुओं तथा सभ्यता के अन्तर्गत हम केवल भौतिक पदोर्थों को सम्मिलित करते हैं जो एक साधन अथवा माध्यम के रूपमें हमारी अवश्यकताओं को पूरा करते हैं। सभ्यता मूल अर्थ में तो व्यवहार की साधु ता की द्योतक होती है। 'सभायां साधवः सभ्याः' किन्तु अर्थ विस्तार से यह शब्द रहन-सहन की उच्चता तथा सुखमय जीवन व्यतीत करने के साधनों, जैसे कला-कौशल, स्थापत्य, ज्ञान-विज्ञान की उन्नति पर लागू होता है।[3] जिस सभ्यता का आधार संस्कृति में नहीं वह सभ्यता, सभ्यता नहीं। संस्कृति की आत्मा के बिना सभ्यता का शरीर शव की भाँति निष्प्राण रहता है। सभ्यता और संस्कृति शब्द समानार्थी नहीं है और इनका प्रयोग व्युत्पत्ति और पारिभाषिक दोनों ही रूपों में भ्रामक है।

सभ्यता व्युत्पत्ति ——

व्युत्पत्ति की दृष्टि से सभ्यता शब्द सभ्य से निष्पन्न है। जिसका स्पष्ट संबंध सभा से है। सभ्यता मूल अर्थ में तो व्यवहार की साधुता की द्योतक होती है। सभा में बैठने की समझ रखने वाला या उसमें बैठने वाला सभ्य कहलाता है और सभ्य का

1- हिन्दी साहित्य कोश, पृ0 869

2- टी0बी0 बाटमोर , सोसियालोजी, पृ0 122-29

3- भागवत शरण उपाध्याय, सांस्कृतिक भारत, पृ0 5

1. 44

उचित व्यवहार सभ्यता है।[1] सभा का अर्थ गोष्ठी, समिति आदि है। अर्थात् सभ्य समूहवाची संज्ञा है। अतः सभ्यता शब्द सामाजिक व्यवहार के उचित ज्ञान का सूचक हुआ। सभ्यता का एक अर्थ सदस्यता भी है। सदस्यता किसी सभा या समाज इत्यादि की हो सकती है। इस प्रकार सभ्यता एक सामाजिक गुण है जिसके अन्तर्गत संसार की अपेक्षा मनुष्य की व्यवहार कुशलता और रीति नीतियों को महत्व दिया जाता है। जबकि मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए आत्मगत और समाजगत दोनों संस्कारों की अनिवार्यता है।

यद्यपि समाज से संस्कार व्यक्ति के मार्ग दर्शक होते हैं और उसके संस्कृत चरित्र के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभातेहैं तथापि मनुष्य केवल अनुकरणकर्ता ही नहीं नियामक भी है।

सिविलिजेशन ——

संस्कृति का स्वरूप निरूपित करते हुए उसके साथ 'कल्चर' की अवधारणा को समझाना जिस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से अनिवार्य है उसी प्रकार सभ्यता के प्रचलित पर्याय 'सिविलिजेशन' को समझना भी। पूर्व विवेचन के अनुसार यह उल्लेख हो चुका है कि यूरोप में 'कल्चर' और'सिविलिजेशन' शब्दों का लम्बे समय तक पर्याय के रूप में प्रयोग होता रहा। यद्यपि व्युत्पत्ति कीदृष्टि से उनमें पर्याप्त भेद है। सामाजिक विज्ञान के विश्वकोश के अनुसार प्राचीन लैटिन में सिविलिस विशेषण का सिविलवास' विशेष्य नागरिकता से संबंधित सामान्य गुणों और विशेषतः एक निश्चित शिष्टता एवं वरिष्ठ जनों द्वारा मान्य सौजन्य के बोधक थे। जिससे इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप में लैटिन भाषा से व्युत्पन्न शब्द की उत्पत्ति हुई। 18वीं शती के मुक्तवादी मनीषियों द्वारा इस नूतन शब्द रूप का निर्माण हुआ जिनमें से डा0 जानसन के जीवनी लेखक डा0 बासवेल ने इसको सर्वप्रथम अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत किया।[2] इस दृष्टि से सिविलिजेशन' भी सभ्यता के समान व्युत्पत्ति सामाजिक आचारण की आदर्श विशिष्टता का द्योतक सिद्ध हुई। व्युत्पत्ति संबंधी उल्लेख से सभ्यता का एक अन्य गुण नागरिकता भी विवेचनीय है। सिविलिजेशन में निहित नागरकता का भाव धीरे धीरे अर्थ व्याप्ति के सिद्धान्त से सब प्रकार की भौतिक

1- गुलाबराय, भारतीय संस्कृति, पृ0 72

2- आर0ए0सेलिगमैन, इनसाइक्लोपीडिया आफ सोसल साइंसेज, पृ0526, वाल्यूम 3, 1954

उन्नति व्यापारिक और औद्योगिक विकास एवं राजनैतिक और सामाजिक प्रगति से सम्न्वित होता गया। जो लोग सामाजिक स्तर, बौद्धिकता या वैभव की दृष्टि से अधिक सम्पन्न थे वे अपने सभ्य मानने लगे।[1] प्रसिद्ध समाजशास्त्री फिलिप बग्बी नेसभ्यता को वह संस्कृति माना है जिससे नगरों का संस्थापन होता है।[2]

सभ्यता और संस्कृति ——

उद्भव और विकास की दृष्टि से सभ्यता और संस्कृति के अन्तर्गत वे सब योजनाएँ व उपलब्धियाँ आ जाती है जिनको मनुष्य ने अपनी बुद्धि और सूझबूझ से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्राप्त किया है जो उसे पशुता से दूर मानवता की ओर ले जाने में सफल हुई। संस्कृति और सभ्यता में जो मूलभूत अन्तर है उसे कांट ने सबसे पहले इस प्रकार स्पष्ट किया है —"सभ्यता तो वाह्य व्यवहार की वस्तु है किन्तु संस्कृति कोनैतिकता की आवश्यकता होती है तथा आन्तरिक व्यवहार की वस्तु है।" मैथ्यू आर्नोल्ड ने इसी बात का अनुमोदन करते हुए कहा है कि संस्कृति पूर्णतः और निहित आन्तरिक शक्तियों का परिचय देती है। इसका महत्व इस बात में नहीं है कि हमारे पास क्या है बल्कि इस ता में है कि हम क्या बन रहे हैं। यह बाहरी स्थिति नहीं मानसिक और आत्मिक अवस्था है।"[3] प्रसिद्ध विचारक दिनकर भी इसी बात को लगभग इन्हीं शब्दों में व्यक्त करते हैं — सभ्यमा यह बताती है कि हमारे पास क्या है?" जबकि संस्कृति से यह पता चलता है कि हम स्वयं क्या हैं?"[4] इसी को वह और स्पष्ट ढंग से कहते हैं कि —" संस्कृति सभ्यता की अपेक्षा महीन चीज होती है, यह सभ्यता के भीतर इसी तरह रहती है जैसे दूध में मक्खन और फूल में सुगन्ध।"

सभ्यता और संस्कृति की मूल प्रेरणायें भी भिन्न हैं। अपने शरीर के सुख के लिए प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आरम्भ से ही मनुष्य प्रयत्नशील रहा है। सभ्यता के विकास की इतिहास की नींव इसी भौतिक उन्नति की प्रेरणा पर जमा है। प्रकृति को अपने अनुकूल बनाने, वश में करने और उस पर विजय प्राप्त करके प्राकृतिक शक्तियों का प्रयोग मनचाहे ढंग से करने में उसने अद्भुत सफलता प्राप्त की है। विभिन्न आविष्कार

1- डा० कृष्णा अवस्थी, वृन्दावन लाल वर्मा में सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 37

2- Culture and History reading civilization. Phillip Begbey

3- Culture and Anracy - Mathew Arnold. P. 10

4- दिनकर, वट पीपल शीर्षक संस्कृति और सभ्यता

और खोज तथा नित्य नूतन प्रयोग सभ्यता के विकास की मंजिले हैं।

यह स्थूल उन्नति मनुष्य के विकास का केवल एक पक्ष है। केवल शरीर को सुखी करके उसे सन्तोष नहीं मिलता। उसे मन के सन्तोष के लिए भी कोई साधन चाहिए। सभ्यता समाज की वाह्य व्यवस्था का नाम है। संस्कृति व्यक्ति के अन्तर के विकास का। "[1] सभ्यता भौतिक विकास की जय यात्रा है और संस्कृति विचार, विश्वास, रूचि, कला और आदर्श की दुनिया है। "[2]

सभ्यता से तात्पर्य उन आविष्कारों , उत्पादन के साधनों एवं सामाजिक राजनैतिक संस्थाओं से समझना चाहिए। जिनके द्वारा मनुष्य की जीवन यात्रा सरल एवं स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त होता है। इसके विपरीत संस्कृति का अर्थ चिन्तन तथा कलात्मक सर्जन की वे क्रियाएँ समझनी चाहिए जो मानव व्यक्तित्व और जीवन के लिए साक्षात् उपयोगी न होते हुए भी उसे समृद्ध बनाने वाली है। इसी दृष्टि से विभिन्न शास्त्रों, दर्शन आदि में होने वाले चिन्तन , साहित्य, चित्रांकन, आदि कलाओं और परहित साधन आदि नैतिक आदर्शों एवं व्यापारों को संस्कृति की संज्ञा दी जाती है। "[3]

समाजशास्त्रियों ने भौतिक संस्कृति और 'अभौतिक संस्कृति' शब्दों के द्वारा हिन्दी विश्वकोशकार ने भौतिक संस्कृति और आधिभौतिक संस्कृति कहकर सभ्यता और संस्कृति में इस प्रकार अन्तर स्पष्ट किया है—" सामान्य अर्थ में आधिभौतिक संस्कृति को संस्कृति और भौतिक संस्कृति को सभ्यता के नाम से जाना जाता है। संस्कृति के यह दोनों पक्ष एक दूसरे से भिन्न होते हैं। संस्कृति आभ्यान्तर है इसमें परम्परागत चिन्तन, अनुभूति, कलात्मक अनुभूति, विस्तृत ज्ञान और धार्मिक आस्था का समावेश होता है। सभ्यता बाहरी वस्तु है जिसमें मनुष्य की भौतिक प्रगति में सहायक सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक तथा वैज्ञानिक उपलब्धियाँ सम्मिलित हैं। संस्कृति हमारी जीवन प्रवाह की उद्गम स्थली है और सभ्यता इस प्रवाह में सहायक उपकरण। "[4]

1- हजारी प्रसाद द्विवेदी, विचार और वितर्क, पृ0 123

2- भगवतशरण उपाध्याय, साँस्कृतिक भारत, पृ0 12

3- हिन्दी साहित्य-कोश, पृ0 869

4- हिन्दी विश्व-कोश, 12 वाँ खण्ड, पृ0 447

इस प्रकार संस्कृति में केवल कलाओं, दर्शन, धार्मिक एवं नैतिक परम्परा का ही सन्निवेश नही है अपितु उसकी व्यापक परिधि में मानव जाति का समस्त चेतना-मूलक जीवन आ जाता है। उसका सम्बन्ध मानव की अन्तश्चेतना सौन्दर्यानुभूति और आनन्दोल्लास आदि तत्वों से है जबकि सभ्यता भौतिक सुख सामग्री के संयोजन और उसके लिए आवश्यक संगठित प्रयासों का परिणाम है। संस्कृति का सम्बन्ध आत्मा से और सभ्यता का सम्बन्ध कार्य-कलापों से है।"[1]

"संस्कृति को मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति कहा गया है।"[2] इस सर्वोत्तम को ग्रहण किए बिना केवल सामाजिक व्यवहार में चतुर शिष्ट या सभ्य होने पर व्यक्ति स्वयं समृद्ध और वैभवशाली हो सकता है पर उसमें सामाजिक मंगल की प्रेरणा के उदय के संस्कार नहीं आ सकते हैं और ना ही उसे सही अर्थों में संस्कृत कहा जा सकता है।

एक प्रकार से सभ्यता मानव की उन्नति का साधन है और संस्कृति साध्य। सभ्यता के उपकरण मनुष्य के विकास के सूचक है पर वे केवल साधन मात्र है स्वयं लक्ष्य या साध्य नहीं उनकी सार्थकता का मूल्यांकन उपयोगिता कीकसौटी पर किया जाता है । परन्तु साध्य का मूल्यांकन नहीं होता प्रत्युत उसकी दृष्टि से उन साधनों का मूल्यांकन किया जाता है कि वे उक्त लक्ष्य के कहाँ तक अनुकूल है।"[3] किसी देश या समाज के विभिन्न व्यापारों में या सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले आदर्शों की समष्टि ही तो संस्कृति है।[4] संस्कृति का यही प्रेरक स्वरूप सूक्ष्म चेतना के रूप में भौतिक उपकरणों के प्रयोग का नियमन और निर्देशन करता है।

सभ्यता में उपयोगिता का दृष्टिकोण प्रधान होने के करण निरन्तर विकास का क्रम चलता रहता है। सभ्यता के उपकरण स्थूल उपयोग की वस्तु होने के कारण व्यापक रूपसे अपना लिए जाते हैं। देश जाति और धर्म इसमें बाधक नहीं होते हैं। संस्कृति धीरे धीरे होने वाली कृत्रिम किन्तु अनिवार्य स्थिति है जो मूलतः नैसर्गिक न होकर भी निरन्तर

1- डा0 प्रसन्नकुमार आचार्य, भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता , सं01014 पृ03,

2- डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, अशोक का फूल, पृ0 63

3- सत्यव्रत विद्यालंकार, समाजशास्त्र के मूलतत्व, पृ0 331-332

4- मंगलदेव शास्त्री, भारतीय संस्कृति का विकास, वैदिक धारा, पृ0 4

विकसित होती हुई परिस्थितियों के प्रति कुछ प्रकृत या स्वाभाविक हो जाती हैं। सभ्यता की स्थिति में पहुँचकर सामाजिक विकासकी कुछ मंजिलें पार कर लेने के बाद सामूहिक विरासत से व्यक्ति तथा उसका समाज अपनी परम्पराओं का निर्माण कर लेता है। आनन्द की चिरन्तन खोज ही मानव की मूल प्रवृत्ति है और संस्कृति का अर्थ चिन्तन तथा कलात्मक सर्जन की वे क्रियाएँ समझनी चाहिए जो मानव व्यक्तित्व और जीवन के लिए साक्षात् उपयोगी न होते हुए भी उसे समृद्ध बनाने वाली है। इसी कारण भौतिक उन्नति के शिखर पर पहुँचकर भी केवल कायिक सुख सुविधाओं की तृप्ति मात्र से सन्तुष्ट न होकर विभिन्न शास्त्रों, दर्शन आदि में होने वाले चिन्तन साहित्य, चित्रांकन आदि कलाओं एवं परहित साधन आदि नैतिक आदर्शों का संधान एवं व्यापारों का अनुष्ठान करता है।[1]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सभ्यता और संस्कृति मनुष्य की प्रेरणा और विजय के परिणाम है जिनमें से प्रथम आदिम बनैली स्थिति से सामाजिक जीवन की ओर मनुष्य की प्रगति का नाम है और द्वितीय प्रगति की सत्य, शिव और रुचिर परम्परा का।[2] सभ्यता संस्कृति दोनों एक दूसरे से अन्तः सम्बद्ध है और एक दूसरे को प्रभावित करती है, सांस्कृतिक मूल्यों का स्पष्ट प्रभाव सभ्यता की प्रगति की दिशा और स्वरूप पर पड़ता है। सभ्यता की नवीन उपलब्धियाँ भी व्यवहारों, मान्यताओं या दूसरे शब्दों में हमारी संस्कृति को प्रभावित करती है। इन दोनों में समन्वय की प्रक्रिया अनवरत रूप से चलती रहती है।[3] तथापि सभ्यता बाहरी और संस्कृति आन्तरिक तत्व है। संस्कृति हमारे सामान्य जीवन प्रवाह की उद्गम स्थली है और सभ्यता इस प्रवाह में सहायक उपकरण। सभ्यता साधन है और संस्कृति साध्य। सभ्यता सहज और सद्यः अनुकरणीय है, संस्कृति धीरे धीरे ही अपनायी जा सकती है। सभ्यता नजदीक की ओर दृष्टि रखती है संस्कृति दूर की ओर।[4] सभ्यता बाहरी आचार-विचार या सामाजिक संस्कार पर बल देती है और संस्कृति आत्मगत संस्कारों को महत्व देती हुई भी सामाजिक संस्कारों की उपेक्षा नहीं करती। इसी से सभ्य व्यक्ति असंस्कृत भी हो सकते हैं किन्तु संस्कृत व्यक्तियों, साधु,

---

1- हिन्दी साहित्य-कोश, पृ0 869

2- भगवत शरण उपाध्याय, सांस्कृतिक भारत, पृ0 ~~448~~ 12

3- हिन्दी विश्व-कोश, 12वाँ खण्ड, पृ0 448

4- विचार और वितर्क, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हमारी संस्कृति और साहित्य का संबंध, पृ0 153-54

महात्माओं, और मनीषियों को सभ्यता के उपादानों से रहित होने पर असभ्य नहीं कहा जा सकता। सभ्यता अविवेक और अनाचार पर प्रतिबन्ध लगा सकती है संस्कृति अन्तः-प्रेरणा और आत्म संस्कार द्वारा न केवल अशुभ, अमंगल का दमन करती है। बल्कि सदाचार और लोक मंगल की ओर शाश्वत रूप से प्रेरित करती है। सभ्यता के निकट कानून मनुष्य से बड़ी चीज है लेकिन संस्कृति की दृष्टि में मनुष्य करनून से परे है।[1] सभ्यता के विकास की गति तीव्र होती है और संस्कृति की अपेक्षाकृत धीमी , फलस्वरूप सभ्यता विकासक्रम में संस्कृति से आगे निकल जाती है। इस असन्तुलन के निवारण हेतु संस्कृति में पुनर्मूल्यांकन के प्रयास चलते रहते हैं। आभ्यान्तर या आधिभौतिक तत्व होते हुए भी संस्कृति के वाह्य चिन्ह और उपादान होते हैं। सभ्यता और संस्कृति में शीर और आत्मा का संबंध है। संस्कृति वैचारिक केन्द्र बिन्दु होने के साथ-साथ अमूर्त विचारों, आदर्शों, एवं भावनाओं को विविध रूप में मूर्तीकरण द्वारा प्रगट करती है। संस्कृति मनुष्य के विकास और उच्च अभावों की पूर्ति का साधन है। यह सभ्यता से सुसज्जित मानव के मान को अलंकृत करती है। दैनिक आवश्यकताओं के बोझ ढोते मन के लिए ऊँचे और रूचिर रंजन का विधान है। निरन्तर विकासशील जीवन, प्राकृतिक पर्यावरण, इतिहास और परम्पराओं के समन्वित प्रभाव का नाम ही संस्कृति है। यह स्वाभाविक और अनायास धीरे धीरे चरित्र में रम जाने वाला तत्व है। अतः किसी व्यक्ति, समाज, या राष्ट्र को बलपूर्वक दूसरी संस्कृति में दीक्षित नहीं किया जा सकता है। सभ्यता अपेक्षाकृत ऊपरी तत्व है उसे ग्रहण करने को विवश किया जा सकता है। सभ्यता का हस्तान्तरण उद्योग रहित होता है। देश-धर्म आदि उसमें बाधक नहीं होते। परन्तु संस्कृति सूक्ष्म तत्व होने के साथ-साथ किसी देश के भौगोलिक और प्राकृतिक स्थितियों, सामाजिक परम्पराओं, रीति-रिवाजो-नीतियों और लोक विश्वास आदि से अनुप्राणित होने के कारण देशगत या समाजगत परम्परा के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र की निजी सम्पत्ति होती है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि सभ्यता और संस्कृति में अन्योन्याश्रय संबंध है। सभ्यता संस्कृति की वाहक है। इस प्रकार सभ्यता संस्कृति को आगे बढ़ाने वाली होती है। और यह उचित माध्यम का कार्य करती है। सभ्यता सांस्कृतिक क्रियाओं को शक्ति प्रदान करती है। सभ्यता के साधन हमें अतिरिक्त समय देते हैं, जिसके दौरान संस्कृति

1- विचार और वितर्क, हजारी प्रसाद द्विवदी, हमारी संस्कृति और साहित्य का संबंध पृ0 153-154

संस्कृति के तत्वों का विकास करना सम्भव होता है। इस प्रकार संस्कृति के विकास की मात्रा और उसकी प्रकृति सभ्यता के उपकरणों द्वारा ही प्रभावित होती है। संस्कृति सभ्यता की दिशा को प्रभावित करती है। प्रत्येक समाज का एक सांस्कृतिक स्तर और सांस्कृतिक दृष्टिकोण होता है। तथा सभ्यता के सभी अंग इसी के अनुसार कार्य करते हैं। मैकाइवर ने कहा है कि —" जहाज सभ्यता का अंग है। लेकिन इस जहाज की बनावट किस प्रकार की होगी और यह कौन-कौन से बन्दरगाह पर जायेगा इसका निर्धारण उस समाज के सांस्कृतिक मूल्यों द्वारा होगा।" इससे यह स्पष्ट होता है कि सभ्यता ही संस्कृति को प्रभावित नहीं करती बल्कि संस्कृति भी सभ्यता का रूप निश्चित करने में उतना ही महत्वपूर्ण करक है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि सभ्यता और संस्कृति को एक दूसरे से पृथक करके नहीं समझा जा सकता। भारतीय समाज के इतिहास में तो 'संस्कृति' और 'सभ्यता' का रूप इतना मिला-जुला रहा है कि इन दोनों को कभी भी एक दूसरे से पृथक करने का प्रयत्न नहीं किया गया। यह तथ्य भी संस्कृति और सभ्यता के घनिष्ट संबंध को स्पष्ट करता है।

धर्म् :—

भारतवर्ष एक धर्मप्राण देश है। और भारतीय जन धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। भारतीय धर्म की आधार शिला है आस्तिकता, सर्वशक्तिशाली ईश्वर की जागरूक सत्ता में अटूट, विश्वास। भारत ईश्वर के चरणारविन्द में अपने आपको लुटा देने में ही जीवन की सार्थकता मानता है। संसार की क्लेश भावना जीवों को तभी तक कलुषित तथा सन्तप्त बनाती है, जब तक वह ईश्वर का निजी सेवक नहीं बन जाता। तभी तक रागादि चोर के समान सन्ताप दायक है। यह ग्रह कारागृह है और यह मोह तभी तक पैरों की बेड़ियाँ है जब तक जीव ईश्वर का नहीं बन जाता। भगवज्जन होते ही मोह की बेड़ी खुल जाती है और जीव ज्ञान के रस का आनन्द लेने लगता है।

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहो ङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः ॥[1]

1- भागवत दसवें स्कन्ध चौदहवाँ अध्याय का छत्तीसवाँ श्लोक, 10/14/36

धर्म में श्रद्धा विश्वास के साथ अपने से किसी बड़ी सत्ता के आगे, चाहे वह ईश्वर हो, चाहे तीर्थंकर हो, चाहे वह धर्म संघ हो और चाहे मानवता हो, नमन शील बनना पड़ता है। धर्म में कुछ विशेष पूजा पद्धतियाँ, रीति-रिवाज, जीवन का दृष्टिकोण और सामाजिक व्यवहार भी सम्मिलित रहता है। हिन्दू धर्म में वेदों, स्मृतियों, एवं पुराणों की प्रधानता रही है। पुराणों के प्रभाव से ही देवोपासना और मूर्तिपूजा बढ़ी है। जब हिन्दू धर्म वैदिक कर्मकाण्ड से हटकर पौराणिक धर्म बना और इसमें अवतारवाद को प्रधानता मिली तब से मूर्तिपूजा का खूब प्रचार हुआ। व्रत, उपवास, भजन कीर्तन, अनुष्ठान आदि पौराणिक धर्म के मुख्य विषय बने। यह सम्पूर्ण संसार ईश्वर की परमशक्ति के द्वारा संचालित होता है। विविध प्राणी इसी ईश्वर के बनाये हुए हैं। जिनमें मनुष्य सबसे बुद्धिमान होने के कारण श्रेष्ठ है। उसकी आत्मा में ईश्वर का निवास स्थान है। इस संसार की प्रत्येक वस्तु नश्वर है परन्तु आत्मा का नाश कभी नहीं होता है। शुभाशुभ कर्मों के फल से उसे विभिन्न शरीर धारण करने पड़ते हैं। व्यक्ति कोई भी अच्छा बुरा कर्म व्यर्थ नहीं जाता है। सब का फल उसे भोगना पड़ता है। अपने ज्ञान का विकास और आत्मा की उन्नति प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य है। धर्म का अर्थ संसार त्याग नहीं है बल्कि शुभ कर्मों या निष्काम कर्म द्वारा जीवन को सफल बनाना है। वृन्दावन लाल वर्मा ने कर्म के इसी रूप को अपने सामाजिक एवं ऐतिहासिक उपन्यासों में दिग्दर्शित किया है। वर्मा जी जी के उपन्यासों में ईश्वर, अनेकेश्वरवाद, दुर्गा, शंकर, भैरव, सरस्वती, विष्णु, सूर्य लक्ष्मी, विविध ग्राम देवता, पूजा के विविध रूप, स्नान ध्यान, तुलसी पीपल पूजा, व्रत उपवास दान तीर्थयात्रा आदि के सम्बन्ध में व्यक्त धारणायें इस प्रकार से हैं ——

भारतीय संस्कृति में धर्म के मामले में अत्यन्त उदार बताया गया। धर्म में आस्तिक, नास्तिक, सगुण, निर्गुण, शैव, वैष्णव, शाक्त, बौद्ध जैन, कौल कापालिक आदि विभिन्न मत वादियों को प्रथक पृथक आचार विचार सहित अपने उदार एवं विशाल हृदय में आश्रय दिया है। वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों में बहुदेववाद, मूर्तिपूजन, भक्ति-योग और पूजा अर्चना के विविध विधान मिलते हैं। वर्मा जी के उपन्यासों में देवी दुर्गा का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

दुर्गा :——

दुर्गा देवी बुन्देलों की सर्वश्रेष्ठ देवी है। प्राचीनकाल से ही दुर्गा शक्ति दायक और सिद्धिदायक देवी है। बुन्देले दुर्गा को अपनी इष्टदेवी मानते हैं। दिवाकर के

यह पूँछने पर कि सोहनपाल क्या कर रहे हैं उत्तर मिलता है दुर्गा जी की पूजा।[1] दुर्गा देवी के समक्ष बुन्देल अपना बलिदान हँसते हँसते कर देते हैं। सोहनपाल के पूर्वज जगदास पंचम विन्ध्यवासिनी देवी की घोर तपस्या करते हैं साथ ही मनोकामना की सिद्धि के लिए एवं देवी के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए अपना बलिदान के लिए जैसे ही गले में तलवार से वार किया परन्तु उस वार से गले से रक्त की एक ही बूँद निकल पायी थी कि देवी दर्शन देकर जगदास पंचम को वरदान देती है। उन्हीं देवी दुर्गा के पूजन में सोहनपाल बुन्देला रा की आहुति से देवी का होम करता है।[2] केवल बुन्देले ही देवी के उपासक नहीं थे वरन् बुन्देलों की ही भाँति खंगार भी देवी के बड़े ही भक्त और उपासक थे। कुण्डार विजय के उपरान्त बुन्देलों ने जो विन्ध्यवासिनी देवी का मंदिर बनवाया था वह खंगारों की गिरिवासिनी देवी के मंदिर का रूपान्तर मात्र था।[3] चन्देल भी देवी के भक्त और उपासक रहे हैं। दुर्गावती को पिता कीर्ति सिंह चन्देल भी दुर्गा के भक्त थे। राजकुमारी दुर्गावती ने दुर्गा देवी से ही शक्ति, सौन्दर्य और नाम पाया था। कालिंजर पर्वत प्राचीन काल से ही पवित्र तीर्थ की ख्याति प्राप्त किए रहा है। राजकुमारी दुर्गावती दुर्गा देवी के मंदिर में धूप दीप हवन भजन के साथ ही स्तब्ध होकर आराधना करने लगती है तभी उनकी सहेली रामचेरी देवी दुर्गा और राजकुमारी के अंग प्रत्यंग में अद्-भुत समन्वय देखती है। बेजोड़ सौन्दर्यवाली है हमारी दुर्गावती। शक्ति और सुन्दरता का समन्वय राजकुमारी देवी दुर्गा माता से अखण्ड भक्ति और शरण ही प्राप्त करना चाहती है। मनिया गढ़ की मनिया देवी राजगोड़ों की और महोबे की मनिया देवी चन्देलों की कुलदेवी और इष्टदेवी है। राजगोड़ अवन्ती बाई और राजा विक्रमादित्य दुर्गा देवी के भक्त है।[4] उदय किरण के सरमन और मगन धान की अच्छी फसल और बाँध बाँधने में दुर्गा माता की कृपा चाहते हैं।[5] विराटा की पद्मिनी का तो सम्पूर्ण दुर्गा देवी का अवतार

1- गढ़ कुण्डार, पृ0 99

2- गढ़ कुण्डार, पृ0 102

3- वही, पृ0 444

4- महारानी दुर्गावती, 15, 27, 38, 103, 121

5- उदयकिरण, पृ0 89

कुमुद पर केन्द्रित है। नरपति दांगी लोचन सिंह बुन्देले की धूप, दीप, नैवेद्य, पुण्य और स्वर्ग रत्न आदि से पूजा की विधि बतलाता है। देवी के मंदिर और उसकी अवतार और उपासिका की रक्षा में दांगी अपना बलिदान करते हैं।[1] दुखी होकर पूना तालाब के किनारे देवी के मंदिर में दीप जलाने के बहाने अपनी करूण कातर विनती देवी से निवेदित करती है।[2] चैत्र तथा आश्विन के नवरात्रि में सभी हिन्दु जातियों द्वारा विवाहित स्त्रियाँ दुर्गा (गनगौर) की स्थापना और विधि-विधान सहित पूजन करती है। चैत की नवरात्रि में गौर की प्रतिमा को स्थापित करके फलफूल धूम्रदीप तथा नैवेद्य द्वारा पूजन करते हुए कोलाहल सा मचा दिया। हरदी कुँ कुँ(हल्दी कुमकुम) के उत्सव में सधवा स्त्रियाँ एक दूसरे के माथे में रोली लगाकर हँसी मजाक द्वारा एक दूसरे पति का नाम पूँछती है।[3] गनगौर का पूजन चैत्र शुक्ला तृतीया को होता है। सुहागिन स्त्रियाँ उपवास करके सायंकाल पार्वती का पूजन करती है। गनगौर का प्रसाद पुरूषों को नहीं वितरित किया जाता है। नवदुर्गा में प्रथम दिन ही जवारे बोये जाते हैं और प्रतिदिन पूजन करते हैं। ये जवारे जितने ही बड़े होते हैं उससे फसल अच्छे होने का पता लगाते हैं। और अन्तिम दिन इन जवारों को गीत गाते हुए तालाबों में विसर्जित कर दिया जाता है। आज भी बुन्देलखण्ड में क्वार के महीने में देवी गीतों का प्रचलन है। आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से दुर्गा पूजन (नवरात्रि) का शुभारम्भ होता है इसी दिन से लड़कियाँ सुअटा(नवरता) खेलना शुरू कर देती है। सूर्य से पहले बालिकायें मिट्टी से गौरारानी की मूर्ति स्थापित करके उनके सम्मुख रंग बिरंगी चौक पूर कर दुर्वा, अक्षत, पुष्प लेकर सुअटा के सम्मुख दूध जल द्वारा अर्घ्य देती है फिर सामूहिक गीत गाती है। जो इस प्रकार है[4]

हिमाचल जू की कुँअरि लड़ायती नारे सुअटा
गौरा बेटी नेरा तेरा नाँय- नारे सुअटा
नेरा तेरा नाँय बेटी नौ दिना- नारे सुअटा

सुअटा की पूजा और तत्संबंधी गीत दुर्गा पूजा के शास्त्रीय विधान और लोक रीतियों का मिश्रित रूप है।

1- विराटा की पद्मिनी, ९५

2- कुण्डली चक्र, पृ० 197

3- झाँसी की रानी, पृ० 95,97

4- बुन्देलखण्ड संस्कृति और साहित्य, पृ० 270

5- संगम, पृ० 89,91

महादेव —

वर्मा जी के उपन्यासों में दुर्गा देवी के बाद दूसरे ख्याति प्राप्त देवता शंकर हैं। चन्देल राजा कीर्तिवर्म्म देव के काल से लेकर दुर्गावती के पिता कीर्तिसिंह चन्देल के समय कालिंजर के नीलकण्ठेश्वर महादेवकी पूजा धूम धाम से होती रही है। मनिया गढ़ के राजा दलपतिशाह भी राजा कीर्तिसिंह के साथ नीलकण्ठेश्वर महादेव के पूजन के लिए नीलकण्ठेश्वर मंदिर जाते हैं जहाँ महादेव की विशालमूर्ति तथा घी के दीपों की सुगन्धिमय दीप्ति झिलमिलाती हुई देखते हैं।[1] खजुराहो के महादेव के मंदिर की उपासना तथा पूजा दर्शनीय है। गढ़कुण्डार में बस्ती में चन्देलों के समय के एक महादेव मंदिर का देवल गाँव के उत्तर की ओर शिवालय का उल्लेख मिलता है। भगवान शंकर का विश्वास करते हैं युद्ध में जीतने के लिए बाबा की बातों से ऐसा आभास मिलता है।[2]

मानसिंह तोमर के राज्यकाल में उत्तर भारत में वैष्णव और शैव सम्प्रदायों के मतभेद काफी बढ़ चुके है। विजय जंगम और वैष्णव का वाग्युद्ध इस बात के प्रमाण है। लिंगायत शैव विजय के अनुसार शिव की गायत्री सभी दुखों और पापों का निवारण करने में सक्षम है। मुसलमानों द्वारा अपवित्र कुँओं को शुद्ध मिट्टी के शिवलिंग को — 'ॐ नमः शिवाय' से आमन्त्रित करके कुँए में डाल देने से पवित्र एवं साफ किए जा सकते हैं।[3] पुराणों में शिव नटराज के नाम से भी ख्याति प्राप्त किए हुए हैं। मृगनयनी अपने गूजरी महल में नटराज शिव की कलात्मक चतुर्मुखी मूर्ति की स्थापना कराती है।[4] शिव के साथ पार्वती और कैलाश की कल्पना शैव भक्तों का श्रद्धा का विषय है।

भैरव —

भैरव देवता को तन्त्र ग्रन्थों का उपदेवता माना गया है। इनकी उपासना शक्तिशाली देवता के रूप में होती रही है। तारा के पिता विष्णुदत्त को एक तन्त्रशास्त्री योग्य वर प्राप्ति के लिए माघ की अमावस्या से वैशाख की अमावस्या तक शक्ति भैरव के

1-महारानी दुर्गावती, पृ० 119

2- गढ़कुण्डार, पृ० 139, 141

3- मृगनयनी, पृ० 36

4- मृगनयनी, पृ० 415

मंदिर में जल ढालने और लाल कनेर के फूल चढ़ाने से व्रत की समाप्ति पर सुयोग्य वर अवश्य प्रगट होगा ऐसा बतलाते हैं।[1] खंगार कुमार नागदेव भी अभीष्ट फल प्राप्ति के लिए लाल कनेरों से पूजा करके भैरव को प्रसन्न करने का उपक्रम करता है। दुर्गावती के पिता कीर्तिसिंह चन्देल दलपतिशाह के पिता संग्रामशाह के विषय में बाजनामठ से संबंधित मूर्त तान्त्रिक की हत्या के जिस भीषण कृत्य का उल्लेख करते हैं उससे ऐसा अनुमान होता है कि उस काल मेंतान्त्रिक अनुष्ठानों से भैरव को प्रसन्न करके वरदान प्राप्त करने का प्रचलन था।[2] कालिंजर के किले में भैरव देव भी सोलह हाथ की विशाल ऊँची मूर्ति का दर्शन कराने के लिए राजकुमारी दुर्गावती के पिता कीर्तिसिंह अपने साथ मनियागढ़ के राजा दलपतिशाह को ले जाते हैं। इस विशाल और भव्य मूर्ति को देखकर दलपतिशाह और उनके साथ मोहन श्रद्धा से झुक जाते हैं।[3]

उपर्युक्त देवताओं के अतिरिक्त वर्मा जी के उपन्यासों में वाग्देवी सरस्वती,[4] सूर्य[5] विष्णु,[6] और लक्ष्मी की पूजा[7] का वर्णन किया गया मिलता है। धन को प्रदान करने वाली लक्ष्मी की पूजा आज भी बुन्देलखण्ड में दीवाली तथा महालक्ष्मी की लोककथाओं साहित प्रचलित है। सोना उपन्यास के कथानक का एक बड़ा भाग लक्ष्मी पूजा से हीसंबंधित है। गौड़ों और शबरों में गौड़बाबा, घटौरिया बाबा, नागदेवता आदि विविध ग्राम देवताओं की बड़ी मान्यता देखने में मिलती है।[8]

ध्यान और पूजन अर्चना के द्वारा ही मनुष्य का मन, स्वभाव और जीवन के प्रति रूचि परिष्कृत होती है। मन को एकाग्र करना, ध्यान केन्द्रित करना ही ईश्वर को प्राप्त करने का लक्ष्य होता है। ईश्वर को प्राप्त करने के लिए उसके प्रत्यक्ष दर्शनों के लिए कोई अवतार या सुन्दर मूर्ति को साधन बनाता है और कोई साकार प्रतीकों के प्रति

1- गढ़कुण्डार, पृ0 165

2- दुर्गावती, पृ0 38 से 40

3- दुर्गावती, पृ0 120

4- कीचड़ कमल, पृ0 11/6

5- लालित्यादित्य पृ. 66

6- मृगनयनी पृ. 408

7- सोना पृ. 68

8- कचनार, पृ0 86

अपने को समर्पित कर देते हैं। अतः अपनी अपनी इच्छा के वशीभूत होकर श्रद्धा की प्रतीक प्रतिमाओं के चयन की सुविधा भारतीय संस्कृति सदा से प्रदान करती है। किसी भी कष्ट या दुख में ईश्वर का सहारा ही भारतीयों के लिए सबसे बड़ा आधार रहा है। तल्लीनता के साथ शून्य ध्यान में मग्न हो जाना यहाँ असली ध्यान है। संसार में सबसे बड़ा धर्म परोपकार , परसेवा है। मं अचलपुरी शक्ति से तन-मन सब अर्पण कर देने से ही ईश्वर प्राप्ति संभव है।[1] किसन, सिपाही मोहन, शाही नर्तकी नूरबाई और सामान्य जनता सबको यह अडिग है मोहन के कन्हैया की छाया के बाराबर को छाया नही लगती। नूरबाई मुरलीधर के साथ होने के विश्वास से किसी से नहीं डरती।[2] जागीरदारों, नवाबों, व बादशाहों की नोच खसोट तथा परदेशियों की आग और तलवार से आहत, ध्वस्त, त्रस्त, संतप्त, नीरस, विपन्न जनजीवन को कन्हैया की प्रतिमा एक मात्र आशा और शान्ति का आश्रय प्रतीत होती है। निराश्रय दरिद्रता और आहत अपमान से भग्न हृदयों को जुड़ाने वाली, सिर पर सांत्वना का वरदहस्त रखने वाली कन्हैया की भुवनमोहिनी मुस्कान उनका एकमात्र सम्बल है।[3] चाहे वह लोल लोदी , सिकन्दर के आक्रमण हो या नादिरशाह का कत्लेआम का आतंक, अपने टूटे काँटे को सहने योग्य शक्ति मध्य युग का वैष्णव जन मुरली की तानों से प्राप्त करता रहा।[4] यह सच है कि हिन्दुओं का यह देवता कन्हैया यहाँ के लोगों के दिलों, अरमानों, बेवसियों और उम्मीदों पर युगों तक छाया रहा।[5] उत्तर भारत में मध्ययुग में छोटे-बड़े राजा नवाब अपनी विस्तृत भूमि और दीर्घ सम्पत्ति के रक्षा के लिए तथा अपने मुकुट की रक्षा के लिए प्रजा देवालयों में जाकर कथा-वार्ता सुनती थी। संध्या समय देवी देवताओं के भजन गीत तथा रामायण का पाठ करना जनता में व्याप्त धार्मिक कृत्यों की लोक प्रिय विधि है। राम नवमीजैसे बड़े-बड़े त्योहारों पर विशेष समारोह और सजावट होती थी।[6] होली के अवसर पर राई के मंदिर में बोधन पुजारी द्वारा लोगों से भजन और रसिये का संकेत मिलता है।[7] रानी

1- कचनार, पृ0 27।

2- टूटे काँटे, पृ0 326– 334

3- वही, पृ0 321, 322

4- मृगनयनी, पृ0 9, टूटे काँटे, पृ0 148

5- टूटे काँटे, पृ0 148

6- प्रत्यागत, पृ0 5, 6

7- मृगनयनी, पृ0 9, 10

दुर्गावती अहिल्याबाई तथालक्ष्मीबाई अपने व्यस्त राजनैतिक जीवन से अवकाश निकाल कर क्रमशः महेश पंडित और अम्बादास पौराणिक से धार्मिक कथा वार्ता सुनती और गुनती हैं।[1] अतः हम देखते हैं कि वर्मा जी के उपन्यासों में पूजन अर्चना के विविध विधान एवं बुन्देलखण्ड अधिक प्रचलित देवी देवताओं का वर्णन उनके सभी उपन्यासों में दृष्टिगत होता है।

स्नान :—

धार्मिक दृष्टि से चाहे वज्ञानिक दृष्टि से देखें व्यक्ति का स्नान करना अत्यन्त आवश्यक है। स्नान के द्वारा व्यक्ति पवित्र, शुद्ध एवं निरोग रहता है। साथ ही भारतवर्ष गर्म प्रधान देश है यहाँ की जलवायु उष्ण है। अतः जल का शीतल स्पर्श सुखकर लगता है। प्रकृति की कृपा से यहाँ सरोवरों तथा सरिताओं का कभी भी अभाव नहीं रहा है। जनमानस नेसर्वात्मवाद के सिद्धान्त में प्रत्येक छोटी-बड़ी सभी वस्तुओं में परमात्मा के अंश को व्याप्त माना है। भजन पूजन से पूर्ण स्नान यहाँ धार्मिक क्रिया कलापों में सम्मिलित कर लिया गया पवित्र नादियों का स्नान पर्व त्योहारों में दिन शुभ माना जाता है। रोगी होते हुए भी विलासी नायक सिंह सक्रान्ति के दिन पहूज में स्नान करने के लिए विक्रम पुर आये।[2] कार्तिक पूर्णिमा के दिन दुर्गावती किले के सबसे ऊँचे कुण्ड में स्नान करके ब्राह्मणों को दान देती है। युद्ध जैसे भीषण संकटों में भी यह धार्मिक चर्या से कोई व्याघात उत्पन्न नहीं होता।[3] पूर्णिमा के दिन महेश्वर में विविध धर्मों के मतावलम्बी नर्मदा में स्नान करते हैं। त्योहारों पर नर्मदा तीर्थ महिष्मती में भी स्नान करने का माहात्म्य माना जाता है।[4]

तुलसी-पीपल :—

हिन्दू साहित्य में धार्मिक विश्वासों के अनुसार स्नान करके तुलसी और पीपल में जल चढ़ाने से सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं। पूना की माँ अपनी पुत्री को सुयोग्य वर की प्राप्ति के हेतु तलसी पर नित्य ही जल चढ़ाने को कहती है।[5] सायंकाल तुलसी, पीपल और मंदिरों में दीप जलाना धार्मिक कार्य समझा जाता है। पूना तालाब मंदिर में विवाह के दिन भी दीप रखने जाती है।[6] सुभद्रा और रामा पीपल के नीचे

1- दुर्गावती, पृ० 265, अहिल्याबाई, पृ० 113

2- विराटा की पद्मिनी, पृ० 1

3- दुर्गावती, पृ० 294

4- अहिल्याबाई: पृ० 265

5- कुण्डली चक्र, पृ० 53

6- कुण्डली चक्र, पृ० 187

दिया जलाती है।[1] जानकी संध्या बाती के लिए बरूआ सागर की झील पर जाती है।[2]

व्रत-उपवास —

व्रत उपवास आत्मा की शुद्धि के लिए नियम संयम के लौकिक उपचार है। रानी अवन्ती बाई दिन भर व्रत रखकर पूजा पाठ करके शाम को फलाहार करती है।[3] फूलरानी पौत्र की प्राप्ति की इच्छा से महीने में कई बार व्रत रखती है।[4] योग्य वर की प्राप्ति के लिए विष्णु दत्त की पुत्री तारा तीन माह का कठोर व्रत निष्ठापूर्वक करती है।[5]

दान —

भारतीय जन त्याग और तपस्या के लिए प्रसिद्ध हैं। बड़े बड़े ऋषि और मुनियों ने परसेवा के लिए अपने अपने प्राणों की आहुति दे दी है भारतीय इतिहास इन गाथाओं से भरा पड़ा है। यहाँ के लोग आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त पर आस्था रखते हैं। इसीलिए दान देना यहाँ धर्म का आवश्यक अंग माना जाता है। व्रत का उद्यापन हो या विवाह संस्कार[6] मृतक का श्राद्ध हो [7] या पर्व का स्नान, इन सब पर दान देना अनिवार्य सा रहा है। सामान्य जन से लेकर धनी विष्णुदत्त की कन्या तारा, रानी दुर्गावती, और राजगौड़ मानसिंह सब दान की महत्ता को स्वीकार करते हैं।[8] अहिल्याबाई की ओर से अंधों, गूँगों, बहिरों, लंगड़े लूलों अपाहिजों और निराश्रितों के लिए महेश्वर में अन्य सूत्रों का प्रबन्ध था।[9] विभिन्न तीर्थों में भी अहिल्याबाई ने भोजन और वस्त्र दिये जाने की व्यवस्था की थी।

1- लगन, पृ0 57

2- संगम, पृ0 145

3- रायगढ़ की रानी, पृ0 23

4- प्रत्यागत, पृ04

5- गढ़ कुण्डार, पृ0 165

6- गढ़कुण्डार, पृ0 308

7- दुर्गावती, पृ0 163

8- कचनार, पृ0 135

9- दुर्गावती, पृ0 294

तीर्थयात्रा :—

भारतवर्ष तीर्थ स्थलों की जननी रहा है। यहाँ पर ईश्वर भक्तों के निवास करने के कारण तीर्थ स्थानों को अत्यन्त पवित्र माना गयाहै।[1] प्राचीन काल से ही चारों धामों की यात्रा का विधान रहा है चाहे वह अनेकता में एकता दृष्टि से हो अथवा सम्पूर्ण भारत दर्शन की इच्छा रही हो। पति के चरित्र से क्षुब्ध होकर और ग्लानि दग्ध जानकी चित्त की चंचलता और अनमनेपन की शान्ति के लिए मथुरा वृन्दावन की यात्रा करने का प्रस्ताव रखती है।[2] जीवन भर समाज की अवज्ञा और जाति पाँति की ठोकरों से पीड़ित पण्डित सुखलाल अन्त में अपने अहीरपुत्र रामचरण के प्रति किए गये अन्यायों को स्वीकार करके तीर्थ यात्रा पर जाने के लिए निश्चित करता है।[3] सिपाही मोहन और नर्तकी नूरबाई के मन में कृष्ण की लीला भूमि ब्रज की यात्रा की गहरी इच्छा है। तीर्थ यात्रियों के सूखे, उदास, मुर्झाये हुए मुखों पर नूरबाई को भक्ति और विश्वास की अनोखी दीप्ति उत्कण्ठा और उमंग दिखायी देती है।[4] धर्म की अस्पष्ट धारणा लिए प्रेतात्मा की शक्ति हेतु रानी तोता सहित ब्रजयात्रा करती है। अहिल्याबाई होल्करमान्धाल ओंकारनाथ की तीर्थ यात्रा के दौरान विष्णुतीर्थ और मार्कण्डेय शिलाओं के प्रति श्रद्धा अर्पित करती है तथा नवाली, खेड़ी, धमनार, मर्दाना आदि तीर्थों में मंदिरों के दर्शन लाभ करती है।[5]

उदारता —

उदारता निष्पक्ष विवेक के साथ मिलकर गुण ग्राहकता को जन्म देती है। धार्मिकता प्रधान देश होने के साथ ही साथ यहाँ के लोगों की दृष्टि में धार्मिक संकीर्णता नाम मात्र को भी नहीं है। माधव जी सिन्धिया इसी धार्मिक संकीर्णता से हटकर राने खाँ के गुणों की पहचान करके उसे अपना सेनानायक बनाते हैं।[6] इतना ही नहीं रानी लक्ष्मी

1-भागवत, पृ0 1, 13, 10

2- संगम, पृ0 107—47

3- संगम, पृ0 215

4- टूटे काँटे, पृ0 317

5- अहिल्याबाई, पृ0 160, 161, 162, 74

6- माधव जी सिन्धिया ४२८-३२

बाई गुलाम गौस खाँ को अपना तोपची नियुक्त करती है। लक्ष्मी बाई नत्थे खाँ को अपना पराजित करने वालों माऊ बख्श और रघुनाथ सिंह को पुरस्कृत करती है तो गुलाम गौस को भी पुरस्कृत करने से नहीं चूकती। यह रानी की उदारनीति का ही परिचय देता है। एक दिन मुहर्रम की ताजिया और डोल एकादशी के जल बिहार की समस्या का हल खोजने में मुसलमान शासकों की तरह दमन नीति को न अपनाकर वे युक्तिपूर्वक दोनों धर्मावलम्बी प्रजा की भावनाओं के प्रति सम्मान दिखाती है। परिणाम स्वरूप उनके शासन में यह साम्प्रदायिक संघर्ष बिना किसी रक्तपात के ही टल जाता है।[1] साम्प्रदायिक कट्टरता के उस भीषण युग में जब एक शाहवली कट्टरपंथी युद्ध इस्लामी उसूलों पर जम्हूरियत कायम करने के प्रयत्नों में लगे हुए थे।[2] माधव जी जैसे उदारचेता इब्राहिमगार्दी और राने खाँ को अपना सेनानायक बनाकर भारत को एक में बाँधने का प्रयास कर रहे थे वही इसी ओर अपने अंग रक्षक राम लाल के बार बार टीपू के अत्याचार करने का उल्लेख करने पर भी उनके हृदय में कभी भी मुसलमानों के प्रति द्वेष, ईर्ष्या और घृणा की भावना जन्म नहीं लेती वरन् राम लाल को समझाते हुए कहते हैं कि क्रूर तो हिन्दू भी होते हैं मैं तो मुसलमानों को हिन्दुओं का प्रेमी और सहयोगी बनाना चाहता हूँ, इसलिए उनसे घृणा नहीं करता।[3] हिन्दू धर्म की पुर्नस्थापना के लिए बद्रीनाथ से लेकर कुरूक्षेत्र तक अपनी निजी आय से मंदिर धर्मशालाओं का निर्माण कराने वाली अहिल्याबाई मस्जिदों से कोई द्वेष नहीं रखती। प्रसिद्ध महेश्वर की तीन प्राचीन मस्जिदों में साँझ की आरती के समय शंख घण्टा और मुल्लाओं द्वारा नमाज के नारे सुने जाते थे उन्होने सबको अपने अपने मत पर चलने का अधिकार दे रखा था।[4] इस बात का तो इतिहास ही साक्षी है कि इब्राहिम लोदी के नरवर के मूर्तिध्वंश तथा वहाँ के पुजारी बोधन हत्याकाण्ड जैसे भीषण कृत्यों का प्रत्युत्तर मानसिंह तोमर आदि राजाओं ने कभी नहींदिया। यह उनकी उदारता एवं सहिष्णुता का ही परिचय देता है।

1- झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई, पृ0 299

2- माधव जी सिन्धिया, पृ0 154

3- माधव जी सिन्धिया, पृ0 518

4- अहिल्याबाई, पृ0 75

[illegible]

आत्मा की एकता और सर्वात्मवादी सिद्धान्तों की मान्यता के कारण बहु-वाददी होने पर भी भारतवर्ष धार्मिक कट्टरता से बच गया है। विभिन्न मतवादियों में कभी मतभेद न रहता हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। वैष्णव पण्डित और शैव विजय जंगम का वादविवाद,[1] तथा दुर्गादेवी कण्डरीय महादेव के मंदिर में शैव, वैष्णव शाक्त, बाजनामठ भैरव धार्मिक वितण्डावाद के अच्छे उदाहरण हैं। मानसिंह तोमर कीर्तिवर्म्मदेव कीर्तिसिंह, अहिल्याबाई, लक्ष्मीबाई जैसे धार्मिक प्रजापालक राजा और रानियों की सुलझी हुई विचारपद्धति मतवादी में प्रायः ऊँची उदात्त भूमि तक पहुँचीहुई पायी जाती है।

भारतीय संस्कृति के अनुसार दूसरों के विश्वासों का आदर करना हिन्दूधर्म की महत्वपूर्ण देनों में से एक है।[3] सहिष्णुता के लिए यह आवश्यक है कि अपने विपक्षी मतों के लिए भी शालिनता का व्यवहार किया जाये। एक को मानने वाले आचार्य सोम जो परमात्मा को एक मानते हैं और आत्मा को दर्पण वे कहते हैं कि विरोध सहन करने की शक्ति संस्कृति और सभ्यता की कसौटी है।[4] स्वयं को जनता का सेवक एवं पटेल कहलाने वाले माधव जी सिन्धिया शत्रु के गुणों को भी निष्पक्षता से स्वीकार करते हैं तथा अंग्रेजों के संयम, शौर्य, अनुशासन और कर्तव्य परायणता सैनिक व्यवस्था की न केवल प्रशंसा ही करते हैं अपितु अपनी सेना समाज में इन गुणों को उतारने का प्रयास भी करते हैं।[5] माधव जी सिन्धिया शत्रुओं के साथ भी 'अनीति नहीं बर्तनी चाहिए मैंइस बर्ताव के परि-णाम को मानता हूँ।"[6] अतः इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय राजा उदारता एवं सहिष्णुता की त्यागमूर्ति माने जाते हैं।

दया-क्षमा ——

उदार सहिष्णुता द्वेषहीनता कीजननी है। कुमुद का देवीत्व उसके अनन्य असामान्य सौन्दर्य के साथ उसकी शालीन दया में भी निहित है। अपने प्रेमी के अनिष्ट,

---

1-मृगनयनी, पृ0 36, 37

2- महारानी दुर्गावती, पृ0 38, 40

3- कुण्डली चक्र, पृ0 18

4- भुवनविक्रम, पृ0 60-61

5- माधव जी सिन्धिया, पृ0 429, 433

6- माधव जी सिन्धिया, पृ0 429

गृहतुल्य राज्य को हड़प जाने वाले देवी सिंह की निश्चित विजय का वरदान माँगने वाली अपनी सहेली गोमती को दुखित देखकर कुमुद का हृदय करुणा से आर्द्र होकर दया की वर्षा करता है।[1] मानसिंह तोमर अपनी धार्मिक विचारों में उदारचेता का परिचय देता है। बैजू द्वारा यह जान लेने पर भी कि कला राजसिंह की गुप्तचर बनकर ग्वालियर भेद लेने तथा राज्य में अनिष्टकारी षडयन्त्रों को भड़काने में लगी हुई है तब भी वह कला को दण्ड न देता हुआ उसे सम्मान सहित सुरक्षित पहुँचाने की व्यवस्था करता है।[2] रानी दुर्गावती, लक्ष्मीबाई और अवन्ती बाई अपने अद्भुत शौर्य के साथ दया क्षमा की मानों साक्षात् देवियाँ हैं। कालिंजर का नाश करने वाले सुधरसिंह को जान लेने के बाद भी उसकी सुरक्षा का ध्यान रखकर उसे अपने साथ ले आती हैं। अपने सर्वनाश का साक्षात् कारण जान लेने के पश्चात् भी इतनी दया वे ही दिखा सकते हैं जो न्यायात् पथः प्रवचलन्ति पद न धीराः' जैसे सिद्धान्त को प्रमुख मानते हैं। रानी लक्ष्मीबाई भी अपने शत्रुओं को गुप्त संरंगों से भोजन भिजवाने की व्यवस्था करती है साथ ही मार्टिन जैसे दुष्ट क्रूर विदेशी इस दया का अनुचित लाभ उठाने से कभी नहीं चूके।[3] दया और क्षमा कीप्रतिमूर्ति महारानी अवन्ती बाई अपने शत्रु वाडिंग्टन के बच्चे को केवल क्रुद्ध सैनिकों की हिंसा से बचाती ही नहीं अपितु वात्सल्यपूर्वक दूध पिलवाकर आश्वस्त करके उसके पिता के पास सुरक्षित पहुँचा कर अपने शत्रु को भी अपनी नैतिकता से अभिभूत कर लेती है।[4] राव दिलीप सिंह भी डरू जैसे दुष्ट विश्वासघाती पुरुष को महत् अचलपुरी का विरोध करके भी फाँसी से बचा लेता है और अपने भाई मानसिंह एवं अपनी पत्नी कलावती को क्षमा करके पाँच गाँव की जागीर भी उन्हें प्रदान कर देता है।[5]

आत्मा को विषय वासनाओं से मुक्त तथा पवित्र करने के लिए सांसारिक सुखों से त्याग बतलाया गयाहै। जब यही त्याग देश, धर्म और मानव जाति के लिए सुख त्याग से बढ़कर प्राणी के मोह त्याग पर पहुँचता है तब इसका रूप गरिमामय हो उठता

1- विराटा की पद्मिनी, पृ0 94, 95, 235

2- मृगनयनी, पृ0 370

3- झाँसी की रानी, पृ0 256-258

4- रामगढ़ की रानी, पृ0 124

5- कचनार, पृ. 369

है। कुँजर कुमुद के प्रेम में कुमुद के संकेत मात्र में अपने प्राणों को छोड़ने को तैयार है। दिवाकर,[2] कुँजर[3] और अजित[4] तीनों ही प्रेमियों का प्रणय प्रतिदान की अभिलाषा से शून्य प्रिय की कल्याण कामना के लिए कुछ भी सहन करने को तत्पर त्यागपूर्ण अतीन्द्रिय कोटि का है। अटल लाखी के लिए लोक निन्दा की परवाह न करता हुआ गाँव छोड़ने को विवश हो जाता है।[5] अचल कुन्ती का मन रखने के लिए विधवा निशा से विवाह करना स्वीकार करता है।[6] मगरों से डरने वाली रामा चढ़ी बेतवा में अँधेरी रात में छपाक से कूद पड़ती है।[7] गंगा लालमन डाकू से रामचरण को बचाने के लिए अपने प्राणों की परवाह न करके उसे बचाने का प्रयास करती है।[8] टूटे काँटे के लुटे पिटे, दरिद्र गड़रिये में त्याग की झाँकी प्रस्तुत की है जो डाकू से पीड़ित साथियों को गुड़ प्याज दूध बिना पैसे के देता है?[9] महन्त अचलपुरी परोपकार पर सेवा को मनुष्य के लिए सबसे सीधा, सर्वोत्कृष्ट और सर्वोपरि धर्म निरूपित करते हैं।[10] महारानी दुर्गावती महावत के पुत्र गनू को बचाने के लिए अपने रानीत्व को भूलकर अनायास ही हरहराती हिरन पर कूद पड़ती है।[11] भारतीय संस्कृति त्याग और तपस्या को ऐश्वर्य भोग से ऊँचा मानती है। वर्मा जी के उपन्यासों में जीवन की विभिन्न स्थितियों में घिरे होने पर भी उनके त्याग की महिमा व्यंजित की गई है।

~~तत्त्व~~

1- विराटा की पद्मिनी, पृ0 242, 243

2- विराटा की पद्मिनी, पृ0

3- वही,

4- कुण्डलीचक्र

5- मृगनयनी, पृ0 215

6- अचल मेरा कोई

7- लगन, पृ0 82

8- संगम, पृ0 191

9- टूटे काँटे, पृ0 305

10- ~~टूटे काँटे~~ कचनार, पृ0 270

11- दुर्गावती, पृ0 179

सत्यनिष्ठा —

सत्य को ईश्वर का रूप माना गया है। सत्य का पालन ही सबसे बड़ी तपस्या है। राजपाट, धन, वैभव, पत्नी, पुत्र, सत्यनिष्ठा के सामने तृण के समान हैं। राजा हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिर की अक्षय कीर्ति का आधार उनकी सत्यनिष्ठा ही है। सत्य को भारतीय जीवन के विविध स्तरों पर मान्यता मिलती रही है और उनका पालन प्रशंसनीय माना जाता रहा है। सत्य भाषण के लिए मंगल जैसे सत्यभाषी को नही भुलाया जा सकता है। पिता के कहने पर भी वह अपनी बात को झूठ नहीं कहता। वह इस बात को स्वीकार करता है कि पिता जी आप वैष्णव हैं। आपको धोखे में नहीं डाल सकता। मैं अब आप के काम का नहीं रहा।[1] सत्य पर अडिग रहने वाला बोधन पुजारी अपने प्राण बचाने के लिए सिकन्दर लोदी के सामने हाँ में हाँ मिला सकता था परन्तु उसकी निर्भीक सत्यनिष्ठा, सत्य की खोज करने और सच्ची बात बतलाने का आग्रह उसके प्राणों का ग्राहक हो गया।[2] इब्राहिम गार्दी के बन्दी होने पर भी ऊँची नौकरी के प्रलोभन, पानीपत के युद्ध में मराठों का दारूण पराभव और अपने प्राणों का भय कुछ भी तो उसे सत्यपथ से नहीं डिगा सका।[3] वर्मा जी के उपन्यास में सत्य धर्म का अंग बनकर नहीं वरन् नैतिक कर्तव्य, मध्यकालीन शौर्य दर्प अथवा स्वाभिमान के सहायक भाव के रूप में चित्रित हुआ है।

दर्शन :—

दर्शन कहते हैं देखने को। यह शब्द देवादि महान सत्ताओं को देखने में विशिष्ट हो गया। जैसे चन्द्र दर्शन देवदर्शन आदि। किन्तु दर्शन सदैव ही मूर्तपदार्थों का नहीं होता है वरन् अमूर्त पदार्थों का भी होता है। वेदों तथा उपनिषदों में आत्मा को भी दर्शन का विषय माना गया है। दर्शन के द्वारा परम द्वैत ब्रह्मस्वरूप सत्य के दर्शन किए जाते हैं। हमारे वाताम्बुपरण हारी ऋषियों ने भारत के विस्तृत तपोवनों में जिनकी महिमा रवि बाबू ने 'प्रथम सामरव तव तपोवने' लिखकर गायी है,। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म के दर्शन का अमरत्व प्राप्त किया था।[4]

1- प्रत्यागत, पृ0 93

2- मृगनयनी, पृ0 405

3- माधव जी सिन्धिया, पृ0 236, 241, 258, 259

4- भारतीय संस्कृति- गुलाबराय, पृ0 175

अंग्रेजी में दर्शन का पर्याय वाची शब्द 'फिलासफी' है जिसका अर्थ होता है ज्ञान का प्रेम। इसलिए उनका दृष्टिकोण केवल बौदि्धक जिज्ञासा का है। भारतीय मनीषी दर्शन को केवल चिन्तन की वस्तु नहीं समझता वरन् साक्षात्कार का विषय बनाता है। इसलिए उपनिषदों में आत्मज्ञान के लिए तप और ब्रह्मचर्यादि साधन बतलाये हैं। यही हमारे यहाँ के दर्शनों की विशेषताहै कि ये केवल बुदि्ध का विलास नहीं वरन् साधना के विषय हैं। भारतवर्ष में दर्शन का एक व्यावहारिक उद्देश्य है, वह 'घृताधार पात्र वा पात्राधार घृत" की सी केवल कौतूहलमयी जिज्ञासा नहीं है। उन्होने उसको अमरत्व प्राप्ति का साधन माना है।[1]

यह विश्व एक अदृश्य परमशक्ति के द्वारा सदैव संचालित होता रहता है। ईश्वर की यह प्रक्रिया सदैव गतिशिल रहती है। इसी भाव को वर्मा जी ने अपनेऐतिहासिक उपन्यास अहिल्या बाई में इस प्रकार दिग्दर्शित कराया है। संसार की सारी जंगम रचना एक शाश्वत नियम पर काम कर रही है। उसी का नाम कृपा है।[2] जिसे विश्व की विशालतम और सूक्ष्मतम महाशक्ति संचालित करती है, उसे परमात्मा कहते हैं।ईश्वर की प्रेरणा से ही जीव 84 लाख योनियों के पश्चात् मनुष्य योनि में आता है। इस योनि में ही उसके अन्दर बुदि्ध के साथ ज्ञान का साक्षात्कार होता है। बुदि्ध के साथ ज्ञान मनुष्य के मनोबल को ऊँचा उठाते हैं। आत्मा के रूप में परमात्मा का अंश मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति में सहायता प्रदान करता है।[3] आत्मा की अमरता के विषय में गीता में कृष्ण ने अर्जुन को सन्देश देते हुए कहा है ——

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापः न शोषयति मारूतः ॥[4]

आत्मा का क्षय कभी नहीं होता, शस्त्र उसे काट नहीं सकते और अग्नि जला नही सकती। झाँसी की रानी उपन्यास में वर्मा जी के उपन्यास की नायिका लक्ष्मी बाई गीता के इस उपदेश को कि "भगवान कृष्ण के इस आज्ञा को याद याद रखो कि

1- भारतीय संस्कृति, गुलाबराय, पृ० 176

2- अहिल्याबाई, पृ० 113

3- कचनार, पृ० 219

4- गीता, अध्याय दो का तेइसवां श्लोक - २.२३

किहमाको केवल कर्म करने का अधिकार है। कर्म के फल का नहीं।[1] अतः मनुष्य को निर्भय होकर अपने कर्तव्य पर आरूढ रहना चाहिए। कर्म करना मनुष्य के हाथ में है और फल देना ईश्वर के हाथ में है। रानी दुर्गावती, लक्ष्मीबाई और अवन्तीबाई सभी इस विश्वास को मन में बसाकर अपने शत्रुओं से डटकर लोहा लेती हैं। संघर्ष के इन भयंकर क्षणों में भी गीता का कर्मयोग लक्ष्मीबाई को कर्तव्य की प्रेरणा देता है। एक ही मरण से स्वराज्य नहीं मिलता उनका अटल विश्वास था कि एक युद्ध और एक जन्म से ही कार्य पूरी तौर पर सम्पन्न नहीं होता। 'संभवामि युगे युगे' उन्होने यह पढ़ा था और उनके कण-कण में व्याप्त था।[2] झाँसी की इस प्रज्ज्वलित दीप शिखा की जीवन ज्योति बुझ जाने पर बाबा गंगादास के इन शब्दों में निहित प्रकाश अनन्त है वह कण-कण को भासमान कर उठेगा।'[3] आत्मा के इस अमरत्व का विश्वास करूण वातावरण को निराशा से उबारता हुआ सा प्रतीत होता है।

प्रेम के पथ पर आत्मा की अमरता का विश्वास पुर्नजन्म की कल्पना के साथ जुड़कर इस संसार में पूरा होते न देखकर स्वर्ग में आत्ममिलन का विश्वास प्रेमियों को संयम व सन्तोष प्रदान करने की प्रेरणा देता है। गढ़ कुण्डार उपन्यास के तारा और दिवाकर के एक दूसरे के जीवन संगी न बनने पर अपने संयोग को अखण्ड और अनन्त मानते है। वे आत्मा के संयोग को श्रेष्ठ मानते हैं। शरीर इस लौकिक संयोग को नहीं मानते हैं।[4] देवी की अवतार नरपति दांगी की पुत्री कुमुद की कुँजर के प्रति मानवीय प्रेम भावना सदैव देवीत्व के अवरण में मौन रही। कुँजर के इस कथन में गूँजता अडिग विश्वास" अगले जन्म में फिर मिलेंगे प्रेमी जनों को बलिदान के शिखर पर आरूढ़ करता है।[5] सुन्दर और रानी लक्ष्मीबाई की मृत्यु के पश्चात् दामोदर राव की सुरक्षा की व्यवस्था करके रघुनाथ सिंह की यह मिलन की उत्कण्ठा कि 'मुझे जाने की बड़ी जल्दी पड़ रही है वे अभी रास्ते में ही होंगी।[6] उनके पुनर्जन्म का स्मरण करा देती है। साथ ही लाखी के मरने के

1- झाँसी की रानी, पृ0 163

2- झाँसी की रानी, पृ0 320

3- झाँसी की रानी, पृ0 492

4- गढ़ कुण्डार, पृ0 483

5- विराटा की पद्मिनी, पृ 0 344

6- झाँसी की रानी, पृ0 495

पश्चात् अटल लड़ते हुए घायल हो जाने पर उसके मन में यह कल्पना झिलमिला गई — "मैं ब्याह करूँगा उसी के साथ, वहीं जहाँ वह (लाखी) गयी है और मैं जा रहा हूँ।"[1] अटल की इसी मनोदशा का स्मरण करा देती है। उपर्युक्त उद्धरणों को देखकर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वर्मा जी के पात्र पुनर्जन्म में बहुत अधिक आस्था एवं विश्वास रखते हैं।

भाग्यवाद :—

अत्यधिक देवी देवताओं और भूतप्रेतों पर विश्वास करने वाली भारतीय लोगों में अकर्मण्यता ने अपना अधिकार कर लिया है। कर्म का अर्थ 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' से हटकर अर्थात् कर्तव्य के स्थान से हटकर भाग्य ने ले लिया। मनुष्य की जीवन डोर भाग्य के हाथ चली गयी जो सुख दुख भाग्य में लिखा या बदा होता है वह बिना मिले नहीं रहता। भाग्य से मिले कष्ट दुख का क्या दोष इसीलिए जानकी ससुराल में सुख न मिलने पर तथा पति के पराङ्मुख हो जाने पर भाग्य को ही कोसती है।[2] पूना की माता अपनी पुत्री के लिए ललित सेन जैसे अच्छे वर को इंकार करके सुयोग्य वर की न प्राप्ति पर अपने भाग्य को फूटा मानती है।[3] लड़कियों के लिए सुयोग्य वर की प्राप्ति उनके भाग्यवान होने का सबसे बड़ा प्रमाण माना जाता है। फिर सोना और मृगनयनी को जैसी दरिद्र कृषक कन्याओं को धुरन्धर सिंह और मानसिंह जैसे श्रेष्ठ वरों की प्राप्ति उनके भाग्य के सिवाय और किसे श्रेष्ठ स्थान दिया जा सकता है।[4] प्रचण्ड बेतवा को न डरकर देवसिंह अपने भाग्य से डरता है अपनी ही पत्नी के पुनर्विवाह की योजना पिता का दृढ़ होना, श्वसुर का लोभ तथा अपनी कायरता को न मान कर भाग्य को दोष देता हुआ कहता है —' यह मेरे भाग्य का दोष है अपनी ही निधि के लिए तरसता हूँ और ऐरे गैरे लोग उसको चुराने की ताक लगाये हैं। केवल अपढ़ जनता ही नहीं बल्कि शिक्षित स्त्री अंजना अवैध अफीम के पकड़े जाने का कारण अपनी भाग्य का विमुख होना ही मानती है।[5] सत्य तो यह है कि छोटी से छोटी वस्तु और बड़ी से बड़ी

1- संगम, पृ0 134, 213

2- कुण्डली चक्र, पृ0 60, 97, 104

3-(अ) मृगनयनी, पृ0 202

(ब) सोना, पृ0 40

4- लगन, पृ0 59

5- अमरबेल-, पृ0 370, 371

वस्तु को मिलने न मिलने का श्रेय भाग्य को ही होता है। अच्छा नौकर मिलने [1] जैसी छोटी सी बात से लेकर विद्वत्ता, धन, अधिकार और पद आदि की उपलब्धियों को योग्यता तथा पुरूषार्थ से अर्जित न मानकर भाग्य की कृपा मानने का समाज विश्वास समाज के सभी वर्गों में व्याप्त है।[2] तेरह चौदह वर्ष की यह तेजस्विनी बालिका अपने भाग्य में हाथी न लिखे होने के पिता के क्षुब्ध तर्क को चुनौती देती हुई कहती है — मेरे भाग्य में एक नहीं दस हाथी लिखे हैं।[3] जीवन की प्रत्येक गति विधि में भाग्य पर विश्वास का अधिकार देखने को मिलता है।

कला ——

मैथिलीशरण गुप्त ने साकेत में "अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला है' कला के विषय में ऐसा कहा है। मानव आत्मा आनन्द से उद्वेलित हो जो अभिव्यक्ति करती है उसी को कला कहते हैं। मानव आत्मा आन्तरिकता से बहिर्गमन करते समय मूर्त रूप धारण करने को उत्सुक रहती है इसी कारण अपने व्यक्तिीकरण में वह तथा कथित अनात्म को भी आत्म रूप देना चाहती है। कला अनात्मा पर आत्मा की छाप है। यह छाप कभी मिट्टी पर, कभी पत्थर पर कभी ईंट चूने पर तो कभी तूलिका के द्वारा रंगों से कागज पर डाली जातीहै। जिन जिन वस्तुओं में आत्मा का ओज, उत्साह और उल्लास दिखाया जाता हैवे सब कलाकृति का रूप धारण कर लेती है।[4]

कला हमारे भावों और विचारों की द्योतिका है। कला में एक प्रेषणीयता रहती है, वह स्वयं हीमनुष्य का एकाकीपन दूर कर देती है और मनुष्यों का पारस्परिक सम्पर्क भी बढ़ाती है।[5] कला का संबंध दैनिक जीवन से है भारतीयों का जीवन विशेषकर कलामय रहा है। प्रथम अध्याय में वर्मा जी के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते समय यह दर्शाया गया है कि विभिन्न कलाओं के प्रति न केवल उनकी गहरी अभिरूचि ही थी अपितु

1- प्रत्यागत, पृ0 83

2- मृगनयनी, पृ0 38

3- झाँसी की रानी, पृ0 19

4- भारतीय संस्कृति गुलाब राय, पृ0 199

5- भारतीय संस्कृति गुलाबराय, पृ0 200

उनका विषय शास्त्रीय ज्ञान भी उच्चकोटि का था। उनका यह कलाप्रेम भारतीय मानस का सहज प्रतिनिधित्व करता है। आदर्श राजा के महत्वपूर्ण कर्तव्यों में कला कौशल को समुन्नत करना एवं कलाकारों को संरक्षण देना भी परिगणित किया जाता था। वर्मा जी के उपन्यासों में स्थापत्य, मूर्ति, कला, चित्रकला, तथा संगीत कला के प्रति प्रेम को प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति मिली है। भारतीय कला का आरम्भ धर्म से हुआ है। भारतीय कलाकार कलाकृति द्वारा भावाभिव्यक्ति करना अपना ध्येय समझते हैं। भारतीय कला में धार्मिकता होने के कारण उसमें प्रतीकात्मकता अधिक आ गयी है।

स्थापत्य :—

स्थापत्य कला भी अपने आप में अत्यधिक महत्वपूर्ण कला है। लेकिन समय चक्र ने इस कला को भव्यता एवं रुचिरता प्रदान की है। प्राचीन काल में राजाओं में किसी महत्वपूर्ण घटना या स्मृति को सदैव अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए सुन्दर भवन, मंदिर मस्जिद, आदि बनवाने के प्रथा थी। चन्देल राजा धंग, गण्ड, विद्याधर, कीर्तिदेव आदि राजाओं ने अपने शासनकाल में इस कला को विशेष महत्व प्रदान किया जो आज भी भारतीय इतिहास में भुलाया नहीं जा सकता। उन राजाओं के द्वारा बनवाये गये खजुराहो के मंदिर अपनी सूक्ष्म कला और विराट कल्पनाओं के साथ चन्देलों के कलाप्रेम के अमरस्मारक है। विशेषरूपसे इन मंदिर और भवनोंको अखण्ड अनुपात से संवारा, अष्टकोणों में राजाओं एवं विभिन्न देवी, देवताओं की मूर्तियों से अलंकृत, कैलाश पर्वत के सात शिखरों की सुन्दर कल्पना पर बना कन्दरीय महादेव[1] एवं कालिंजर का नीलकण्ठेश्वर मंदिर। विविध युद्धों एवं विभिन्न समस्याओं से घिरे होने पर भी मानसिंह तोमर अपनी नवोदिता परम प्रिय पत्नी मृगनयनी के असाधारण सौन्दर्य की विविध छबियों और मुद्राओं को अमरता प्रदान करने के लिए मान मंदिर और गूजरी महल का निर्माण कराया जिनके वन्दनवारों द्वारों, छिझरियों, बुरजों और बड़ेरियों में मृगनयनी के लावण्य और सलोनेपन को संजोने का प्रयास है।[2] गूजरी महल ऐसा लगता था मानो कोई सशक्त सुन्दर माता अपनी गोद में दो होनहार सिंह सपूतों को लिए शान्ति के साथ बैठी है।[3] गूजरी महल के दक्षिणी

1- कीचड़ और कमल, पृ0 34, 73, 74

2- मृगनयनी, पृ0 382, 384

3- मृगनयनी, पृ0 376

कोने पर ही सुन्दर मान मंदिर स्थित था जो बहुत ही सुन्दर बनवाया गया था। स्थापत्य की कलात्मक व्याख्या करते हुए मानसिंह ने कथा था —" शिल्पी और कारीगर निर्माण कला के शब्द और व्याकरण है। उनकी योजना, शब्द न्यास, पदलालित्य और अनुपात को कविता तथा मंजुलमंगल की फुरफुरी देना उसका लक्ष्य है।" कायिक श्रम का मर्म समझते हुए देखने वालों को आह्लाद, स्फूर्ति और शक्ति प्रदान करे यही उनके निर्माताओं का उद्देश्य था तभी तो भारतीय शिल्पकार ध्यान योग और विश्वास की कविता से विराट मार्तण्ड मंदिर और मान मंदिर जैसे भवनों का निर्माण कर सके।[1]

रानी दुर्गावती ने अपने संक्षिप्त शासनकाल में आन्तरिक एवं वाह्य संघर्षों से समय निकालकर जबलपुर के भेड़ाघाट पर मंदिरों का निर्माण करवाती है।[2] अहिल्या बाई अपने निजी खर्च से बचत करके मंदिर आदि बनवाने में खर्च करती है। का जी कहते हैं कि मातु श्री ने उत्तर में बद्रीनाथ केदारनाथ और कुरूक्षेत्र से लेकर दक्षिण में रामेश्वर तक और पश्चिम में द्वारिका सोमनाथ से लेकर पूर्व में गया औरजगन्नाथपुरी तक सैकड़ों मंदिर धर्मशालायें घाट कुँए, इत्यादि बनवाती ~~ओते~~ हैं — ये सब अपनी जागीर की आय की बचत से। अपने निज पर बहुत ही थोड़ा खर्च करती है।[3]

मूर्तिकला :—

रायकृष्ण दास ने मूर्ति बनाने में आरम्भ काल से ही मनुष्य के दो उद्देश्य माने हैं — एक तो किसी स्मृति को व अतीत को जीवित बनाए रखना, दूसरे अमूर्त को मूर्त रूप देना, अव्यक्त को व्यक्त करना अर्थात् किसी भाव को आकार प्रदान करना[4] ही मूर्तिकला का प्रधान उद्देश्य रहा है। आस्तिक मानव मन ईश्वर के सूक्ष्म और अमूर्त रूप को अपनी कल्पनाओं के अनुरूप उसके अनेक रूप छेनी, हथौड़ों के माध्यम से टाँके और आँके जाते हैं। अनुभूति तथा कल्पना, यथार्थ एवं आदर्श का कलात्मकसमन्वय ही श्रेष्ठ कला कृतियों को जन्म देने में समर्थ हो सकता है। अन्य कलाओं की समान मूर्तिकला साधना की पवित्रता की अपेक्षा रखती है। शिल्पकार इस दृश्य जगत से ही सब कुछ नहीं ले लेता

1- मृगनयनी, पृ०

2- दुर्गावती, १५२

3- अहिल्याबाई पृ० 21

4- भारतीय मूर्तिकला, द्वि०सं०, पृ० 4

वह ध्यानमग्न होकर अपने इष्ट देवता का ध्यान लगाता है। उसके हृदय में ज्योति की अवतारणा होती है उसी ज्योति को वह आकार रूप में परिणित कर देता है। कला के प्रति श्रद्धा और साधना के योग से निर्मित कला की सूक्ष्मतम रेखाओं वाले इन पाषाणों को सचेतन सौन्दर्य की अक्षय वाणी को हृदय के भीतर का देवता ही सुन सकता है।[1] मंदिरों में मन की देवता की खोज में आने वालों को ध्यानस्थ शक्ति भय को दूर करने वाली दृष्टि और वरदानमयी वरद मुस्कानों ने संसार की बाधाओं, कठिनाइयों, विपत्तियों और पतनकारी अनुरक्तियों पर शान्ति पूर्वक विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दी है। मान सिंह तोमर मानमंदिर में विष्णु की ऐसीप्रतिमा प्रतिष्ठित कराने की कामना करते हैं जिसके दर्शनों से विवेक की मुस्कानें प्रबलता के साथ इतनी बने रहें कि उन्हें आसपास भी बाँटा जा सके। गूजरी महल में नटराज की सोने की मूर्ति एक विकसित कमल में खड़ी थी। मृगनयनी के ताण्डव नृत्य रूप इसी नटराज मूर्ति के समान ही दिग्दर्शित कराया गया है। अतः मृगनयनी ने कहा कि आपकी कल्पना में जो कविता रही है वह मानमंदिर में अपने पूरे वैभव और श्रृंगार के साथ मुखरित हुई है।[2] ब्रज में कन्हैया की मूर्ति केवल प्रतिमा ही नहीं अपितु नूरबाई को कृष्ण की वह प्रतिमा मुरली के माध्यम से यह कह रहा हो कि बड़ी से बड़ी कठिनाइयों विपत्तियों एवं मुसीबतों पर व्यक्ति को घबराना नहीं चाहिए क्योंकि मैं (कृष्ण की प्रतिमा) सब जगह व्याप्त होता हुआ भी तुम्हारे साथ हूँ।[3] कृष्ण की मोहन मूर्ति का प्रभाव प्रत्येक श्रद्धालु दर्शकों के हृदय में सात्विक भावों का संचार करता है। महिषासुर मर्दिनी अष्टभुजी देवी की प्रतिमा अपनी शान्त मुस्कान से पाप की सन्तुष्टि तथा आँखों की ध्यानमग्न भंगिमा से दुर्गावती की स्थिरता और स्थिति का बोध कराती हुई अखण्ड श्रद्धा और पूर्ण तन्मयता से निष्काम कर्म का सन्देश देती है। दुर्गावती देवी दुर्गा माता से अखण्ड भक्ति और उनकी शरण माँगती है। हिन्दू धर्म को बुरा समझने वाले निर्दयी महमूद बधर्रा भी उन मंदिरों को मैंने देखा था बुतों को भी। कुछ भी हो मंदिर थे खूबसूरत। पत्थर में जान देने के फन में हिन्दुओं ने जिस कमाल को हासिल किया, उसे देखकर ताज्जुब होता है। हमारे मुसलमान तो वैसी कारीगरी नहीं कर सकते। उस कारीगरी

1-मृगनयनी, पृ0 377, 382

2- टूटे काँटे, पृ0 4

3- दुर्गावती, पृ0 27-28

को जबान से अदा नहीं कर सकते, वैसा करतब कर दिखाना तो बहुत दूर की बात है। पहाड़ों, पेड़ , फूल-पत्तियों, कोयल की कूकें और परियों की लोच-लचकें को जैसे एक साथ मंदिरों के बनाव सिंगार में टाँकी और हथौड़े से मचल कर दिया हो। मैं तो देख कर ठगा सा खड़ा रह गया। बुत भी बेपनाह खूबसूरती के साथ खड़े थे। चाहता था उन बुतों को वैसे ही निगल कर पेट के किसी कोने में रखूँ। अरे यह तो कुफ्र है। लेकिन कुफ्र अगर दिल को चैन दे तो क्या बुरा?[1] अतः इससे स्पष्ट होता है कि सौन्दर्य के मंगलमय प्रभाव को अस्वीकार करना मानव के स्वभाव के प्रतिकूल है। भले ही वह धर्म, दर्शन एवं अन्य सिद्धान्तों के पूर्वाग्रह के वश से ऐसा दावा करता रहे। कला के प्रति उपयोगितावादी दृष्टिकोण का समर्थक टहलराम मूर्ति शिल्प की सामन्त कालीन संस्कृति के भग्ना वशेष मानता है परन्तु बांगुदीन के तालाब के किनारे पड़ी खण्डित प्रतिमाओं के रूप रूप-सौजन्य के समन्वय के खण्डित होने पर भी आह्वान चुनौती एवं पुलकित कर देने के प्रभाव से अछूता नहीं रह पाता। उसका खिन्न, उदास, अविश्वासी मन सहसा ही उल्लास की अनजानी किरणों से प्रकाशित हो उठता है।[2]

चित्रकला :—

चित्रकला लोक कला का एक अनुपम अंग है। चित्र के माध्यम से विश्व को मानव सत्य की ~~नु~~ अनुभूति करायी जाती है। मानव जीवन में ईर्ष्या ग्लानि, वीरता, और प्रेम आदि भावों का प्रस्फुटन चित्रकार की तूलिका द्वारा प्रभावोत्पादक शैली में दर्शित होता है। बुन्देली चित्रकला के विशेषज्ञ अम्बिका प्रसाद 'दिव्य' का अभिमत है –' बुन्देली चित्रकला की परम्परा का स्रोत भित्तिचित्रों में है। बुन्देलखण्ड में तो अब भी चित्रकला के कुछ ऐसे रूप प्रचलित मिलते हैं कि जिन्हें आदिम काल का ही कहें तो अत्युक्ति न होगी। आज भी दीपावली में सुरात का चित्र भित्ति पर खरिया हल्दी चूने से बनाते हैं। दूसरा चित्र ~~कि~~ वट वृक्ष का मिलता है यह दिवाली के दूसरे दिन चिरैया का चित्र बनाया जाता है। तीसरा चित्र श्रावण मास में नवमी के पूजा पर बनाते हैं। इसमें स्त्री का चित्र बनाते है। इसी तरह से बुन्देलखण्ड ने न जाने कितने चित्र प्रचलित हैं। बुन्देलखण्ड में चित्रकला का प्रचलन आदिकाल से चला आ रहा है। शयन कक्ष को आज भी लोकगीतों में चितरसारी

1- मृगनयनी, पृ0 73-74

2- अमरबेल, पृ0 80

कहा जाना यह सूचित करते हैं कि एक युग में शयनागार अनिवार्यतः चित्र सज्जित रहा करते होंगे। ग्वालियर में महल की दीवालों पर सुन्दर सजीव चित्रों को देखकर मृगनयनी इस कला के प्रति उन्मुख होती है।[1] बाद में कला उसे चित्रकारी की शिक्षा देने को नियुक्त की जाती है। कुशाग्रबुद्धि मृगनयनी अल्प काल में ही इस कला में दक्षता का परिचय देने लगती है। वह अपने कक्ष में विविध प्रकार के चित्र अंकित करती है। उसका कर्तव्य और कला नामक चित्र वर्मा जी के कला संबंधी विचारों को सफलतापूर्वक अभिव्यक्ति मिली है। राजकुमारी दुर्गावती दलपति सिंह को प्रत्यक्ष देखने के लिए अपनी सखी रामचेरी द्वारा दलपति सिंह का कागज पर अंकित चित्र देखने को लालायित हो उठती है। अचल मेरा — कोई' इस उपन्यास में अचल कुन्ती से चित्रकला सीखने की बात कहता है। संगम उपन्यास में शरद ऋतु के स्वागत में बुन्देलखण्ड की कन्याओं द्वारा गोबर निर्मित बेडौल रेखाओं द्वारा फूलों तथा रंग बिरंगी चौक से युक्त 'सुअटा' भित्ति चित्रों और मूर्तिकला के सम्मिश्रण से विकसित परम्परागत लोक कला का स्थानीय नमूना कहा जा सकता है।[2]

संगीतकला :—

संगीत शब्द 'गीत' में 'सम' उपसर्ग लगाकर बना है जिसका अर्थ होता है गीत सहित अर्थात् नृत्य और वादन के साथ किया गया गीत संगीत कहलाता है। संगीत को हमारे यहाँ विशेष महत्व दिया गया है। नाद को ब्रह्म कहा गया है। सस्वर शब्दों को ही नाद या संगीत कहते हैं। पद्मभूषण आचार्य, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्राचीन भारत में संगीत की लोकप्रियता की चर्चा करते हुए लिखा है —"संसंगीत का प्रचार इस देश में बहुत पुराने जमाने से है। संगीत का राजघरानों, विदग्ध पुरूषों के एकान्त कक्षों और देव मंदिरों में आदरपूर्वक स्थान है। संगीत में गीत प्रमुख है वाद्य और नृत्य सहायक भर है। मंदिरों में पूजन के उपरान्त वीणा, स्वरमण्डल, मृदंग मंजीर आदि के साथ देवस्तुति में सामूहिक गायन और कभी कभी अभिनय सहित नृत्यों का आयोजन भी होता था। राजा मानसिंह तोमर श्रम परिहार के लिए आचार्य विजय जंगम का वीणा वादन मुग्ध होकर सुनता है। नरवर से ग्वालियर संगीत प्रतियोगिता में भाग लेने आया हुआ प्रसिद्ध संगीतज्ञ बैजू राजा का संगीत कला के प्रति असीम प्रेम और उत्साह पाकर नरवर

2- संगम, पृ0 18, 8।

1- मृगनयनी, पृ0 200

लौटने का विचार त्याग देता है। निन्नी भी ग्राम बाला होते हुए भी संगीत में रूचि रखती है। प्राकृतिक सुरीले कण्ठ की स्वामिनी और प्रतिभा सम्पन्न होने के कारण उसने राई गाँव में कितने ही गीत सीख लिए थे। वह खेत की रखवाली करते हुए मचान में गाती है। 'जाग परी मैं पिया के जगाये' जो कि उसका विशेष प्रिय गीत है। मानसिंह और मृगनयनी की प्रेरणा से बैजू ध्रुपद से होरी की गायकी की रूपरेखा सँवारता है और नायक की उपाधि से विभूषित किया जाता है। बैजू गूजरी टोड़ी, मंगल टोड़ी मंगल गूजरी आदि रागों की रचना करता है। ग्वालियर में मानसिंह द्वारा संगीत विद्यापीठ आज भी उसके संगीत प्रेम का साक्षी है।[1] गोड़ों में संगीत और नृत्य सदैव ही लोकप्रिय रहा है। दलपतिशाह के शासन में मनियागढ़ में अगहन की पूर्णमासी के मेने परदेवी के सामने ढोल और सारंगी में गीत गाये जाते हैं। करमा सैला आदि नृत्य प्रस्तुत करते हैं। रामचेरी के सुरूचि पूर्ण गीत से दलपति सिंह यह अनुमान लगा लेते हैं कि कालिंजर में संगीतकला में लोग विशेष रूचि रखते हैं। विवाह के समय पर नृत्यगान के उमंगपूर्ण सामूहिक आयोजन का उल्लेख हुआ है।[2] राव दिलीपसिंह भी विवाह के समय हो रहे नृत्य गान को रूचिपूर्वक सुनता है। और अपनी नवोढ़ा पत्नी कलावती से गाने नाचने का आग्रह करता है। कलावती द्वारा नृत्य के विषय में अनभिज्ञता प्रगट करने पर उसका क्षुब्ध आश्चर्य यह प्रगट करता है कि गोड़ों में नृत्य एवं गायन सर्वप्रचलित कलायें है।[3] सूरदास नन्ददास और रसखान की भक्ति माधुरी जब कभी नूरबाई जैसे किसी कलावन्त के सुधासिक्त कण्ठ से प्रवाहित होती तो श्रोता मंत्रमुग्ध हो उठते थे। नूरबाई का गान ब्रज के तीर्थ यात्रियों और रसियों को किसी गोपी के अवतार या शापभ्रष्ट अप्सरा की स्वरलहरी का भ्रम उत्पन्न करते हैं।[4]

भारत को एकता के सूत्र में पिरोने और स्वराज्य का विराट रूप देखने वाले माधव जी सिन्धिया की कला-रसिकता युद्ध और संघर्षों की आँच में सूख नहीं जाती। बेगम की तन्मय स्वर माधुरी में भीगी रात भी पलासी में गाई अपनी ही कविता उन्हें अनेक विषम क्षणों में उबारती और करूणा में डुबाती है।[5] रानी के गंगाधर राव

1- मृगनयनी, ३५८

2- दुर्गावती, पृ0 8, 9, 173

3- कचनार, पृ0 19

4- टूटे काँटे, पृ0 77

5- माधव जी सिन्धिया, पृ0 398

संगीत एवं नृत्य दोनों में ही रूचि रखते हैं। मुगल खाँ, मोतीबाई, दुर्गा, जूही आदि उच्चकोटि के कलाकारों को संरक्षण देना उनके कला प्रेम को स्पष्ट करता है। 'कुण्डली चक्र' का सम्पन्न गृहस्थ ललितसेन अपनी बहन रतनकुमारी को संगीत की शिक्षा देने के लिए अजित को शिक्षक नियुक्त करता है। संगीत विषयक शास्त्रीय ज्ञान से अनभिज्ञ होने पर भी दरबारी कान्हड़ा में गाये गये कबीर के पद को सुनकर संगीत की शक्ति से प्रभावित होता है और हारमोनियम बजाना सीखता है।[1] सजातीय युवक भुजबल भी संगीत में रूचि रखता है और अजित के तम्बूरे के साथ सुरीले दानेदार गले से गजल गाता है।[2] 'अचल मेरा कोई' के चारों पात्र अचल, कुन्ती, निशा और सुधाकर कला रसिक हैं। विशेषतः अचल और कुन्ती न केवल संगीत और नृत्य के अभ्यास को नियमित समय देकर अपने कला प्रेम का परिचय देते हैं प्रत्युत सैद्धान्तिक चर्चाओं द्वारा कला के उद्देश्य पर भी अपने ढंग से विचार प्रगट करते हैं।[3] संगम में विवाह के समय स्त्रियों का करूण कोमल विलम्बित स्वरों में गाया गया 'शीश नवे पर्वत नवे' गीत सांसारिक गीतों की पृष्ठभूमि और प्रभाव सहित प्रस्तुत हुआ है। सावन में झूले और वर्षागीतों की स्मृति ससुराल में व्यंग्य दग्ध जानकी के हृदय को आकुल व्याकुल कर देती है और शारदागम के स्वागतार्थ गाये गये सुअटा के गीतों की तान से उसे रोमांच हो आता है आँखें अनायास भर जाती है।[4]

बुन्देलखण्ड के प्रसिद्ध संगीतज्ञ दतिया के महाराज भवानी सिंह और समथर के राजा चतुरसिंह गायन और वादन कला के प्रेमी और चतुर पारखी थे। सेवड़ा के बीहड़वन में एक पंजाबी बाबा रहते थे वह महान संगीतज्ञ थे। वह दतिया के सुप्रसिद्ध पखावजी उस्ताद कुदउसिंह के पास आते थे। बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत ओरछा राज में प्रवीणराय, चन्द्रसखी, हरिराम व्यास आदि शास्त्रीय संगीत के प्रेरणा स्रोत रहे हैं। इनकी संगीत परम्परा आज भी इस भूभाग में प्रचलित है। बनारस की कजरी, पंजाब का टप्पाः राजस्थान का रसिया जिस प्रकार विख्यात है उसी प्रकार बुन्देलखण्डी शास्त्रीय संगीत में 'लेद' को प्रमुख स्थान प्राप्त है जिसके बोल इस प्रकार हैं —

1- कुण्डली चक्र, पृ० 10

2- कुण्डली चक्र, पृ० 27

3- अचल मेरा कोई १३०

4- संगम, पृ० 18, 81

मोरी बोई पनियाँ की गैल

सिपाइ राजा छोड़ो बरज कौ बैठवो

बुन्देलखण्ड में यद्यपि इस राग के अनेक गायक ग्वालियर दतिया आदि में है लेकिन उस्ताद आदिल खाँ लेद के प्रमुख गायक माने जाते हैं।[1] डा0 वृन्दावन लाल वर्मा ने अपनी कहानी में उस्ताद आदिल खाँ की बड़ी ही प्रशंसा की है।[2] वर्मा जी के उपन्यासों में चित्रित कला प्रेम भारतीय संस्कृति के मूल आदर्शों के ~~अन~~ अनुरूप है। कला की सार्थकता मानव के उदात्त गुणों का विकास करने और अपनी आसुरी वृत्तियों के परिष्कृत करने में मानी गयी है। कला और कर्तव्य जीवन तुला के दो पलड़े हैं। दोनों का सम्यक् सन्तुलन ही कल्याणप्रद है।

1- बुन्देलखण्ड की संस्कृति और साहित्य, पृ0 260, 264

2- अपनी कहानी, वृन्दावन लाल वर्मा, पृ. १२८

पंचम अध्याय

वर्मा जी के उपन्यासों में भौगोलिक आंचलिकता

पंचम अध्याय

वर्मा जी के उपन्यासों में भौगोलिक आंचलिकता

किसी अंचल विशेष की भौगोलिक स्थिति वहाँ के निवासियों पर अपना गहरा प्रभाव डालती है। यही कारण है कि मानव समाज का लेखा जोखा करने वाला साहित्य भी भौगोलिक प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता। भूगोल का संबंध किसी देश विशेष की आकृति, जलवायु, धरती, पर्वत, वनस्पति जीव-जन्तु, जलाशय, क्षेत्रफल, खनिज पदार्थ आदि से जानी जाती है।

डा0 वृन्दावन लाल वर्मा बुन्देलखण्ड की पावन भूमि में ही अवतरित हुए, वहीं पर शैशव की अँगड़ाइयाँ लीं। प्रत्येक नदी, पर्वत, वन खण्ड एवं प्राकृतिक दृश्य के साथ विशिष्ट आत्मीयता का अनुभव करते रहे, फलतः बुन्देलखण्ड का आंचलिक बोध उनकी नस-नस में परिव्याप्त हो गया। यही कारण है कि उन्होंने जो कुछ भी लिखा है उसमें आंचलिकता स्वतः मुखर होकर अभिव्यक्त हो उठी है। बुन्देलखण्ड के भौगोलिक पर्यावरण में जिस सफलता के साथ इनके उपन्यासों को अपनाया है, वह तो अध्येता ही जान सका है। ऐसा लगता है कि इन भौगोलिक चित्रों के चित्रण में वर्मा जी का लेखकीय व्यक्तित्व उनके चित्रकार व्यक्तित्व के साथ घुलमिलकर ऐसा रागात्मक बोध लेकर प्रगट होता है कि जिसको चित्रित की गयी नदियाँ मुस्काती हैं, नाले कुछ कुछ बोलते हैं, पर्वत शिखर अपनी ओजस्विनी वाणी के द्वारा हमें कुछ सन्देश देते हैं और वनप्रान्त अपनी उच्चता और मनोहरता के कारण जहाँ एक ओर हमें रोमांचित करते हैं वहाँ दूसरी ओर बलात् हृदय को आकर्षित करते हैं। आंचलिकता बोध के इन कोमल प्रसूनों में वर्मा जी के अस्थिरकालमय ऐतिहासिक उपन्यासों को रोचकता एवं सजीवता प्रदान की है।

बुन्देलखण्ड जिसे कि मुख्य रूप से वर्मा जी की कथाभूमि कहा जा सकता है, भारत का वह मध्यवर्ती भूखण्ड है जो उत्तर की ओर गंगा के मैदान से मिलता है। दक्षिण की ओर नर्मदा नदी की गहरी घाटी इस की सीमा बनाती है। इसके पश्चिम में मालवा का पठार और पूरब में छोटा नागपुर का पठार है। बुन्देलखण्डी बोली एवं संस्कृति की दृष्टि से उत्तर प्रदेश के झाँसी, जालौन, बाँदा, ललितपुर एवं मध्य प्रदेश के सागर, दमोह, जबलपुर टीकमगढ़, छतरपुर, पन्ना, दतिया एवं ग्वालियर जिले का दक्षिणी भाग इस क्षेत्र में परि-किया जा सकता है। इस भौगोलिक स्थिति के कारण मध्ययुगीन राजनैतिक हलचलों, जिनका

केन्द्र प्रायः दिल्ली आगरा से बुन्देलखण्ड का प्रभावित होना बिल्कुल स्वाभाविक था। निरन्तर संघर्षों से जूझते रहने की विवशता ने बुन्देलखण्डी निर्भीकता को शौर्य और शस्त्र प्रियता का बाना पहना दिया। घने वनों की पर्याप्त संख्या होने के कारण सिंह, अरने भैंसे, जंगली सुअर हिरण आदि आखेट योग्य पशुओं की इस क्षेत्र में प्रचुरता है। विशेषतया नरवन और मनियागढ़ आखेट के योग्य आदर्श स्थानहैं। कुछ तो खेती और प्राणों की रक्षा और कुछ मनोरंजन के सुलभ साधन के रूप में आखेट प्रियता यहाँ की अपनी विशेषता है। माण्डेय, कैमूर आदि पर्वत श्रेणियों ने इस प्रदेश को जटिल घाटियों, दुर्गम भागों और बीहड़ों का उपहार दिया। युद्धकाल में इन स्थितियों को प्राकृतिक वरदान मानकर यहाँ के निवासियों ने अपनी स्वाधीनता की भरसक रक्षा की। गढ़कुण्डार, अजयगढ़, वीरागढ़, और कालिंजर अपने समय के दुर्जेय दुर्ग समझे जाते थे और इनके रक्षक दुर्दान्त योद्धा। बेतवा, सिन्ध, धसान पहूज टोंस आदि अनेक नदियों से अभिसिंचित होने पर भी कठिन तेलिया पत्थरों की विशालकाय चट्टानों और शुष्क पठारी भूमि के कारण यहाँ के निवासी को सम्पन्नता अनायास प्राप्त नहीं हो सकती। गर्मियों में भीषण लू के थपेड़े और सर्दियों में कड़कड़ाते शत ने बुन्देलखण्ड की संस्कृति को कष्ट सहिष्णुता और संघर्षों से जूझने का असीम धैर्य दिया है। इस प्रकार भारत की सामान्य भौगोलिक विशेषताओं के साथ बुन्देलखण्ड की प्राकृतिक स्थिति ने भी यहाँ की संस्कृति को बहुत कुछ प्रभावित किया है। यह प्रभाव कभी प्रत्यक्ष और कभी ऐतिहासिक परि - स्थितियों से छनकर पहुँचता है।[1]

वर्मा जी के उपन्यासों में हमें भौगोलिक आंचलिकता के पर्याप्त दर्शन होते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि उपन्यासकार को बुन्देलखण्ड की चप्पा चप्पा भूमि का प्रत्यक्ष ज्ञान रहा है। क्या घनघोर वन, क्या दुर्गम दुर्ग, क्या ऊँचे ऊँचे गगनचुम्बी शैल, बुन्देलखण्ड के क्षेत्र में आने वाले सभी तत्वों का उन्होने जितना पर्यटन किया है उतना संभवतः बुन्देलखण्ड का कोई भी कलाकार नहीं कर सका। उनके उपन्यासों मेंप्रकृति सजीव हो उठी है। बुन्देलखण्ड की भौगोलिक स्थिति का ऐसा जीता जागता चित्रण तो बुन्देलखण्ड के सर्वश्रेष्ठ कवि दद्दा श्री मैथिलीशरण गुप्त जी भी नहीं कर सके। यहाँ पर हम भौगोलिक आंचलिकता के कुछ प्रमुख

1-डा0कृष्णा अवस्थी, वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0 72-73

सूत्रों के आधार पर उनके उपन्यासों का भौगोलिक विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं —

(क) नदियाँ :—

वर्मा जी के उपन्यासों में प्राकृतिक सौन्दर्य अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया है। यहाँ के नदी, नाले, पर्वत तथा वन इतने सुहावने हैं कि जिनकी उपेक्षा करके बुन्देलखण्ड का जीवन चित्रित नहीं किया जा सकता। क्योंकि यहाँ की प्रकृति केवल मनोरंजन देने वाली ही नहीं है अपितु यहाँ के जनजीवन का बहुत कुछ आधार भी है। उदाहरणार्थ वनों से अनेक प्रकार के फल फूल मिलते हैं जो भोजन के अभाव की पूर्ति करते हैं। यहाँ की नदियों अपने किनारे पर बसे गाँवों के लिए वरदान हैं। बुन्देलखण्ड में बहने वाली जिन नदियों का चित्रण वर्मा जी ने कि अपने उपन्यासों में किया है वे हैं — बेतवा, चम्बल, राई, साँक, टोंस, धसान, केन आदि।

प्रस्तत अंश में जिन जिन उपन्यासों में उपरोक्त नदियों के मनोरंजक वर्णन आये हुए हैं मूल रूप में वे उद्धरण आलोचनात्मक ढंग से प्रस्तुत किए जा रहे हैं। झाँसी की रानी' उपन्यास में लेखक ने यहाँ की अत्यन्त प्रसिद्ध एवं भीषण नदी बेतवा का कैसा विचित्र चित्रण किया है। यथा —

"बेतवा की धार पुंज के ऊपर पुंज सी दिखाई पड़ती थी। क्रम अभंग और अनन्त सा। जल एक क्षण में ही अनेक बार जलपुंज दूसरे से संघर्ष खाता और एक दूसरे से आगे निकल जाने का अनवरत, अथक, अनूठा प्रयास करता है, तब इतना फेनिल हो जाता है कि सारी नदी में फेन ही फेन दिखलाई पड़ता था। झाग की इतनी बड़ी और निरन्तर बहती हुई राशियाँ आड़े आ जाती थी कि घुड़सवारों को सामने का किनारा नहीं दिखाई पड़ पाता था।"

"लहरों के एक पल्लड़ का नीरा, उस पर के झाग भी बेधा कि दूसरा सामने शब्दमय प्रवाह की निरर्थक बाधा मानो बार बार कहती थी, क्यों बचो, बचो। सामने की उथल पुथल से आगे बढे कि बगल से थपेड़े पड़ीं। सवारों के चारों ओर भँवरे पड़-पड़ जा रही थीं। एक भँवर पार की कि दूसरी तुरन्त मौजूद।"[1] यहाँ पर वर्मा जी ने बेतवा को

1- झाँसी की रानी, पृ0 283

कितनी सूक्ष्मता के साथ देखा है उसकी उठती हुई तरंगों की भीषणता एवं तीव्रता लहरों के फेनिल अच्छ्वास साकार उठे हैं। एक पर एक आक्रमण करती हुई लहरें पाठक के सामने पूर्ण दृश्य उपस्थित कर देती है। आवर्तों के शत-शत मुकुल किस प्रकार वीरांगनाओं को विभीषिका देते हुए उन्हें अवरूद्ध करने का प्रयास करते हैं। यह वर्णन अपने में बड़ा रोमांचक और भीषण एवं स्वाभाविक है।

'गढ़ कुण्डार' उपन्यास में कई स्थलों पर बेतवा नदी का उल्लेख किया गया है। यथा —" प्राचीन गढ़ी के पृथ्वी से मिले हुए खण्डहल में अब वन्यपशु विलास किया करते हैं। और नीचे से बेतवा पत्थरों को तोड़ती फोड़ती कल-कल निनाद करती हुई बहती रहती है।"[1]

इसी उपन्यास के एक अन्य स्थल में लेखक ने बेतवा की कल-कल धारा का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। इसके पथरीले मार्ग का संघर्ष अनेक धाराओं के कारण बने हुए लघु द्वीप, किनारे पर लगे हुए जामुन, अमर आदि के वृक्ष बड़ी-बड़ी दहारों के दृश्य और पशु-पक्षियों का तटवर्ती शब्द लेखक की लेखनी से साकार हो उठे हैं। यथा —

"बेतवा नदी अपनी दोनों धारों से कल-कल करती बहती जा रही थी। कुछ दूर ऊपर से पत्थरों के टकराने का शब्द पवन के साथ मिल कर कभी धीमा और कभी प्रबल हो जाता था। दोनों धारों के बीच में कई टापू बन गये थे। एक जो सबसे बड़ा था, वह अब भी है लगभग आधा मील लम्बा और पाव मील चौड़ा था।

उसके किनारे पर जामुन, ऊमर के सघन और सदा हरे रहने वाले वृक्ष नीचे को झुक आये थे। अस्ताचलगामी सूर्य की किरणें हरी पत्तियों के साथ कलोल-सी कर रही थीं। इनके नीचे कहीं पतली-सी धार बहती थी और प्रायः बड़े बड़े गहरे नीचे जल से भरे हुए दह थे। पक्षी इन पर अपनी परछाही डालते हुए रात के बसेरे के लिए इधर उधर चले जा रहे थे। कभी बाज को और कभी किसी जंगली पशु कोपानी के लिए दह की ओर उतरते हुए देखकर टिटिहरी बोल उठती थी।"[2]

इसी प्रकार एकाध स्थलों में बेतवा के फुटकर चित्र मिलते हैं।[3] एक अन्य स्थल में लेखक ने बेतवा की गम्भीरता उसकी अनेक धाराओं और बीच में बने हुए टापूओं

1- गढ़ कुण्डार, पृ० 8

2- गढ़ कुण्डार, पृ० 92

3- गढ़ कुण्डार, पृ० 105

का स्वाभाविक चित्रण किया है। यथा —— अर्जुन अनसुनी करके घाट पर पहुँचा। यहाँ जल बहुत गहरा और पाट बहुत चौड़ा था। घाट की सीध में नदी की तीन धारें हो गयी थीं। एक तो प्रधान और बड़ी यही। दूसरी एक छोटे और एक बड़े टापू के बीच में नाले के बराबर घाट पश्चिम उत्तर की ओर से चौड़ी धार में आ मिली थी। बड़ा टापू बरौल द्वीप था। इस द्वीप के उत्तर की ओर नदी की तीसरी और अन्तिम धार थी, जो दूसरी धार से कुछ बड़ी थी और जिसमें यत्र तत्र सदा थोड़ा बहुत पानी भरा रहता था। इन दोनों नाले-सादृश्य धारों के बीच में बरौल द्वीप था। इस द्वीप के समानान्तर और उसके पूर्वीय किनारे से सटी हुई बेतवा की प्रधान धार थी। अब भी यह सब वर्तमान है।"[1]

गढ़ कुण्डार' के अन्य स्थल पर लेखक ने ऊँची नीची चट्टानों, रेत के टीलों उसकी तीव्र गति से प्रभावित होने वाली धाराओं का बड़ा ही सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है। यथा ——" अंडाघाट पर ऊषा-काल में सब लोग पहुँच गये थे। पार करने में कुछ समय लग गया। ऊँची नीची विषम स्थल चट्टानों और रेत के टीलों, पानी की छोटी बड़ी टूटती और सरसराती धारों को पार करने में कुछ समय लग गया।"[2]

'लगन' उपन्यास में चौदह स्थलों में बेतवा नदी के विभिन्न चित्र प्राप्त होते हैं इनमें जो विशेष प्रभावशाली लगते हैं उनके अंश उद्धृत किए जा रहे हैं। बेतवा का तैरना। जिस नदी के पहाड़ और टौरियों को तोड़-फोड़कर मार्ग बनाया है और अनेक धाराओं में होकर बहती है उसको बरसात में तैर कर पार करना दुष्कर कार्य है। तिस पर बजरा से बरौल नदी नदी जाना करीब करीब असम्भव है। इस उल्लेख में बेतवा के वर्षाकालीन भीषण रूप का कैसा अच्छा चित्रण है। वास्तव में उसका पथरीला मार्ग उसकी तीव्र धाराओं को कितनी तीव्र गति दे देता है यह तो वर्षाकाल में उनके प्रत्यक्ष दर्शन से ही यथार्थ जाना जा सकता है।[2]

एक अन्य स्थल में लेखक ने बेतवा के उस रूप का चित्रण किया है जहाँ पर पक्षी का कलरव अपनी छटा बिखेरता है और जल में उछलने वाली मछलियाँ मनोहर नृत्य करती हुई प्रतीत होती है।

1- गढ़ कुण्डार, पृ0 138-139

2- गढ़ कुण्डार, पृ0 155

3- लगन, पृ0 1,5

"नदी में टिटिहरी बोल रही थी। किनारे के वृक्षों पर श्यामा चिड़िया चिहक उठी। नदी में मछली उछल कर शोर करने लगी और मगर खुले स्थान से सरक कर पानी में समा गया।"[1]

एक स्थल में लेखक ने बेतवा के किनारे की भीषणता और उसकी धाराओं का शब्दायमान प्रवाह इस प्रकार शब्दायित किया है —" पहले तो देव सिंह बेतवा के इसी किनारे- किनारे नालों, मरको, काँटो और कंकड़ों को पार करता हुआ चला गया फिर एक जगह जहाँ नदी में होकर जाने का सुभीता था बरौल की ओर बढ़ गया। कहीं कहीं नदी अब भी छोटी छोटी कई धाराओं में ऊँची चट्टानों पर से भदभदा कर बह रही थी।"[2]

इसके अतिरिक्त 'लगन' उपन्यास के अनेक पृष्ठों में बेतवा के द्वीपों, उसकी भयंकर चट्टानों एवं उसकी दुर्गम धाराओं का रोमांचक चित्रण प्रस्तुत किया गया है।[3] जिससे जाना जाता है कि लेखक ने बेतवा को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखा है और विशेषतया वर्षाऋतु में उसकी भीषणता का दृश्य तो लेखक के हृदय में ही समा गया है।

'मृगनयनी' उपन्यास में लेखक ने साँक नदी एवं राई नदी का उल्लेख किया है। जो ग्वालियर राज्य के आस पास प्रवाह मान है। यह दोनों नदियाँ भीषण पर्वतों एवं वनों के बीच से होकर अपनी यात्रा तय करती है।

"नदी के किनारे गाँव के पास पहाड़ियों, जंगल के बीच बीच में कुछ खेतों में गेहूँ और चने के पौधे लहलहा उठे, खेत पकने पर आ रहे थे मस्ती के साथ झूमने लगे। साँक नदी में पानी था, प्रवाह था अधपके धान्य को स्पन्दन देता हुआ पवन नदी के प्रवाह को भी पुचकार पुचकार लेता था।"[4]

यहाँ पर लेखक ने साँक नदी के प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण किया है और पवन के मानवीकरण के साथ ही साथ साँक को भी मानवी प्रतिरूप प्रदान किया है। जिससे ऐसा ज्ञात होता है कि मानो साँक नदी एक भोली भाली छोटी बालिका है जो पवन के वात्सल्य की अधिकारिणी है। ऐसा सजीव चित्रण वर्मा जी जैसे प्रकृति प्रेमीलेखक

1- लगन, पृ0 6

2- लगन, पृ0 8-9

3- लगन, पृ0 37, 39, 40, 53, 73

4- मृगनयनी, पृ0 2

ही कर सकते हैं। राई नदी भी वन्य क्षेत्र प्रवाहित है। इसकी धारा मन्द होने के कारण इसमें मछलियों का शिकार करके ग्रामीण लोग अपनी जीविका का निर्वाह करते थे। यथा —

"नदी कम हो जायेगी। मछली मिलने लगेगी और वर्षा कम हो जाने पर शिकार भी।"[1]

ग्रामीण लोग राई नदी के पानी में यह गुण मानते हैं कि उसमें बल देने की अपूर्व क्षमता है यही कारण है किजब राजा मानसिंह निन्नी से पूछता है कि इतना बल तुममें कहाँ से आया है तबवह कहती है कि राई नदी के पानी से। हम लोगों की गाँठ में है ही क्या।[2] मृगनयनी इन नदियों से इतना अनुराग रखती है कि वह राजा से आग्रह करती है कि "साँक को ही ले चलिए, वहाँ में नहर काटकर ले जाइए किले तक । मैं तो इसी का ही पानी पिऊँगी।"[3] इस उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि बुन्देलखण्ड की यह नदियाँ यहाँ के ग्रामीणों को कितनी प्रिय हैं फिर वर्मा जी जैसे भावुक उपन्यासकार इन नदियों के प्रति इतने रागात्मक है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

'महारानी दुर्गावती' उपन्यास में केन नदी का भी सामान्य उल्लेख मिलता है।[4] इसी उपन्यास में 'गौर' नामकी एक पर्वतीय नदी का उल्लेख मिलता है जो चिरई डोंगरी नामक स्थान के पास है जो गोडों बद्धा का स्थान है। यथा —

"उसके निकट गौर नामकी नदी पहाड़ियों को काटती छेदती सर्प की गति से चलकर नर्मदा नदी में मिली है। उसके एक किनारे की सीधी पहाड़ी में प्राकृतिक गुफायें कन्दरायें है।"[5]

एक स्थल पर 'नरही' नामक एक छोटी नदी का चित्रण है जो बरेला नामक स्थान से पाँच छैः कोस की दूरी पर है।[6] इसके अतिरिक्त इस उपन्यास में

1- मृगनयनी, पृ0 76

2- मृगनयनी, पृ0 184

3- मृगनयनी, पृ0 185

4- दुर्गावती, पृ0 84

5- दुर्गावती, पृ0 244

6- दुर्गावती, पृ0 324

'हिरन और सुनार' नदियों का चित्रण किया गया है। चौरागढ़ दुर्ग के समीप हिरन नदी का अस्तित्व पाया जाता है जो भांडेर पर्वत की लम्बी श्रेणी चली गयी है उसी के आस पास प्रवाहित है। यह नदी पर्याप्त चौड़ी है।[1] हिरन नदी का चित्रण करता हुआ लेखक कहता है —

"चलते गये, फिर हिरन नदी के इसी किनारे अटक गये। इस नदी का पार करना अनिवार्य था। पूरे रूप में चढ़ी हुई थी। भड़भड़ाती इठलाती चली जा रही थी। इस किनारे और उस किनारे के बड़े- बड़े वृक्षों के तने डूबे थे। नदी का पाट चौ- ड़ा तो है ही, उस समय लग रही थी जैसे नर्मदा की छोटी बहन हो।"[2]

'कचनार' उपन्यास में वर्मा जी ने यहाँ की सुप्रसिद्ध नदी धसान का ऐसा चित्रण किया है जिससे उसके स्वरूपका स्पष्ट ज्ञान होता है। यथा —

,"ऊँचे पहाड़ों की लहरों में होकर धसान कहीं चौड़े और कहीं सकरे पाटों में बह रही थी जहाँ होकर बरात का मार्ग था वहाँ नदी की तली समस्थल पथ- रीली थी। रेत बहुत कम। पानी की धार उथली। कोहे के वृक्ष नदि के दोनों ओर सघ- नता के साथ नदी की ओर झुके हुए मानों विभूतिमयी धसान की निःशब्द वन्दना कर रहे हों।"[3] इस उल्लेख से लेकर इस बात की भी व्यंजना करता है कि धसान हमारी पूजा एवं श्रद्धा की देवी तुल्य है। उसने सौन्दर्य विधान के साथ ही साथ धसान की आकृति को भी शब्दों में बाँधने का प्रयास किया है।

'विराटा की पद्मिनी' उपन्यास में लेखक ने विक्रमपुर के समीप बहने वाली पहूज नदी का चित्रण किया है जिसे पुण्यावती नदी कहते हैं। यथा —

"मकर संक्रान्ति के स्नान के लिए दलीप नगरी के राजा रायक सिंह पहूज में स्नान करने के लिए विक्रमपुर आये। राजा ने जनार्दन से कहा कि पहूज में तो पानी बहुत कम है, डुबकी लगाने के लिए पीठ के बल लेटना पड़ेगा। जनार्दन ने पानी मुश्किल से घुटनों तक होगा। थोड़ी दूर पर एक कुण्ड है उसमें स्नान हों, वैसी मर्जी हो।"[4]

1- दुर्गावती, पृ0 170

2- दुर्गावती, पृ0 177

3- कचनार, पृ0 7

4- विराटा की पद्मिनी, पृ0 1

इस उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि पहूज एक छोटी सी नदी है जिसमें यत्र तत्र छोटे से कुण्ड भी हैं पर्वतों में वह उथली है किन्तु मकर संक्रान्ति जैसे पर्वों में जनता उसमें स्नान करती थी।

इसी उपन्यास में वर्मा जी ने बुन्देलखण्ड के उस पंचनद स्थान का चित्रण किया है जहाँ पर यमुना, चम्बल, सिन्धु, पहूज और कुमारी ये पाँच नदियाँ आकर मिलती हैं। यथा —

"पंचनद, जिसे पचनदा भी कहते हैं, बुन्देलखण्ड का एक विशेष स्थान है यमुना, चम्बल, सिन्धु, पहूज और कुमारी ये पाँच नदियाँ उस जगह आकर मिली हैं। स्थान की विस्तृत भयानकता उसकी विशाल सुन्दरता से होड़ लगाती है। बालू, पानी और हरियाली का यह संगम वैभव, भय और सौन्दर्य के विचित्र मिश्रण की रचना करता है।"।

यह पंचनद कालपी नगर के समीप दलीपनगर की सीमा के भीतर मान जाता था। लेखक ने इस स्थान की सुन्दरता और भीषणता का सफल चित्रण किया है।

रामचरण ह्यारण 'मित्र' ने बुन्देलखण्ड की जीवनदायिनी नदियों में बेतवा पहूज(पुण्यावती) सिन्ध, धसान, नर्मदा, यमुना चित्रण किया है। सरिता माला शीर्षक के अन्दर कवि ने निम्नलिखित नदियों की महिमा का गुणगान किया है—(1)सुखनई(2) बेतवा(3)सतार(4)केन(5)धसान (6) बवेड़ी (7) यमडार(8) नर्मदा (9)धेडर (10)सिन्ध (11) पार्वती(12) चम्बल।

"सुखनई सुखदे हर्षाती हमें
पय पान करा रही बेतवा प्यारा।
प्रिय मित्र सुना कल गान रही ये,
सतार सितार के तार के द्वारा॥
कर केन कलोल कला विकला,
सिखला रही है कला कौशल सारा।
दुख द्वन्द्व विपत्तियाँ काटने को
बनती असि धार धसान की धारा॥

1- विराटा की पद्मिनी, पृ0 68

बेड़ी काट देती है बवेड़ी की प्रखर धार,

तीव्र जमदाढ़ यमहार कर देती है।

मित्र कहै प्रबल प्रचण्ड नर्मदा की धार,

फूले पाप पुंज के उखाड़ तरू देती है।

दुर्मत दुरूह दुर्ग खेड़र खंड़र करै, स्वर्ग सुखसार सुखनई भर देती है।

सिन्धु सिन्धुजा की सुख सम्पत्ति अपार देती है

पारवती शंकर समान कर देती है।

सुखद स्वतंत्र करने को ये बुन्देलखण्ड,

बेतवा ने पावन प्रतिज्ञा पूर्ण पाली थी।

सबज सुरंग सजा 'केन' ने तुरंग मित्र

चम्बल ने चूम चतुरंगिनी सम्हाली थी।

गूँजती 'धसान' की धुकारध्वनि-धौंसा देत

नर्मदा ने बाँध दी भुजायें में भुजाली थी

बैरियों का गर्व सर्वखर्व करने को मित्र'

मन्थन कर सिन्ध वीर लक्ष्मी निकाली थी।।[1]

इस प्रकार वर्मा जी के उपन्यासों में बुन्देलखण्ड की जिन नदियों का चित्रण किया गया है उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण चित्रण बेतवा के प्राप्त होते हैं। यह बात इसकी दूसरी है कि प्रसंग वशात् उन्होने अन्य छोटी छोटी नदियों का चित्रण किया है यद्यपि कई उपन्यासों में नर्मदा नदी का भी चित्रण किया गयाहै न्तिु वर्तमान समय में भौगोलिक दृष्टि से नर्मदा बुन्देलखण्ड क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं प्रतीत होती। अतः अहिल्याबाई, माधव जीसिन्धिया' तथा 'दुर्गावती' जैसे उपन्यासों में वर्णित नर्मदा के वर्णनों को जनबूझकर स्थान नही दिया गया। बुन्देलखण्ड की इन पावन सरिताओं में केवल वर्मा जी को ही नहीं अपितु यहां के जन-जीवन को भी पर्याप्त प्रभावित किया है। अतः यहाँ की जनता का इन सरिताओं के साथ अत्यन्त प्रगाढ़ स्नेह है। जो सरलता से भुलाया नहीं जा सकता ये सरितायें केवल बुन्देलखण्ड क्षेत्र को ही नहीं अपितु समूचे राष्ट्रकी अक्षय विभूति हैं।

1- बुन्देलखण्ड की संस्कृति और साहित्य, पृ0 138-139

<u>नाले :—</u>

वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में यहाँ की प्रमुख नदियों के अतिरिक्त अनेक उपसरिताओं का भी वर्णन किया है जिन्हें नाला की संज्ञा दी जाती है। उन्होने कुछ के तो नामोल्लेख भी किए हैं और कुछ का अनाम चित्रण किया है। कतिपय उद्धरणों से इस कथन की पुष्टि कीजा रही है। बेतवा से मिलने वाले 'बकन वारा' नाले का चित्रण करते हुए 'गढ़ कुण्डार' उपन्यास में लेखक कहता है —" पलोथर पर्वत के दक्षिण पूर्व से उत्तर पश्चिम की ओर बड़ी ऊँची करारों वाला 'बकनवारा नाला' इसी सिरे के ठीक नीचे होकर बेतवा की ओर आया है और सिरे से चार पाँच सौ डग की दूरी पर देवरा घाट के पास ही बेतवा के विशाल जल में मिल गया है। बेतवा की सहायता से पलोथर के उत्तरी सिरे को बकन वारे ने बड़ी क्रूरता के साथ तोड़ा है। जहाँ होकर इसने अपना निकास किया है, वहाँ दोनों ओर दो ऊँची ऊची सीधी तराशी हुई सी टोर खडी है, जो किसी ध्वस्त गढ़ की बुर्जों सी मालुम पड़ती है।"[1]

नाम विहीन अनेक नालों के चित्रण कई स्थलों पर मिलते हैं । यथा — "ऊँचे शिखरों वालों पहाड़ों के नीचे वृक्षों से आच्छादित गहरे गड्ढ और बहते नदी नाले अपने रहस्यमय सौन्दर्य के प्रति आश्चर्य उभारते थे।"[2] इसके अतिरिक्त बरेला के पश्चिम में थोड़ी थोड़ी दूर पर दो नालों के होने का उल्लेख मिलता है जो समीपवर्ती पर्वत श्रेणियों के पास है जिन पर्वत श्रेणियों से नरही नामक छोटी किन्तु गहरी नदी निकलती है यह बरेला से लगभग दस बारह मील दूर है।[3] 'लगन' उपन्यास में दस पन्द्रह बड़े बड़े नालों का उल्लेख मिलता है। जो बरौल के आस पास मिलते हैं।[4] इसी उपन्यास में बरौल से दक्षिण की ओर बेतवा में मिलने वाले एक नाले का उल्लेख मिलता है। यथा —

"नाला बरौल से दक्षिण की ओर बेतवा में मिला है मिलने से पहलेउसने एक समूचे पहाड़ को काटकर रास्ता बनाया है। उस स्थान पर का मैदान और जंगल का सम्मेलन था। पानी स्वच्छ, थोड और साथ हीगहरा भी।"[5]

1-गढ़ कुण्डार, पृ0 62

2- दुर्गावती, पृ0 158

3- दुर्गावती, पृ0 324

4- लगन, पृ0 38

5- लगन, पृ0 15

'मृगनयनी' उपन्यास में लेखक ने नालों के सौन्दर्य को इस प्रकार चित्रित किया है —" नालों की ढीं पर हरसिंगार का वृक्ष फूल उठा था। मधुमक्खियाँ सन्सना कर इन फूलों से कुछ संग्रह कर उठी थीं।"[1]

'कचनार' उपन्यास में राव दलीप सिंह की बरात के पथ में छोटे — बड़े नालों के मिलने का उल्लेख मिलता है जिनका बहुत बीहड़ हो गया था।[2] 'झाँसी की रानी' उपन्यास में लेखक ने उस सर्वदा के लिए कलंकित नाले का भी उल्लेख किया है कि जहाँ से उनके घोड़े ने बढ़ने से इनकार कर दिया था। नाले की ढीं उसके लिए बाधक बन गयी थी। यह नाला था 'सोन रेखा'।[3] वास्तव में यह नाम कितना विपरीत प्रतीत होता है। 'नाम बड़े पर दर्शन थोड़े' की यह उक्ति भी इसके लिए कम हैजो झाँसी की रानी केसाथ सहयोग न कर सका।

संक्षेप में वर्मा जी ने बुन्देलखण्ड के नालों का सुन्दर और भीषण चित्रण प्रस्तुत किया है सौन्दर्य विधान करने में उन्होने वृक्षों, लताओं एवं वनस्पतियों का आश्रय लिया है और भीषणता के चित्रण में उन्होने उनकी तीव्र गति कटकाकीर्णता आदि का उल्लेख किया है।

पर्वत :—

बुन्देलखण्ड की प्राकृतिक सुषमा अपने दिव्य सौन्दर्य के लिए विख्यात है। इनसे वर्मा जी को लेखन के लिए प्रेरणायें प्राप्त हुई हैं जैसा कि उन्होने अपनी कहानी' में लिखा है —" यही नदियाँ नाले या नदी नाले और बुन्देलखण्ड के पर्वत शस्य श्यामल खेत मेरी प्रेरणा के प्रधान कारण है।"[4] डा० शान्ति स्वरूप गुप्ता ने वर्मा जी के इस प्रकृति प्रेम को इस प्रकार व्यक्त किया है —" वे दूनाली को कंधे में रख कर जंगल और पहाड़ की यात्रा करते हैं। वे वन जहाँ दिन के प्रकाश में भी उल्लू खेलते हैं, वे सरितायें जो प्रेमी पाषाण हृदयों की निष्ठुरता की उपेक्षा कर आगे बढ़ जाती है,

---

1- मृगनयनी, पृ० 85

2- कचनार, पृ० 7

3- झाँसी की रानी, पृ० 488

4- अपनी कहानी- पृ० , वृन्दावन लाल वर्मा

वे ऊँची पर्वत श्रेणियाँ जहाँ बादल बिजली आँखमिचौनी खेलते हैं, वर्मा जी की तीर्थ भूमियाँ हैं, जहाँ वह घण्टों सुध-बुध खोकर समाधिस्थ होकर प्रकृति सुन्दरी का लावण्य अपलक नेत्रों से पीते नही अघाते ..... पहाड़ जैसा विशाल और वृक्ष जैसा ऊँचा पदार्थ देखते हैं तो उसके पास का नाला और उसके किनारे चरने वाले भैंसें भी देखते हैं।"[1]

बुन्देलखण्ड में अधिकांश पर्वत विन्ध्याचल पर्वत श्रेणियों के अन्तर्गत ही आते हैं अतः वर्मा जी ने कहीं- कहीं तो उनका नाम दे दिया है और कहीं कहीं पहाड़ या पहाड़ी के नाम से ही उनका चित्रण किया है। 'मृगनयनी' उपन्यास में एक दृश्य देखिए-

"एक दिशा में उन रजत लहरों के पास छोटी-छोटी पहाड़ियों के ऊपर एक ऊँची पहाड़ी सिर उठाकर धूमिल नेत्रों में चाँदनी को भर सा लेना चाहती थी, ऊँची पहाड़ी का शिखर धुयें का स्थिर पुंज सा जान पड़ता था। निन्नी की कभी दूरवर्ती धूमिल पहाड़ पर और कभी निकटवर्ती पहाड़ के शिखर पर जा रही थी।"[2]

यहाँ पर लेखक ने पहाड़ी के ~~[illegible]~~ कितना सुन्दर मानवीकरण के रूप में प्रस्तुत किया है और पहाड़ी के शिखर को धुयें के स्थिर पुंज के रूप में कल्पित करके उन्होंने अपने उदात्त कवित्व हृदय का भी परिचय दिया है।

'मृगनयनी' उपन्यास में ही वर्मा जी ने एक छोटी पहाड़ी का चित्रण किया है जिसमें उसकी उपत्यका में उगे हुए साल, सागोन, महुए आदि बड़े-बड़े लम्बे पेड़ों का सुन्दर चित्रण किया गया है। पहाड़ी के ऊपर करधई के कत्थई रंग वाले घने ~~[illegible]~~ जंगल का तो चित्रण इतना सजीव किया गया है मानो स्वयं वर्मा जी ही वहाँ उपस्थित हो गये हों। यथा ——

"एक छोटी सी पहाड़ी की ओर मिली जो लम्बाई में नदी की ओर गई थी। आँख के इशारे से दोनों इसी के नीचे की ओर बढ़ी। पहाड़ी के नीचे साल सागोन महुए और आचार के बड़े बड़े लम्बे पेड़ थे। पहाड़ी के ऊपर करधई की घनी हलकी कत्थई रंग की झाड़ी थी। दोनों इस पर चढ़कर उस ओर के नीचे मैदान के जंगल की निरख करना चाहती थी परन्तु पहाड़ी की घनी करधई में घुसने के लिए पतली पगडण्डी भी नही थी।"[3]

1- हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यास और मृगनयनी, पृ, शान्ति स्वरूप गुप्ता, पृ0 135

2- मृगनयनी, पृ0 15

3- मृगनयनी, पृ0 46

इसी प्रकार 'कचनार' उपन्यास में वर्मा जी ने पर्वतों का चित्रण किया है। पहाड़ों में करधई, धूमरे बैगनी रंग की छायी हुई सी थी। बीच-बीच में कठवर तेन्दू और आचार के हरी-भरी झुरमुटें। बड़े बड़े हरे छपकों जैसी पहाड़ों की उपत्यका में साज, महुआ, अनार और सागौन के दीर्घकाय हरे वृक्षों की कतारें की कतारें, मानव उनका कहीं अन्त ही न हो।"[1]

यहाँ पर लेखक ने करधई के रंग के अतिरिक्त तेंदू आदि वृक्षों की सघनता का कितना सुन्दर आलंकारिक चित्रण प्रस्तुत किया है। चित्रात्मक शैली में पर्वतों के ऊपर वृक्षों की घनी पंक्तियों के चित्र बड़े मनोहर लगते हैं। इस प्रकार के पर्वतीय सौन्दर्य बिना साक्षात् किए हुए शब्दों में नहीं उतारे जा सकते।

'गढ़ कुण्डार' उपन्यास में पर्वतीय दृश्य का कलात्मक चित्रण देखते ही बनता है ऐसा प्रतीत होता है कि पलोथर की पहाड़ी का सुन्दर और भीषण रूप वर्मा जी ने साक्षात् दर्शन के पश्चात् ही उसे चित्रत किया है। यथा —

पलोथर की पहाड़ी पर खड़े होकर चारों ओर देखने वाले को भी कभी अपना मन सौन्दर्य के हाथ और भय के हाथ में देना पड़ता हैऐसा भी उस समय होता था, जब सन्ध्या समय पलोथर के नीचे बेतवा के दोनों किनारों पर शंख और घण्टे तथा कुण्डार के गढ़ से नगारों की तुरही बजा करती थी और अब भी है जब पलोथर की चोटी पर खड़ा होकर नाहर अपने नाद से देवरा, देवल, भरतपुरा इत्यादि के खण्डहलों को गुंजारता और बेतवा के कल कल शब्द को भयानक बनाता है।"[2]

उपर्युक्त वर्णन से वास्तव में जहाँ एक ओर शंख तुरही इत्यादि की मधुर ध्वनियाँ और बेतवा का कल कल शब्द मन को सौन्दर्य से भर देता है वहाँ दूसरी ओर पलोथर के शिखर पर भीषण ध्वनि से गर्जन करने वाले नाहर का भयावह नाद व विभीषिका पाठक को रोमांचित किए बिना नहीं रहता है। पलोथर पर्वत के चित्रण में लेखक का रागात्मक मन तृप्त नहीं होता। अतः इसी उपन्यास के अन्य स्थल पर उन्होंने इसका सजीव चित्रण इस प्रकार किया है—

1- कचनार, पृ0 7

2- गढ़ कुण्डार, पृ0 10-11।

"थोड़ी देर में सूर्य की मृदुल कोमल किरणों के दर्शन हुए, पलोथर का पहाड़ दक्षिण से उत्तर तक एक बड़े मगरकी तरह पड़ा हुआ मालुम हुआ।... बेतवा की सहायता से पलोथर के उत्तरी सिरे को बकनवारे ने बड़ी क्रूरता के साथ तोड़ा जहाँ होकर इसने अपना निकास किया है वहाँ दोनों ओर दो ऊँची ऊँची, सीधी तराशी हुई सी टोर खड़ी है, जो किसी ध्वस्त गढ़ की बुर्जों सी मालुम देती है। इन टोरों से ऊपर पलोथर की सबसे ऊँची चोटी पर अग्निदत्त को धुआँ दिखलाई पड़ा।"[1]

उक्त वर्णन में लेखक ने पलोथर पर्वत को मगर के रूप में उत्प्रेक्षित कर अपनी व्यापक कल्पनाशक्ति का परिचय दिया है और साथ ही साथ उनकी चित्रात्मकशैली का एक सुन्दर निदर्शन भी प्राप्त होता है जिसमें पर्वत के मध्य से बहतीहुई उपसरिता के दृश्य के साथ ही साथ पर्वत के दो उच्च खण्डों को लेखक ने ध्वस्त गढ़ की बुर्जों के रूप में कल्पित किया है। उक्त दोनों कल्पनाएँ यथार्थ से मिलकर वर्णन को सजीव बनाने में पर्याप्त सक्षम हैं। एक साधारण व्यक्ति के देखने में और एक उच्च कोटि के कलाकार के देखने में यही तो अन्तर होता है।

'झाँसी की रानी' उपन्यास में लेखक का पर्वतीय सौन्दर्य चित्रण अपनी चरम शिखा को स्पर्श करता हुआ प्रतीत होता है। यथा —

"उस पार की पहाड़ियों का लहरियादार सिलसिला हरियाली से ढका हुआ था। बादल के सफेद घूमते टुकड़े पहाड़ियों की चोटी और हरियाली को चूमने के लिए नभ से उतर उतर कर टकराते चले जा रहे थे।"[2]

उक्त चित्रण में लेखक का बिम्ब विधान कितना सजीव है। इसके अतिरिक्त मेघखण्डों का मानवीकरण तो इतना सरस है किलेखक की कल्पना शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी पड़ती है। इसी प्रकार बादलों से मिलकर बकपंक्ति का चित्रण कालिदास के मेघदूत का स्मरण कराये हुए बिना नहीं रहता। यथा —— "धूमरे बादलों के आगे एक ओर बगुलों की पाँत निकल गई मानो पहाड़ियों और पहाड़ियों से मिलने वाले बादलों को सफेद खौर लगा दी हो।"[3]

1- गढ़ कुण्डार, पृ0 62

2- झाँसी की रानी, पृ0 282

3- झाँसी की रानी, पृ0 283

यहाँ पर भी कल्पना सौन्दर्य पहाड़ियों को ही नही अपितु बादलों को भी सजीव करता हुआ प्रतीत होता है। इसी के आगे लेखक लिखता है —" पहाड़ों की कन्दराओं में घुसे हुए उनको आच्छादित किए हुए बादलों में होकर वह बकुलावलि छिपती हुई सी मालुम पड़ी और फिर तितर बितर हुई जैसे हिलती हुई साँवली सलोनी चादर में ढके हुए सितारे। पहाड़ पर बडे बडे और सघन पेड़। गहरे हरे श्यामल। बगुले एक पेड़ पर जा बैठे मानों वन देवी ने प्रभा छिटका दी हो।"[1]

यहाँ पर कन्दराओं से निकलती हुई बक पंक्ति का कितना सुन्दर कल्प - नात्मक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। ऐसा चित्रण तो बड़े बड़े महाकाव्यों में भी सरलता से नहीं प्राप्त किया जा सकता। दुर्गावती उपन्यास में लेखक ने पर्वतीय श्रेणियों के अति- रिक्त 'मुरहू' पर्वत , अनौटा पर्वत तथा बिछिया पहाड़ी का उल्लेख किया है। यथा—

" बरेला के पश्चिम में थोड़ी-थोड़ी दूरी पर दो नाले पड़ते हैं और उसके बाद ऊँची पर्वत श्रेणियाँ है ...... जासूसों ने पता किया कि गोंडवाने की सेना उन पर्वत श्रेणियों के पीछे है, उत्तर पूर्व के पहाड़ का नाम मुरहू है, बिल्कुल उत्तर में बिछिया नाम की पहाड़ी और दक्षिण में अनौटा नाम का ऊँचा पर्वत।"[2]

इसी उपन्यास में वर्मा जी ने भांडेर पर्वत का भी उल्लेख इस प्रकार किया है —" पहाड़ी के किनारे किनारे उतरते चढ़ते उस कोने पर पहुँचे जहाँ तीन ओर ऊँचा पर्वत था और चौथी ओर की नीची श्रेणी पर परकोटा ... बाहर निकलकर भांडेर पर्वत की लम्बी श्रेणी पश्चिम उत्तर की ओर चली गयी है उसके कुछ दूर तक चौड़ी हिरन नदी बहती है।"[3] यहाँ पर अधिक चमत्कार तो नहीं किन्तु तीन ओर से फैले पर्वतीय सौन्दर्य का दृश्य स्वाभाविक रूप से दर्शनीय प्रतीत होता है।

इस प्रकार विन्ध्य पर्वत की श्रेणियों के रूप में वर्मा जी अपनी रागात्मक अनुभूति को तृप्त करने की चेष्टा की है। उन्होंने इन पर्वतों का चप्पा- चप्पा छाना है। और अपने हृदय के कैमरे से उसका चित्र खींचा है। उन्हें इन पर्वतों की सुन्दरता से भी

1- झाँसी की रानी, पृ0 284

2- दुर्गावती, पृ0 324, 325

3- दुर्गावती, पृ0 170

अधिक उनकी भीषणता सदैव लुब्ध करती रही है। पर्वतों के ऊपर इस क्षेत्र के तेंदू, महुआ, करधई, आदि के वृक्षों का चित्रण अपने में बड़ा प्रभविष्णु लगता है। यदि पर्वत के अंचल से किसी नाले या नदी का संबंध दिखलाने का अवसर होता है तो वर्मा जी उ उसकी कल-कल ध्वनि या हर-हर ध्वनि को भी सुनवा देते हैं। बुन्देलखण्ड की अमर विभूतियों केरूप में यह पर्वत हमारी सम्पदा हैं, हमारी पूर्वज परम्परा की अक्षय निधि हैं, जिन्होने हमारे पूर्वजों के इतिहास को साजा और सवाँरा है उन्हें जीवनी शक्ति दी है, उनका पालन पोषण किया है, वे हमारे ग्रामों , नगरों, दुर्गों एवं जनपदों के सीमा प्रहरी रहे हैं और आज भी हैं। वर्मा जी ने इसी रागात्मकता के साथ अपने उपन्यासों में इन पर्वत श्रेणियों का मनोरम चित्रण प्रस्तुत किया है।

वन तथा भू-भागों का चित्रण :—

बुन्देलखण्ड अपनी वन सम्पदा और प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए परम प्रसिद्ध है। यहाँ के पर्वतों और वनों के संबंध में भूगर्भशास्त्रियों का कहना है —"विन्ध्यखण्ड प्राचीन शिलाखण्डों और वनों का प्रदेश है।"[1] डा0 शान्ति स्वरूप गुप्त का मत है कि वर्मा जी के उपन्यासों में बुन्देलखण्ड की भयावह- बीहड़ परन्तु आकर्षक प्रकृति का , वहाँ के नदी नालों, टौरियों कछारों चाँदनी में गाती और झूमती हुई अनाज की बालों और जंगली पशुओं से आक्रान्त जंगलों का काव्यमय वर्णन मिलता है।"[2]

'मृगनयनी' उपन्यास में वर्मा जी का वन वर्णन अतीव प्रशस्त है। लेखक ने नरवर के जंगल और वहाँ पर उगने वाले वन्य वृक्षों का बड़ा स्वाभाविक वर्णन किया है। वृक्षों में करधई, करौंदी, खैर और झरबेरी का उल्लेख तो उपन्यास में पर्याप्त आंचलिकता ला देता है। यह विशाल जंगल नरवर के दक्षिण और दक्षिण पश्चिम मे थे। सिन्ध नदी शरद की सी लीक बनाती हुई दक्षिण पश्चिम से आकर नरवर को पश्चिम की ओर से घेर कर उत्तर पूर्व की तरफ चली गयी है। नरवर मानो उसकी पश्चिमी कुण्डली के भीतर स्थित है। .... जंगल इतना विशाल सघन और भयंकर था कि हाथियों के बडे बडे झुण्ड इसमें मौज के साथ विचरते थे। नाहरों, अरनों और गैड़ों तक की तो कोई बात ही न थी। उत्तर से दक्षिण खण्ड को मार्ग नरवर के पश्चिम दक्षिण होता हुआ

1- बुन्देलखण्ड कीसंस्कृति और साहित्य, पृ0 140

2- हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यास और मृगनयनीः पृ0 140

सिन्ध नदी की कुण्डलियों को कई घाटों पर काटकर गया था। जंगल का लम्बा चौड़ा विस्तार नरवर के पूर्व में भी था, परन्तु कुछ दूर क्षीण। पहाड़ियों पर पहाड़ियों के सिलसिले। छोटी बड़ी नदियाँ, झीलें, खेती और जंगल के मैदान बीच बीच में सुदूर पूर्व तक।"[1]

उक्त उल्लेख से प्रतीत होता है कि वर्मा जी ने कितनी सूक्ष्मता के साथ नरवर के वन को देखा है। उसमें भौगोलिक सीमाओं के साथ ही साथ उसकी सघनता और भीषणता का ऐसा यथार्थ चित्रण करना हर लेखक के वश की बात नहीं है। एक अन्य स्थल पर पर्वतों और वनों के मध्य में खेतों की रखवाली करने वाले कृषकों के वन्य क्षणों का वर्णन इस प्रकार है —

"चन्द्रमा का उदय हो आया था अब चाँदनी छिटक चली थी। पास के और दूर के खेतों में रखवाली की हा-हू-हू सुनाई पड़ने लगी .... पवन के झोकों के कारण कभी कभी मेड़ के छोटे छोटे झाड़ झकूटे हिल जाते थे तो उसको किसी वन्य पशु के आ जाने की शंका हो जाती थी .... झपकियों के बीच में अधमुंदी आँख से जाग पड़ने पर कभी सुअर और कभी जंगली भैंसा हवा के सर्राटे के साथ दिखलाई पड़-पड़-जाता था। अरी पत्तियों पर जमें हुए ओस कण चमक चमक कर बिखर बिखर जा रहे थे। निकटवर्ती जंगल के लम्बकाय वृक्षों के बडे बडे पल्लवों के खरभरा-खरभरा कर पवन मानों किसी दूर देश को चला जा रहा था। कभी सन्सनाहट और कभी खड़खड़ाहट । इन्हीं ध्वनियों में होकर नाहर से डरे हुए साँभरों और चीतलों की कभी तीक्ष्ण और कभी मन्द पुकार।"[2]

उपर्युक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि वर्मा जी वन की भीषणता, नादात्मकता एवं वहाँ की दृश्यावलियों से कितने सुपरिचित थे।वनों में आखेट के दृश्य भी बड़े मनोहर होते हैं। वन्य सत्वों की प्रगति का ज्ञान तो उसी लेखक को हो सकता है जिसने क्रियात्मक रूप से आखेट के लिए वनों की खाक छानी हो स्वयं को भीषण कष्टों एवं वन की कठिनाइयों में डालकर इन हिंसक जीवों की प्रवृत्तियों का अध्ययन किया हो। वर्मा

1- मृगनयनी, पृ॰ 13

2- मृगनयनी, पृ० 13, 14

जी इस क्षेत्र के महान अनुभवी कलाकार हैं उन्होने 'मृगनयनी' उपन्यास में वन्य आखेट का चित्रण इस प्रकार से किया है —

"उसी क्षण एक झाड़ी के पीछे से तेन्दुआ उछलकर ओट के लिए भागा। अटल ने उस पर तीर छोड़ा परन्तु वह तेन्दुआ को नहीं लगा। तेन्दुआ भाग गया। उन दोनों ने पेड़ की आड़ छोड़दी।"[1]

वर्षा के दिनों में वनों का स्वाभाविक सौन्दर्य निखर उठता है। जिसका चित्रण वर्मा जी इस प्रकार किया है —

"जंगल में कोसों तक मैदानों और पहाड़ों के पार्श्वों पर वृक्ष, विशाल चमत्कार और हरियाली से भर गये थे। पहाड़ों की चोटियों के किनारे-किनारे लहलहाते वृक्षों के पंक्तिबद्ध समूह कँगूरों पर नाचते हुए मोरों जैसे प्रतीत होते थे। उन पर इधर से उधर उड़ते हुए सुओं तोतों की पातें हरियाली की होड़ सी लगाती थीं। सुओं की लाल चोंचें उन पेड़ों पर उड़ते हुए लाल छींटे से जान पड़ते थे। मार्ग ऊँचे घास से छा गये। बीच बीच मे कुछ अन्तर पर रूखा गीला कीचड़ दिखलाई पड़ता था। मार्ग के दोनों ओर के बड़े बडे झाड़ ही बतला रहे थे कि उनके बीच में मार्ग है।"[2]

प्रस्तुत वर्णन लेखक ने कल्पनाओं और उपमानों के द्वारा कितना सुन्दर काव्यात्मक चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। वृक्षों की हरीतिमा तथा पक्षियों की स्वाभाविक सुषमा ने इस वर्णन को कितना प्रभावशाली बना दिया है।

'गढ़ कुण्डार' उपन्यास में लेखक ने वन के घनीभूत वृक्षों, दलदलों, काँटों और नालों के अतिरिक्त खैर, मकोय, अडूस, करधई आदि वृक्षों का चित्रण कर वन की वास्तविकता का सजीव चित्रण किया है। यथा —

"घने जंगल में पहुँचने पर यह निश्चय किया कि शिकार होने के लिए पुकार लगाई जाये ...... करधई, खेंजा, नेगड़, अडूस, खैर, ककिर, और मकोय के घने जंगल में जहाँ कहीं कहीं शिकारियों को हतोत्साह करने के लिए लम्बी घास भी खड़ी हुई थी, इस दल को अपने घोड़ों के कारण बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। जगह-जगह काँटे चुभे और तथा नालों में होकर घोड़ों को निकलने में कई स्थानों पर प्राणों पर आ बनने का संकट उपस्थित हुआ। बहुत जानवर दिखलाई पड़े। परन्तु दिखलाई

1- मृगनयनी, पृ0 ८५

2- मृगनयनी, पृ0 85

पड़ते ही तिरोहित हो गये।"[1]

उक्त उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि वर्मा जी को केवल आंचलिक वृक्षों का ही नहीं अपितु वहाँ के घने वनों का कितना यथार्थ बोध था। कचनार उपन्यास में लेखक ने एक वन्य चित्रण इस प्रकार किया है —

"जंगल में नाले के किनारे आँवलों के झाड़ों में होकर महन्त के डेरे पर चन्द्रकला की किरणें मन्द वायु के साथ छनछन कर आ रही थी वातावरण में ठडक थी।"[2] यद्यपि यह वर्णन अतिसंक्षिप्त है किन्तु इससे वन का सौन्दर्य तो लक्षित होता ही है। आँवलों की झाड़, नाले का तट मंद वायु का चलना और चन्द्रकिरणों का झाँकना यह सभी दृश्य वन की सुन्दरता को आंकने में सक्षम हैं।

'विराटा की पद्मिनी' उपन्यास में भी बुन्देलखण्डी वनों का चित्रण मिलता है। एक उदाहरण इस प्रकार है —"टेढे मेढ़े, पथरीले नुकीले और वन्य, पहाड़ों ओछे सकरे मार्गों में होकर नरपति सिंह विराटा पहुँच गया। विराटा पालर से उत्तरपूर्व के कोने में है। बेतवा के तट और टापू पर घोर वन के आँगन में छोटी सम्पन्न बस्ती थी। राजा दाँगी का नाम सबदलसिंह। नदी की कगार पर उसका गढ़ था, जो दूर से वन के सघन और दीर्घकाय वृक्षों के कारण कईं ओर से दिखलाईं भी न पड़ता था।"[3]

इस उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि बुन्देलखण्ड के वन कितने भीषण और दुर्गम हैं। ये वन दुर्गों की सुरक्षा का भी काम देते थे । क्योंकि विशाल वृक्षों की ओट से दुर्ग दिखलाई भी न पड़ते थे और शत्रु की सेना का जाना भी कठिन हो जाता था।

'महारानी दुर्गावती' उपन्यास में भी मार्ग के मार्ग में पड़नेवाले भीषण बनों का उल्लेख किया गया है। यथा — मार्ग में दुर्गावती ने जैसे जंगल देखे वैसे पहले बहुत कम देखे थे। मार्ग के किनारे - किनारे नर्मदा टेढ़ी तिरछी बलखाती हुई । कहीं- कहीं ऊँचे पहाड़ों के नीचे भयंकर खड्ड .... प्रकृति की छटा कहीं ओज और भयंकरता अपनी गोदी में भरे हुए और कहीं कोमल जंगल समेटे हुए।"[4]

1- गढ़ कुण्डार, पृ0 208

2- कचनार, पृ0 300

3- विराटा की पद्मिनी, पृ0 59

4- दुर्गावती, पृ0 153

इसी प्रकार चौरागढ़ के दक्षिण पूर्व में बहुत घने एवं विस्तृत जंगल का उल्लेख मिलता है जहाँ पर शिकार की पूर्ण सुविधा थी।[1] इसी उपन्यास के एक अन्य स्थल पर वर्षा ऋतु में वन की भीषणता एवं सुन्दरता का इस प्रकार चित्रण मिलता है-

"वर्षा ऋतु देर में आयी। पहाड़ों की चोटियों पर बादलों ने डेरे डालने शुरू कर दिये। पहली तड़प-तड़प की बौछारों ने प्यासी धरती के ओठ गीले कर दिये, सूखे जंगलों पर हरी हरी कोपलें छा दी, सूखे नालों के पत्थरों को भिगोकर जगह-जगह मटीले डाबर भर दिये।"[2] यहाँ पर लेखक ने वर्षा के दिनों में वनों की आर्द्रता, वहाँ की हरियाली और छोटे मोटे नालों का समिन्वित चित्र प्रस्तुत किया है जो मानवीकरण की कलात्मक सुन्दरता से परिपूर्ण है।

'माधव जी सिन्धिया' उपन्यास में वनोंऔर भूखण्डों के अनेक चित्र प्राप्त होते हैं। जैसे —" भांडिर पहाड़ियाँ दिन भर तपी थी। सोन तलैया वाली पहाड़ी से सटकर बहने वाली पहूज नदी में पानी की एक क्षीण रेखा भर थी जो दूर दूर और फैले फूटे छोटे बडे डाबरों में होकर गई थी। पहूज नदी के पूर्वीय तटवर्ती भर से लगा हुआ दुर्गादेवी का पर्वत, निकट वाले जंगल के पवन से, अपनी सेंक को बुझा रहा था।"[3]

इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि ग्रीष्म ऋतु में बुन्देलखण्ड के भूभाग कितने अधिक सन्तप्त हो जाते हैं और उसमें प्रकृति अपने किस रूप में परिवर्तित हो जाती है। इसी उपन्यास के एक अन्य स्थल में लेखक ने समास शैली में खेतो, वनो, पर्वतों, का समन्वित चित्रण किया है जो एक विचित्र प्रकार दृश्य विधान करने में सक्षम है। यथा —

" एक ओर पहाड़ियाँ, तली गाँव नाम का ग्राम, नीचे इधर उधर धान कटे कुछ खेत और कुछ हरे पहाड़ी की उपत्यका वन की हरियाली से आच्छादित।"[4]

'मुसाहिब जू' उपन्यास में प्राकृतिक अंचल में वन के अनेक सुन्दर दृश्य अंकित किए गये हैं। यथा —" चिड़ियाँ चुप थीं, झींगर झंकार रहे थे। तड़का नही

1- दुर्गावती, पृ0 195

2- दुर्गावती, पृ0 199

3- माधव जी सिन्धिया, पृ0 304

4- माधव जी सिन्धिया, पृ0 428

हुआ था। सायँ सायँ चलने के बाद हवा मंद पड़ गयी थी और उसमें कुछ ठंडक भी आ गयी थी। मनुष्यों का एक झुण्ड सुलगते हुए बोड़ों वाली बन्दूके लिए उस टीलेदार बीहड़ वन में चुपचाप चला जा रहा था .... सघन वृक्षों से ढकी हुई एक छोटी सी पहाड़ी पर चढ़ने के उपरान्त ये लोग अलग अलग ऊँची नीची टोरो पर छिपकर जा बैठे .... इनकी गढ़ी आँखे वृक्षों के एक झुरमुट के तले प्रभा प्रच्छन्न अंधकार में कुछ टटोल रही थीं। यह स्थान उस टोर के नीचे निकट ही था जहाँ ये दो मनुष्य जा बैठे थे। आधी घड़ी के पश्चात् दो मनुष्यों में से एक ने बिल्कुल दबे हुए स्वर में कहा— 'काका जू, तेन्दुओं की जोड़ी है।'.......... तेन्दुओं को सन्देह हो गया वे वहीं दबकर बारीकी के साथ टोह लेने लगे। रह-रहकर सिमटे ...... झुरमुट के तले का अँधेरा और खण्डित हुआ तेन्दुआ का आकार स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगा। उनकी चुल भी दिखाई पड़ी। एक अदृश्य हो गया।"[1]

यहाँ पर लेखक ने वन की विभीषिका और वन्य जीवों की सजगता का कितना सफल चित्रण किया है।

इस प्रकार बुन्देलखण्ड नदियों, पर्वतों, नालों तथा बीहड़ वनों से परिपूर्ण है। इस प्रदेश की सीमायें बाँधने वाली चार सरिताएँ है — पश्चिम में चम्बल उत्तर में यमुना पूर्व में टोंस और दक्षिण में नर्मदा। भौगोलिक दृष्टि से इसी भूभाग को विन्ध्य-स्थली कहते हैं। यहाँ के वन सम्पदा नदियों, पर्वतो, वृक्षों आदि के विषय में रामचरण ह्यारण 'मित्र' ने अपने विचार व्यक्त किए हैं —

"अन्य निधियों की अपेक्षा वन ही बुन्देलखण्ड की प्रधान निधि हैं। अखिल अविरल गति से प्रवाहित होने वाली बेतवा, धसान, चम्बल, सिन्धु, पुण्यावती, केन, जामनेर, नर्मदा आदि शताधिक छोटी बड़ी नदियाँ वन प्रदेश की रक्षा करती आ रही हैं। इस भूमि के अंचल में अडिग भाव से स्थित विन्ध्याचल हँस पर्वत, स्वर्णगिरि, सतपुड़ा आदि के शिरोभाग के घने वन उन्मत्त मेघों को आकृष्ट कर जल वृष्टि से इन सरिताओं को प्लावित करते रहते हैं। वृक्षों का शीर्ष भाग सूर्य किरणों की प्रखरता अंगीकार करता है और नीचे का भाग पानी को सावधानी से बचा लेता है। यह जल पृथ्वी

1- मुसाहिब जू, पृ0 1-2

को आर्द्र रखता है। और शेष जल धीरे धीरे स्रोतों और नालों के रूप में प्रवाहित होकर सरिताओं का रूप धारण कर लेता है। बुन्देलखण्ड में नर्मदा के तट पर बसी हुई माहिष्मती नगरी से दूर बेतवा के तट पर बसे हुए ओरछा नगर तक सहस्त्रों वन उपवन हैं, जिनमें झाँसी की मिसुर की डाँग, मिर्जापुर का विन्ध्य वन, ओरछा का तुंगारण्य, तथा करौंदी की डाँग, छतरपुर के समीप शेहर वन, सेंवड़ा की करधई की डाँग, अजयगढ़ का अजय वन, ग्वालियर का भूरा खोह वन, नरवर गढ़ का अनलवन और शिवपुरी का चाँद पाठा वन आदि प्रसिद्ध है। इस प्रदेश में बिरवों (छोटे पौधों) में तुलसी बोवई, सरफोंका, दौना, मरूआ, करौंदी, सहदेवी, बला, महाबला, किरकिचयाऊ, वासा आदि और लतिकाओं के कृष्णाकान्ता, राधाकान्ता, गुरबेल, नागबेल, ओंध पुष्पी आदि तथा जड़ी बूटियों में गुरमार, लक्ष्मणा, भटाकटारी, मदनमस्त, रत्नज्योति, अमरमूर, मोषकरणी, भौंहफली, शंखपुष्पी आदि की बहुतायत है और यह प्रसिद्ध भी है। वृक्षों में आम, महुआ, जामुन, तेन्दू, अनार, ऊमर, अशोक और मौरश्री, नीम, बट, पीपल, पाकर, कदम्ब, सागौन, सहजना, अर्जुन, कंजी, पलाश, बबूल, धामौन, शीशम करधई:, काँकिर, आदि मुख्य हैं। यों बुन्देलखण्ड में कुल पच्चीस सौ जातियाँ विद्यमान हैं। आधुनिक युग में अन्य प्रान्तों की अपेक्षा विन्ध्य प्रदेश वन वृक्षों से हरा-भरा और घनी है। वनो में शेर, तेन्दुआ, साबर, हिरण, श्रृगाल, लोमड़ी, खरगोश आदि वन्य पशु और नीलकण्ठ, तोता, मैना, चंडूल, खंजन, भौंरा, लाल मुनैया, झरैया, पुटैया, वामा श्यामा, चातक, काक, गिद्ध, आदि पक्षी स्वच्छन्द विचरण करते हैं।"[1]

इस प्रकार बुन्देलखण्ड की भूमि प्रकृति की सजीवता सुन्दरता, कोमलता और भीषणता के लिए परम प्रसिद्ध है।

जलवायु :—

भौगोलिक तत्वों में जलवायु का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि वह न केवल मनुष्य अपितु अन्य जीव जन्तुओं के खान-पान रहन-सहन, आवास आदि पर अनिवार्य रूप से प्रभाव डालती है। उदाहरणार्थ — मैदानी भागों में, घरों में, आँगन चौपाल आदि बनाने का प्रचलन है जबकि ऊबड़-खाबड़ पर्वतीय क्षेत्रों में प्रायः ऐसा नही

1- बुन्देलखण्ड की संस्कृति और साहित्य, पृ0 140-141

है। मनुष्य की कार्यक्षमता और स्वास्थ्य पर मौसम एवं जलवायु का बहुत प्रभाव पड़ता है। जब ऊष्मा अधिक होती है तब मानवीय ऊर्जा कम होती है और शारीरिक तथा मानसिक थकान अपेक्षाकृत शीघ्र आ जाती है। इसी प्रकार जहाँ पर शीत प्रधान वातावरण होता है वहाँ परिवेश को अनुकूल बनाने में ही शारीरिक शक्ति का बहुत कुछ अंश व्यय हो जाता है। किन्तु आश्चर्य की बात है कि बुन्देलखण्ड में इन बातों का विशेष प्रभाव नही पड़ता। यहाँ पर गरमी के दिनों में भीषण लू चलती है और तापमान तीव्रतम सीमा तक पहुँच जाता है। फिर भी यहाँ के निवासी पूर्ण उत्साह एवं लगन से साथ अपने खेतों खलिहानों में अन्न की राशि तैयार करते और अपनी कष्ट सहिष्णुता का परिचय देते हैं। वर्षा के दिनों में सुहावनी घटनायें यहाँ के प्राकृतिक दृश्यों एवं मानव जीवन को प्रफुल्लता से भर देते हैं। शाम के झूलों की बहार, लोकगीतों की माधुरी अनेक उत्सवों एवं त्योहारों का सांस्कृतिक उल्लास – यह सभी तत्व यह बतलाते हैं कि यहाँ का जीवन कितना उमंगमय है।

इस प्रकार जलवायु के प्रमुख तत्व ताप, वर्षा और वायु माने जाते हैं। जो कृषि, मानव जीवन द्योग आदि पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालते हैं। बुन्देलखण्ड में वर्षा की मात्रा अनिश्चित रहती है। अतः ~~कब्~~ कभी अतिवृष्टि और कभी अनावृष्टि के कारण यहाँ का जन जीवन त्रस्त रहता है। पर्वतों की अधिकता के कारण यहाँ ग्रीष्म में अधिक गर्मी और जाड़े में अधिक जाड़ा पड़ता है। यह उल्लेखनीय है कि ग्रीष्म के दिनों में जहाँ दिन में पर्याप्त ऊष्मा पड़ती है वहीं यहाँ के रातें सुहावनी होती हैं। जिसका उल्लेख यहाँ के गजेटियर तक में प्राप्त है।

वर्मा जी के उपन्यासों में जलवायुगत आंचलिक विशेषता के विभिन्न रूपों में दर्शन होते हैं जो अपने में पर्याप्त प्रभावपूर्ण है। यहाँ पर उनके उपन्यासों में प्राप्त जलवायु एवं मौसम के विषय में प्राप्त संदर्भों का उद्धरण देते हुए उन पर आलोचनात्मक प्रकाश डाला जायेगा।

'झाँसी की रानी' उपन्यास में चार स्थलों पर जलवायु से सम्बन्धित ऋतुओं के चित्रण मिलते हैं जा क्रमिक रूप से इस प्रकार है —" वर्षा का अन्त हो गया। क्वार उतर रहा था। कभी कभी झीनी-झीनी बदली हो जाती थी। परन्तु उस

सन्ध्या के समय आकाश बिल्कुल स्वच्छ था। सूर्यास्त होने में बिलम्ब था।"[1]

उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में शरद ऋतु का समय सुहावना होता है। यदा-कदा शरद कालीन मेघ छाये रहते हैं। एक अन्य स्थल में लेखक ने बसंत का चित्रण इस प्रकार किया है –

"बसन्त आ गया। प्रकृति ने पुष्पांजलियाँ चढ़ायीं। महकें बरसा दीं। लोगों को अपनी श्वास तक में परिमल का आभास हुआ। किले के महल में रानी ने चैत की नवरात्रि में गौर की प्रतिमा स्थापित किया। पूजन होने लगा। गौर की प्रतिमा आभूषणों और फूलों के श्रृंगार से लद गयी। धूप दीप तथा नैवेद्य ने कोलाहल सा मचा दिया। हल्दी कूँ कूँ के उत्सव ने सारे नगर की नारियाँ व्यग्र तथा व्यस्त हो गयीं।"[2]

उक्त उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि बुन्देलखण्ड में बसन्त ऋतु का बड़ा महत्व है। विभिन्न वृक्षों की अधिकता के कारण पुष्पों की भी अधिकता स्वाभाविक है। इस समय वातावरण जन जीवन को उल्लास और मस्ती से भर देता है तभी गौर पूजा जैसे सांस्कृतिक पर्व मनाये जाते हैं। शीत काल में बुन्देलखण्ड का शीत प्रधान वातावरण अधिक घना हो जाता है। इसका चित्रण इस उपन्यास में दो स्थलों पर मिलता है। यथा—

"सबेरे की उस कँपकँपाती ठण्ड में जब सूर्य भी बदली में मुँह छिपाये था। नवाब अली बहादुर कोठी पर पहुँचे।"[3] द्वितीय वर्णन इस प्रकार है ——

"विकट ठण्ड। ऊपर से हड्डी कँपाने वाली हवा कुछ ही दिन पहले पानी बरस चुका था। ठिठुरी हुई घास के ऊपर बड़े बड़े ओस कण। मृदुल बाल रवि की रश्मियाँ उनके ऊपर सरकती हुईं।...... जब हाथ ठिठुर जाते तब बन्दूक को बगल में दाब लेती और दोनों हाथ ओढ़नी में छिपा लेती ...... थोड़ी देर में झलकारी इसी चबूतरे के पास पहुँची और धूप लेने लगी। ठण्डी हवा और सूर्य की कोमल किरणें उसकी बड़ी बड़ी आँखों को सुरमा सा लगाने लगी।"[4]

———————55———————

1- झाँसी की रानी, पृ0 15

2- झाँसी की रानी, पृ0 95

3- झाँसी की रानी, पृ0 143

4- झाँसी की रानी, पृ0 329

उक्त उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि बुन्देलखण्ड में जाड़े के दिनों में कड़ाके की सर्दी पड़ती है। जब कभी शीत कालीन वर्षा हो जाती है तब शीत का मान और अधिक बढ़ जाता है। तथा पर्याप्त मात्रा में ओस पड़ती है । ठिठुरन इतनी अधिक होती है कि हाथों से कोई कार्य नहीं किया जाता। वायु में इतनी अधिक शीतलता हो जाती है कि आँखों से देखा तक नहीं जाता। यहाँ तक कि सूर्य की किरणें भी कोमल प्रतीत होने लगती हैं।

'अहिल्याबाई' उपन्यास में भी बुन्देलखण्डी जलवायु एवं प्रकृति का तीन स्थलों में उल्लेख हुआ है। यथा — वर्षा समाप्त हो गयी। मालवा की पठारों पर सुहावनी शरद छा गयी। धूप नरम पड़ी और रात भीगने लगी।"[1] उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि यहाँ शरद का समय बड़ा सुहावना होता है। शनैः शनैः धूप की उष्मा कम होने लगती है और रात्रि में शीतलता आने लगती है। शरद का चित्रण एक अन्य स्थल पर इस प्रकार मिलता है — दिन का तीसरा पहर लगने वाला था। जामघाट के ऊपर शरद का शीतल पवन बड़ी बड़ी वृक्ष कुंजों के शिखा कुंजों के साथ मानो हँस खेल रहा हो। सूर्य की किरणों कण कण को चमकाती हुई भी प्रखर नहीं थी। कोसों-कोसों दूरी के ऊँचे पर्वतों के अंचल से कोहरा छट कर कभी का विलीन हो चुका था .... जामघाटी के नीचे नर्मदा के उत्तर में बोली और मण्डलेश्वर की झीलें बड़े बड़े हीरे और दूर दूर बिखरे तालाब हरी भरी कुंजों में नगीने से जड़े मालुम होते थे। बीच बीच में ज्वार बाजरा के अधपके खेत सोने के टुकड़े जैसे प्रतीत हो रहे थे। आमः इमली, पीपल और बरगद के समूहों के बीच छोटे छोटे गाँव एक दूसरे से भेंट करते हुए से लग रहे थे। गाँव के अधिकांश घरों पर फूस छाया हुआ था। कुछ पर लाल पके खपरैल— जैसे रोली की बुंदकिया हो। कोई गाँव किसी नदी नाले की तराई से और कोई किसी पहाड़ पहाड़ी की गोद में बसा हुआ मालुम पड़ता था।"[2]

यहाँ पर लेखक ने शरद का कैसा सुहावना चित्र खींचा है जिससे जलवायु एवं मौसम के संबंध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं —

1- अहिल्याबाई, पृ० 188

2- अहिल्याबाई, पृ० 94, 95

शरद में पवन शीतल हो जाता है। सूर्य की किरणों में कान्ति तो रहती है किन्तु तीव्रता नहीं। यदा कदा सूर्योदय के बाद तक कोहरा पड़ा रहता है। बड़ी बड़ी झीलें और तालाब कान्ति से भर जाते हैं। खरीफ की फसल से खेतों की छबि स्वर्णिम हो जाती है। विशाल वृक्षों के कारण पास पास बसे हुए गाँव एक से प्रतीत होते हैं। जाड़े के दिनों में अधिकांश लोगों को ठण्ड लग जाती है जिसके कारण ज्वर भी आ जाता है। फल स्वरूप दैनिक कार्य कलाप में भी बाधा आती है। यथा ——

"जाड़ा तीखा हो उठा था। अहिल्याबाई को ठण्ड लग गई। ज्वर भी हो आया परन्तु उन्होने अपना नित्य नियम स्नान, पूजा पाठ इत्यादि नहीं छोड़ा। भोजन पर रूचि न थी किले में दरबार करना छोड़ना पड़ा। राजकाज महल में ही करने लगी। सिर में दर्द था। तकिया से टिकी सिन्दूरी से सिर में तेल मलवा रही थी।"[1]

इससे यह ज्ञात होता है कि जाड़े के दिनों में शीत की अधिकता के कारण ज्वर एवं सिर दर्द होना स्वाभाविक बात है प्रायः सिर में तेल मलने से विश्राम मिलता है। इस प्रकार शीतकाल बुन्देलखण्ड के लिए अभिशाप है।

'महारानी दुर्गावती' उपन्यास में लेखक ने वर्षा के दिनों का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। यथा ——

"बादल छाते जा रहे हैं। बिजली की कौंध भी दिखलाई पड़ी पानी बरसेगा, संभव है ओले भी पड़ें। .... रात में बादल घने हो गये। बिजली की कड़क – चमक चलती रही और पानी बरसा। रात भर बरसता रहा और दिन में भी बादलों और बिजली ने चैन नहीं लिया। ओले भी पड़े । लोग व्याकुल हो उठे कहीं ओलों से फसल का विनाश न हो जाये। तीसरे दिन पानी का बरसना रूका। फिर बूँदा बादी होती रही।"[2]

उक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि वर्षा के दिनों में बुन्देलखण्ड का वातावरण बड़ा ही भीषण हो जाता है। बादल, बिजली और ओले की भीषणता से जन-जीवन

1- अहिल्याबाई, पृ0 108

2- दुर्गावती, पृ0 175

त्रस्त हो जाता है। कभी कभी तो अनेक स्थानों पर छटाँक छटाँक के ही नहीं अपितु आध-आध पाव के ओले पड़ जाते हैं।[1] वर्षा की इस भीषणता के कारण कभी कोहरा छा जाता है। चिड़ियाँ तक नहीं निकल पातीं। वायु तीव्र गति से चलने लगता है। जब कोहरा छटता है, बादल फटता है तब धूप निकलने पर मौसम सुहावना हो जाता है। यथा —

"पानी रूक रूककर बरसता रहा एक दिन सबेरे बड़ा गहरा कोहरा छाया हुआ था। चिड़ियाँ दिखलाईं तो नहीं पड़ती पर चहक कभी कभी सुनाई पड़ जाती थी। दिन चढ़ा होगा कि हवा कुछ तेज हुई , कोहरा फटा, बादल छँटे और धूप निकल आयी। प्रकृति मानो रुआँसी होते- होते हँस पड़ी है।"[2]

ग्रीष्म के दिनों में बुन्देलखण्ड में ताप मान बहुत अधिक बढ़ जाता है और भयंकर लू चलने लगती है। जिसके कारण घर से निकलना दुस्साहस करना होता है।[3] एक स्थल पर वर्षा का भीषण चित्रण इस प्रकार किया गया है —

"वर्षा ऋतु देर में आयी पहाड़ों की चोटियों पर बादलों ने डेरे डालने शुरू कर दिये। पहली तड़प तड़प की बौछारों ने प्यासी धरती के ओंठ गीले कर दिए, सूखे जंगलों पर हरी हरी कोपलें छा दीं, सूखे नालों के पत्थरों को भिगोकर जगह-जगह मटीले डाबर भर दिए .... एक दिन ऐसा आया जब मेघों से द्वन्द्व मचा दिया, ऐसे बरसे और कई दिन तक बरसते रहे कि नदियाँ तो क्या नाले तक इतरा उठे, मार्ग बन्द हो गये .... किसान का हाथ अपने खेत की तरफ बढ़ा कि फिर बरस पड़े अन्धा धुंध बरसे .... अँधेरी रात के घने बादलों की कड़क चमक और मूसला धार के कारण खिड़कियाँ बन्द थीं दीपक सशंक ज्योति दे रहे थे।"[4]

इस वर्णन से यह प्रतीत होता है कि वर्षा के दिनों में कितनी भीषण वर्षा होती है मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं लगातार वर्षा के कारण जन जीवन त्रस्त हो जाता है। घने अंधकार के कारण भीषणता बढ़ जाती है और मूसलाधार वर्षा के कारण बाहर

1- दुर्गावती, पृ0 175

2- दुर्गावती, पृ0 177

3- दुर्गावती, पृ0 196

4- दुर्गावती, पृ0 199—200

निकलना भी कठिन हो जाता है। एक स्थल पर जाड़े की ऋतु का वर्णन लेखक ने इस प्रकार किया है —

"जाड़े की ऋतु आ गयी और ठण्ढ बराबर बढ़ती रही। किसानों की बरसाती फसल अच्छी नहीं आयी थी क्योंकि पानी बहुत देर से बरसा था। उन्हारी गेहूँ चने की फसल बड़ी होनहार दिख रही थी।"[1]

इससे ज्ञात होता है कि जाड़े के दिनों में उत्तरोत्तर शीत अधिक बढ़ता जाता है इन्हीं दिनों कृषक को अपनी रबी की फसल का भविष्य ज्ञात होने लगता है।

बसन्त ऋतु के दिनों में पुष्पों का खिलना, कोकिल का कूजना बड़ा सुहावना लगता है। दिन में लू चलना और रात्रि में ठण्डक हो जाना इस क्षेत्र की विशेषता है जैसा कि निम्नलिखित वर्णन से ज्ञात होता है —

ठण्ढ की ऋतु समाप्त हो गयी। बसंत आया फूलों ने युद्ध देखा और खिलते मुरझाते रहे। कोयलों की कूकों ने तोपों की गड़गड़ाहट को दूर से सुना। रात्रि में ठण्डक और दिन में लू चलने के दिन आगये।"[2]

एक अन्य स्थल पर ग्रीष्म की भीषणता का चित्रण किया गया है। यथा—
"लू तेज हो गयी थी। दिन बहुत गरम परन्तु रात ठण्डी। चौरागढ़ की चौरस ऊँचाई पर ठण्डक छा गयी थी .... द्वादशी का चन्द्रमा सूक्ष्म बदली के कारण धुँधला दिख रहा था।"[3]

उक्त वर्णन से भी यही ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में दिन में भीषण गर्मी और रात्रि में सुहावनी ठण्डक होती है। ग्रीष्म के दिनों में जब बैसाख का प्रारम्भ होता है आँधी चला करती है किन्तु लू नहीं चलती। तेंदू, आचार आदि के पेड़ बड़े सुहावने लगने लगते हैं। यथा —

"बैसाख का आरम्भ का रह रहकर आँधी चल रही थी पर लू न थी। पहाड़ों में करथई धूमरे बैगनी रंग की छायी हुई सी थी। बीच बीच में कठवर तेंदू और आचार की हरी भरी झुरमुटे।"[4] अक्षय तृतीया के आस पास बैसाख के महीने में

1- दुर्गावती, पृ0 209

2- दुर्गावती, पृ0 212

3- दुर्गावती, पृ0 221

4- कचनार, पृ0 7

लगभग तीसरे पहर के पश्चात् थोड़ी सी लू चलने लगती है जिसका उल्लेख क्वनार उपन्यास में मिलता है।[1]

'क्वनार' उपन्यास में वर्षा के वातावरण को लेखक ने इस प्रकार चित्रित किया है। यथा —" सावन लगा। चारों ओर हरियाली का राज्य छा गया। पुरवाई बहने लगी। किसानों ने हल की मूठे पकड़े हुए सहेरे गाये। नदी नालों के नाद ने उनका साथ दिया।"[2]

इससे ज्ञात होता है कि बुन्देलखण्ड में सावन का समय कितना सुहावना लगता है । पुरवइया के झोंकें कितना आनन्द देते हैं। नदी नालों में बाढ़ आ जाती है उनकी हर-हर की ध्वनि कृषि में लगे हुए किसानों के कण्ठ को आल्हा गाने के लिए उल्लसित कर देती है। बसन्त और ग्रीष्म की संधि का चित्रण करने में भी लेखक ने चमत्कार उत्पन्न किया है। यथा —

अभी गरमी ने ऋतु पर अपना अधिकार नहीं जमा पाया था। सागर की झील में एक एक लहर पर कलोल करने वाली सान्ध्य रश्मियों को बसन्त के मेघों ने घेर लिया। हवा धीमी थी और नीमे पुष्प पराग से लदी हुई सन्ध्या के बाद मेघ और पवन दोनों कुछ और सघन हुए।"[3]

इससे ज्ञात होता है कि बसन्त और ग्रीष्म की संधि में वातावरण सुहावना रहता है वायु की गति मन्द रहती है और यदा कदा उसमें तीव्रता आ जाती है। कभी कभी मेघ भी घिर आते हैं। शरद काल का एक चित्रण जिसमें आकाश की निर्मलता फिर भी कभी कभी वर्षा का हो जाना और भूमि का पुनः पंकिल हो जाना। इस प्रकार वर्णित है —"शरद के प्रारम्भ तक वर्षा ने पीछा नहीं छोड़ा आकाश के निर्मल हो जाने पर भी भूमि पर कीचड़ थी।"[4] जाडे के समय में सन्ध्या से ही ठण्डक बढ़ जाती है। शरीर जकड़ जाता है यथा — सूर्य का प्रकाश अभी था परन्तु बहुत ठडी हवा चलने लगी थी। शरीर जकड़ सा गया था।"[5] जाड़े के इन दिनों में सूर्यास्त होते ही अंधकार व्याप्त हो जाता है।[6]

1- क्वनार, पृ0 76

2- क्वनार, पृ0 162

3- क्वनार, पृ0 231

4- क्वनार, पृ0 242

5- गढ़ कुण्डार, पृ0 91

6- गढ़ कुण्डार, पृ0 97

जाड़े के दिनों में सन्ध्या होते ही अंधकार हो जाता है और गाँव गाँव में किसान लोग प्रमुख स्थानों पर आग जलाते हैं जिसका धुआँ वायु मण्डल में व्याप्त हो जाता है। एक विचित्र सादृश्य दिखाई पड़ता है। यथा —

"अँधेरा होते होते दोनों सवार भरतपुरा गढ़ी के सामने जा पहुँचे। थोड़ी ही दूर पर बसे हुए गाँव से धुआँ की गुंज उठ उठकर धीरे धीरे आकाश में पतली पड़ती जाती थी। सूर्य का प्रकाश न था और न थी तारों की रोशनी।"[1]

उक्त वर्णन से यह प्रतीत होता है कि बुन्देलखण्ड के गाँवों वातावरण शीतल कालीन संध्याओं में कितना विशेषिकामय हो जाता है। जाड़े के दिनों का एक वर्णन और देखिए — "खिड़की में होकर ठण्डी हवा आ रही थी परन्तु गर्म कपड़ों के कारण उद्दीपक मालुमहोती थी रात कुछ अधिक बीत गयी थी। चन्द्रमा उदय हो रहा था।। ~~खिड़~~ खिड़की में होकर नदी की धार वृक्षों के लम्बे समूह की अनावृत लम्बी श्याम रेखा और उसके पीछे ऊँची नीची पहाड़ियों की पाँति और दो पहाड़ियों की टूट में होकर कुण्डार गढ़ की झाँई सी दिखलाई पड़ी।"[2]

बसन्त के दिनों में फागुन के समाप्त होते होते वृक्षों में पतझड़ होने लगता है। वर्मा जी के उपन्यास 'गढ़ कुण्डार' में आंचलिकता के बोधक इस वर्णन को तो देखिए— "फागुन के समाप्त होने में थोड़े ही दिन शेष थे 'पलोथर और सारौल' के जंगलों की करधई शुष्क पल्लव हो गयी। करौंदी और हरी हो उठी। महुए के पत्ते पीले पड़ पड़कर गिरने को हुए। करील में फूल आने लगे। पलाश चिकना हो गया और उसके बड़े बड़े फूलों से सुनसान जंगल में लालिमा छिटकने लगी। एक दिन कोमल ने कुहुक लगाई। बेतवा में पानी कुछ कम हो गया।"[3]

उक्त वर्णन से यह प्रतीत होता है कि बुन्देलखण्ड की जलवायु फागुन के अंत होते ही ~~अपना~~ अपना रंग बदलने लगती है। वातावरण की मधुरिमा जन-जीवन को प्रफुल्लित करने लगती है। पलाश का फूलना, करील में फूल का आना यहाँ की मादकता की विशेषताएँ हैं। जो बसंत के समय में देखी जा सकती हैं।

1- गढ़ कुण्डार, पृ० 15

2- गढ़ कुण्डार, पृ० 27

3- गढ़ कुण्डार, पृ० 260

'मृगनयनी' उपन्यास में भी एक वाक्य में लेखक ने बसंत के इस वैभव को सूत्रात्मक शैली में चित्रित किया है। यथा —

"जाड़े निकल गये बसंत ऋतु आ गयी और छा गई।"[1]

उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि जन जीवन में बसंत का कितना व्यापक प्रभाव पड़ता है। ग्रीष्म के चित्रण में वर्मा जी ने इसलिए अधिक रुचि प्रदर्शित की है कि बुन्देलखण्ड जैसी भीषण गर्मी भारत के किसी क्षेत्र में नहीं पड़ती। यथा — "तीसरा पहर था लू बहुत जोर की चल रही थी। लाखी की माँ गाय के साथ नदी के किनारे के भरके की हरियाली चराने और वहीं छाया में आराम करने के लिए गयी हुई थी।"[2]

इससे ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में लगभग 12 बजे लू में तीव्रता आ जाती है। किन्तु ऐसे भीषण वातावरण में भी नदी के किनारे की हरियाली में वृक्षों की छाया विश्रामदायक प्रतीत होती है। इनमें बैठकर कुछ लोग क्षणिक विश्राम पा लेते हैं। इस काल में सूर्य की तीव्र किरणों के कारण क्षण क्षण प्यास लगती है और भूतल इतना अधिक संतप्त हो जाता है कि उस पर पैर रखना कठिन हो जाता है। यथा —

"दोनों करधई की घनी झाड़ी में घुस जाने के लिए सकरे छोटे से ही मार्ग की तलाश में झुक झुक कर , हाँफ हाँफ कर साँस साध साधकर फिरने लगी। एक हाथ में कमान और दूसरे में सूर्य की प्रखर किरणों में चमक चमक जाने वाला लोहे का तीर साधे हुए। निन्नी के ओठ सूख रहे थे परन्तु उसने पानी न पीने का निश्चय किया था। ततूरी के मारे लाखी के पैर जल रहे थे।"[3] उक्त वर्णन से यह प्रतीत होता है कि ग्रीष्म के दिनों में बुन्देलखण्ड में कितनी भयंकर गरमी पड़ती है। इन दिनों वृक्षों के पत्ते भी सूख जाते हैं सूखे पत्तों की खड़खड़ाहट और सरन्सर तथा विपरीत हवा वातावरण को भीषण बनाने के लिए पर्याप्त हो जाते हैं। यथा — "हवा उलटी चल रही थी इसलिए फिर और कुछ नहीं सुनाई पड़ा।"[4]

1- मृगनयनी, पृ0 366

2- वही, पृ0 43

3- वही, पृ0 46—47

4- वही, पृ0 49

बुन्देलखण्ड की वर्षा बड़ी सुहावनी होती है। सुन्दरता और भीषणता का ऐसा वातावरण अन्यत्र दुर्लभ है। यथा —

"बादल घिर आये। प्रचण्ड वेग के साथ पानी बरसने लगा। मांडू की रूखी सूखी पहाड़ियाँ हरी भरी हो गयी। नदी - नालों ने किनारों की मर्यादा छोड़दी। मालवे का 'पग पग रोटी डग-डग नीर' तो विख्यात ही है। अब अंगुल अंगुल पर पानी भरने और समाने लगा।"[1]

इस वर्णन से प्रतीत होता है कि वर्षा के दिनों में प्रकृति अपने सुन्दर और भीषण रूप में कैसी विचित्र दिखाई पड़ने लगती है। रात्रि के समय वातावरण और भयंकर हो जाता है। यथा —" रात होते ही अँधेरा छा गया। गहरी काली घटाएँ। आकाश में चन्द्रमा के होते हुए भी चाँदनी का नाम नहीं। रूक रूककर फुहार पड़ जाती थी। हवा चल रही थी, परन्तु मच्छर झुण्ड बाँध बाँधकर टूट टूट पड़ रहे थे। थोड़े से कपड़े, परन्तु इतने कि शरीर को ढक लें। शरीर ढका नहीं किगर्मी और पसीने के मारे ठण्डक के लिए फिर, अंगों को बाहर निकालना पड़ता। फिर मच्छर और गर्मी और वही पसीने का क्रम।"[2]

यहाँ पर वर्षा के दिनों की भीषणता ऊष्मा, मच्छरों का आक्रमण, वर्षा की तेज फुहार, किसान के दैन्ययमय जीवन के साथ मिलकर एकाकार हो गये हैं।इससे लेखक को बुन्देलखण्ड वर्षाकालीन वातावरण की अभिव्यक्ति में पूर्ण सहायता मिली है।शरद ऋतु में यदा-कदा पानी बरसता है। बादल छितरे हुए छाये रहते हैं दिन में धूप की ऊष्मा से वातावरण गर्म हो जाता है किन्तु रात्रि में तारों के छिटकने और दक्षिण की वायु चलने से वातावरण शीतल हो जाता है। यथा —

"बरसात छीजने को आ रही थी। पानी कई दिन से नहीं बरसा था। इधरी, बिखरी बदली छितरा छितरा जाती थी, परन्तु दिन में धूप और रात में तारे प्रायः निकल आते थे। दक्षिण की वायु वेग से चलती थी परन्तु नदियाँ और बड़े नाले अब भी अपने उन्माद पर थे। ऊँची नीची पहाड़ियाँ, पहाड़ियों और नदियों के बीच के मैंदान हरियाली से लद गये थे।"[3]

1- मृगनयनी, पृ0 62

2- वही, पृ0 78

3- वही, पृ0 85

यह हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं है कि बुन्देलखण्ड में कितना भयंकर जाड़ा पड़ता है। 'मृगनयनी' उपन्यास के निम्नलिखित वर्णन को देखने से भी सत्यता स्पष्ट हो जाती है। यथा —

"निपट अँधेरी रात। सन्ध्या के उपरान्त ही ग्वालियर का बाजार बन्द हो गया। सड़कों पर चहल पहल शान्त हो गयी। घरों के भीतर कलरव था पर बाहर सूनसान सा। दो घंटे रात गये ही अँधेरे में ऐसा लगता था जैसे आधीरात होने वाली हो। नगर के छोर पर एक झोपड़ी में दिया टिमटिमा रहा था जिसका तेल समाप्त होने को था फिर बत्ती घडी आधी घडी डिगमिगाते डिगमिगाते सुन्न पड़ जाती। झोपड़ी के भीतर एक कोने में आग दहक रही थी ठण्ड के मारे सिकुड़ी हुई फटी मैली कुचैली कथरी में ढेर बनी हुई एक स्त्री आग के पास पड़ी पड़ी कराह रही थी।"[1]

इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि जाड़े के दिनों में यहाँ कितना भीषण जाड़ा पड़ता है सन्ध्या होते ही भयंकर सन्नाटा और घनघोर अंधकार जन-जीवन को शून्य कर देता है। जाड़े के वेग को कम करने के लिए आग का सहारा लेना ही पड़ता है। यहाँ का दैन्य जीवन इन दिनों कराह- कराह कर अपनी जिन्दगी बिताने के लिए विवश हो जाता है। इसी प्रकार जाड़े के दिनों का रोमांचक चित्रण 'मृगनयनी' के अनेक स्थलों पर किया गया है।[2]

'ग्रीष्म की भीषणता का चित्रण 'लगन' उपन्यास में भी मिलता है। यथा—
"धूपकड़ी थी। पृथ्वी अँगारे सी उगल रही थी। करधई के पेड़ तो झुलस चुके से जान ही पड़ते थे। कोंहा और खेंजा भी जले जा रहे थे। लौकी लहरें सी उठ रही थी, परंतु बुन्देलखण्डियों की तो श्वास मानो लू की बनी होती है। देवी सिंह को कोई विशेष कष्ट न हुआ। पसीना आ रहा था। गरम हवा के झकोरे शरीर को भले जान पड़ते थे।"[3]

इससे प्रतीत होता है कि बुन्देलखण्ड की उष्मा इतनी अधिक होती है कि जिसमें पेड़ भी झुलस जाते हैं किन्तु फिर भी यहाँ के मनुष्य इस भीषण वातावरण के बावजूद भी जीवन जी लेते हैं अन्यथा यहाँ का ग्रीष्म का वातावरण असह्य हो जाता है।

1- मृगनयनी, पृ0 343

2- वही, पृ0 104, 153, 161, 227

3- लगन, पृ0 20

कृषि :—

हमारा भारतवर्ष एक कृषि प्रधान देश है। विशेषतया बुन्देलखण्ड केलोग तो कृषि पर ही अपनी जीविका चलाने के अभ्यासी हैं। यहाँ पर पर्वतीय बीहड़ भूमि होने के कारण अनेक नदियों के होने पर सिंचाई के समुचित साधन उपलब्ध नही है इसलिए कृषक को वर्षा के जल पर ही आश्रित रहना पड़ता है। इन्द्रदेवता को प्रसन्न करने और उसको शान्त करने के लिए यहाँ अब भी काली माई, गोंड बाबा और ठाकुर बाबा की पूजा की जाती है। जैसा कि वर्मा जी ने उपन्यासों में प्राप्त विवरणों से स्पष्ट है। इतना ही नहीं संकट निवारण के लिए अनेक पशु-पक्षियों के बलिदान करने की भी प्रथा है।[1] खेतों पर उगी हुई फसलों पर नजर न लगे इसलिए उन पर काले रंग की हँड़ी टाँग दी जातीहै जिससे यह समझा जाता है कि पौधे वृद्धि को प्राप्त होगें और उनमेंकिसी प्रकार का रोग आदि नही लगेगा।[2] वर्षा के संबंध में यहाँ के लोग घाघ और भडेरी की कहावतों पर भी विश्वास करते हैं जिनके संदर्भ वर्मा जी के उपन्यासों में मिलते हैं।[3] बुन्देलखण्ड में कोंच का गेहूँ प्रसिद्ध है। इस प्रदेश में मोठ और खुरई की पिसी को विशेष उपयोगी माना जाता है। गेहूँ की इस किस्म के अतिरिक्त यहाँ ज्वार, बाजरा, मक्का, मूँग, उरद, और चावल समान रूप से उत्पन्न होते हैं। सिंचाई के लिए रहट और पुरों का प्रयोग किया जाता है। कहीं कहीं पर बन्धियों कोबाँधकर तालाबों के जल द्वारा सिंचाई की जातीहै। इस प्रकार यहाँ के निवासियों के लिए पर्याप्त मात्रा में अन्न उपलब्ध हो जाता है। यहाँ के कृषक अभी आधुनिक यन्त्रों से भली भाँति परिचित नहीं है। और न उन्हें यह यन्त्र उपलब्ध ही है। फलतः यहाँ का कृषक प्राचीन कृषि विज्ञान से ही काम चलाता है। अधिकांश कृषक काष्ठ के हलका प्रयोग करते हैं।

पहाड़ों और वनों की अधिकता के कारण यहाँ खेतों के रूप में अधिक विस्तार नहीं है उनका आकार लघु है । यथा —

"नदी के किनारे गाँव के पास पहाड़ियों जंगल के बीच बीच में कुछ खेतों में गेहूँ और चने के पौधे लहलहा उठे। खेत पकने पर आ रहे थे मस्ती के साथ झूमने

1- दुर्गावती, पृ0 175

2- अमरबेल, पृ0 164

3- अमरबेल, पृ0 365

लगे थे।"[1] जिस समय फसल प्रायः पक जाती है उस समय कृषक उसे काटने के लिए बड़ा उतावला हो जाता है फिर भी वह होली तक परखने के लिए कुछ विवश हो जाता है। यथा ——

"फसल काटकर घर में या गढ्ढे में रखने की उतावली थी परन्तु अन्न अभी कहीं कहीं हरा था। पौधों की लहर को देखकर उतावला किसान हाथ में हँसिया लिए हुए रह रह जाता था, हरी बाल को कैसे काटूँ? होली जलने तक ठहरना ही पड़ेगा।" किसान जो ठहरा।"[2]

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक किसान के पास इतना अधिक अन्न नहीं होता कि वह बड़े खलिहानों में रखे छोटे किसान तो घर में या गढ्ढों में ही कटी फसल रखकर उसकी मड़नी कर लेते हैं। किसानों के पास जो खेत होते भी हैं वे अलग अलग होते हैं इस कारण वे एक साथ इनकी देखरेख नहीं कर पाते। परिणाम स्वरूप कभी कभी अच्छी भूमि भी परती पड़ जाती है जैसा कि निम्नलिखित संदर्भ से स्पष्ट है —

"सन्ध्या होते ही गाँव वालों को अपनी अपनी थोड़ी सी खेती में रखाने की चिन्ता लगी। सबके सब खेत एक ही जगह न थे कोई कहीं और कोई कहीं। कुछ पास पास भी थे परन्तु अधिकांश अलगअलग थे। बीच बीच में पहाड़ियाँ और जंगल। बहुत ही अच्छी भूमि परती पड़ गयी थी, जान पड़ता था जैसा छोटा सा जंगल वह भी हो।"[3]

यहाँ पर खेतों के रखाने के लिए किसान को मचान बाँधना पड़ता है और रात में रखवाली करनी पड़ती है यदि रखवाला एक क्षण के लिए भी झपकी लेता है तो जंगली जीव घुस कर खेती का सफाया कर देते हैं। फलतः उसे कमान, तरकश भरे भरे तीर और तलवार लेकर मचान में रहना पड़ता है। यथा ——

"जंगली भैंसे, साँभर, चीतल, सुअर आयेंगे और खेती को मिटाकर जायेंगे। एक झपकी आयी और मैदान साफ।"[4]

1- मृगनयनी, पृ0 2

2- वही, पृ0 3

3- वही, पृ0 11-12

4- वही, पृ0 12

जब फसल कटकर खलिहानों में आ जाती है तब किसान का अधिकांश समय वहीं बीतता है क्योंकि जंगली जानवरों से वहाँ भी खतरा रहता है। उसे रक्षा के लिए आग एवं तीर कमान से सहारा लेना पड़ता है। रात्रि के समय भजन आदि के द्वारा बड़ा मनोरंजन होता है। यथा —

"बीस पच्चीस दिन के बाद खेती पक गई और फसल कटकर घने जंगल के भीतर छिपे हुए खलिहानों में रख ली गयी। लोगों का अधिकांश समय वहीं बीतने लगा। जंगली जानवरों से रक्षा आग और तीर कमान से होती रहती थी ..... रात को आग के आस पास कभी भजन और रायसे।"[1]।

छोटे किसानों के पास एक फसल का अन्न इतना नहीं होता कि वह द दूसरी फसल तक चल सके इसके लिए उसे कटाई के रूप में मजदूरी करनी पड़ती है। जिसमें उसे जीवनयापन के लिए कुछ अन्न मिल जाता है फिर भी उसे पेट पालने के लिए चिड़ियों और मछलियों के शिकार का भी आश्रय लेना पड़ता है।[2] जिस सोलहवीं शताब्दी के संदर्भ में वर्मा जी ने 'मृगनयनी' उपन्यास की रचना की उस समय मानसिंह तोमर का राज्य था। कृषक को अपनी कृषि का छठाँ भाग राजा को , बीसवाँ भाग देवता को और तीसवा भाग ब्राह्मण को देना पड़ता था। कुछ ऐसा विश्वास था कि यदि ऐसा न किया जायेगा तो लोक और पर लोक दोनों से हाथ धोना पड़ेगा। यथा —

"छठाँ भाग राजा का होता है सो तुमने दे दिया। बीसवाँ भाग देवता का, तीसवाँ ब्राह्मण का होता है उसके देने में आना कानी करने से यह लोक तो बिगड़ेगा ही परलोक से भी हाथ धो बैठोगे।"[3] इस प्रकार देवता और ब्राह्मण का अंश मिलाकर उपज का बारहवाँ भाग पुजारी को देना पड़ता था। इस प्रकार अन्न का चतुर्थांश किसानों के पास से निकल जाता था और 3/4 उसके पास रह जाता था। यथा ——

"देवता का बीसवाँ भाग और ब्राह्मण का तीसवाँ, यानि पुजारी को कुल बारहवाँ हिस्सा भेंट कर दिया। सब मिलकर अन्न का चौथा भाग किसानों के पास से निकल गया। तीन चौथाई फिर भी बचा रहा।"[4] नहरों की सुविधा बहुत कम होने के

1- मृगनयनी, पृ0 23

2- वही, पृ0 24

3- वही, पृ0 27

4- वही, पृ0 28

कारण भी यहाँ के कृषक बन्धियों में धान बो देते हैं। और जहाँ पानी नहीं ठहरता ऐसे क्षेत्रों में ज्वार बो दते हैं। शेष भूमि रबी की फसल के लिए छोड़ देते हैं। यथा-

"अटल ने बन्धियों वाले एक खेत में धान बो दी। पास लगे हुए एक ढलवे खेत में थोड़ी सी ज्वार, बाकी भूमि को उनारी के लिए रख छोड़ा।"[1]

किसान को जब अन्न की अधिक आवश्यकता होती है तब वह जल्दी से खलिहान में बालों को सुखाकर कूटकर धान उगाह लेता है और पयाल को जाड़े के लिए सुरक्षित रख लेता है। और यथा — "झटपट खलिहान में बालों को सुखाया और कूटकर चावल गाह लिए। पयाल को जाड़े के लिए सुरक्षित रखलिया।"[2]

खरीफ की फसल से कृषक काँसे और पीतल के बर्तन तथा जाड़े लिए कपड़े खरीदता हैऔर रबी की फसल आने पर गहने तथा कपड़े क्रय करता है।[3] बुन्देलखण्ड में गेहूँ, चना, अलसी आदि के पौधे तब अधिक उन्नति कर पाते हैं जब कि महावट हो जाये। इसके लिए कृषक को इन्द्रदेव का ही सहारा लेना पड़ता है। यथा ——

"चैत की फसल बोली गयी थी। गेहूँ, चना अलसी सरसों इत्यादि के नन्हें नन्हें पौधे मुस्करा उठे थे। किसान कह रहे थे – एक अच्छी महावट पड़ गयी कि पौ बारह है। कपड़ा महँगा बना रहे तो भी भुगता लेगें और इन्द्रदेव सनक गये? तब देखा जायेगा, अभी से हिम्मत क्यों हारें?"[4] किसान खलिहानों में फसल गाहकर सहकारी हाट-मण्डी में उसे बेचता है। यथा —"फसल कटकर खलिहानों में आयी और गाही जाकर सहकारी हाट-मण्डी से किसानों के लिए काफी दाम ले आयी क्योंकि चावल और ज्वार दोनों का भाव चढ़ गया था।"[5]

बुन्देलखण्ड के गाँवों में सहकारी कृषि समितियाँ भी कार्य करती हैं जिनमें छोटी छोटी जोतों वाले किसान सम्मिलित होते हैं। यथा —" अन्य गाँवों में भी सह – कारी खेती के प्रति थोड़ी सी ही रूचि बढ़ी। वह साधन सहकारी समिति की सहायता

1- मृगनयनी, पृ0 76

2- वही, पृ0 104

3- वही, पृ0 104

4- उदयकिरण, पृ0 131

5- उदयकिरण, पृ0 130

पाने के लिए बड़ी जोतों वाले अलग बने रहे छोटी छोटी जोतों वालों ने उदय का डाबर वालों की समितियों का वैसा विकास देखकर सहकारी खेती समितियाँ बनवाईं और कम बढ़ उत्साह के साथ काम करने लगे।"[1]

उक्त उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि गाँवों में सहकारी समितियों के माध्यम से कृषि के कार्य को प्रोत्साहन मिलने लगा। इसमें कमी यह है कि कुछ चालाक किसान अपने रद्दी-सद्दी खेत समिति में लगा देते हैं और निजी खेती में अच्छे-अच्छे रख लेते हैं।[2]

बुन्देलखण्ड में कुछ कृषक बटाई पर भी खेती करते हैं जिसमें उनकी अपनी व्यक्तिगत शर्तें होती है। बटाई को जो खेत लेता है उसे एक हिस्सा या कभी दो हिस्सा अन्न मिलता है यदि खेत का स्वामी बैल और बीज अपने देता है तो जुताई, निकाई, रखवाली बगैरह लेने वाले को करनी पड़ती है। जमीन का लगान, मालगुजारी और बीज की सवाई काटकर अनाज और भूसा बाँटा जाता है। कटाई और मड़ाई भी खेत लेनेवाले को करनी पड़ती है। यथा —

"एक हिस्सा तुम्हारा और तीन हमारे, हमारी भूमि बहुत बढ़िया है, बैल , बीज बगैरा भी हमारे रहेंगे तुम्हें तो खेत बनाने भर है। बखर कर बीज बोना भर है। फिर थोड़ी निराई रखवाली बगैरा सो तो तुम सब जानते ही हो।...... जमीन का लगान मालगुजारी और बीज की सवाई काटकर गल्ला और भूसा बाँट लिया जायेगा। कटाई तुम्हारे जिम्मे रहेगी। खलिहान का काम तो खैर करोगे ही।"[3]

यदि बटाई दार को असली खेत का स्वामी खाने के लिए अन्न उधार देता है तो फसल तैयार होने पर बटाईदार के हिस्से से सवाई समेत अन्न काट लिया जाता है। यदि कहीं रियायत की गयी तो सवाई के स्थान पर मूल के अतिरिक्त 1/9 और अधिक देना पड़ता है।[4]

1- उदयकिरण, पृ0 125

2- वही, पृ0 89

3- आहत, पृ0 9-10

4- वही, पृ0 10

किसानों की दशा को सुधारने के लिए यहाँ के उदार शासकों ने अनेक तालाब खुदवाये और बाँध भी बँधवाये जैसा कि निम्नलिखित उल्लेख से स्पष्ट होता है —

"तालाब खुदवायें बँधवाये जाने तो किसानों को कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा और राज्य की आय भी बढ़ जावेगी। उधर जिझौती में चन्देलों ने सदा इस पर ध्यान दिया वहाँ के राजाओं ने लगातार बडे बडे बन्ध डलवाये, नहरें खुदवायी और किसानों के घरों में सोना बरसाया।"[1]

यदि कभी ओलों आदि से खेतों की फसल आदि को हानि उठानी पड़ती है तो सक्षम अधिकारी के आने पर किसान लोग बढ़ा चढ़ाकर फरियाद प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ दुर्गावती कहती है कि "जिनकी खेती को ओलों ने नष्ट कर दिया है उनकी सहायता अभी की जायेगी।"[2]

सारांश यह है कि बुन्देलखण्ड का कृषक अभी उतना अधिक जागरूक नहीं है जितना कि उसे होना चाहिए। वह कृषि की वैज्ञानिक विधियों से पूर्ण परिचित नहीं है। सिंचाई के लिए वैसी सुविधायें उपलब्ध नहीं है कि जिनसे उपज में अधिक वृद्धि की जा सके। बीहड़ भूमि के कारण यहाँ पर अधिकांश नहरें भी नहीं बनाई जा सकी। फलतः पुर और रहट ही यहाँ के मुख्य सिंचाई के साधन है। यद्यपि यहाँ समित मात्रा में ही अन्न उत्पन्न होता है और उसी किसान को हर प्रकार का काम करना पड़ता है किन्तु फिर भी उसे ऋण लेकर निर्वाह करना पड़ता है। यहाँ की भूमि भी वैसी उपजाऊ नहीं है अतः यहाँ का कृषक जीवन दैन्यपूर्ण है।

बुन्देलखण्ड की अन्य विशेषताओं में भौगोलिक आंचलिकता की दृष्टि से यहाँ के खनिज पदार्थ उल्लेखनीय है जिनके द्वारा यहाँ के जन-जीवन को बहुत कुछ सहारा मिलता है। यहाँ के वन आखेट के लिए विशेष उपयोगी हैं। इन वनों में शिकारी लोग साँभर, चीतल, सुअर, नील, गाय, कोटरी, तेन्दुये और शेर आदि जंगली जीवों का शिकार करते हैं।[3] वर्मा जी ने केवल इन जीवों का चित्रण ही नहीं किया अपितु इनके स्वभाव और कार्य कलापों को भी यत्र तत्र दिखलाने की चेष्टा की है। आखेट के सैकड़ों

1- दुर्गावती, पृ० 173

2- वही, पृ० 187

3- वही, पृ० 63

चित्र इनके उपन्यासों में भरे पड़े हैं जो बड़े ही रोमांचक और रोचक लगते हैं। यह विशेषता अन्य आंचलिक उपन्यासकारों में बहुत कम मिलती है। क्योंकि वर्मा जी स्वयं एक बहुत अच्छे शिकारी थे जैसा कि उन्होने 'दबे पाँव' शीर्षक पुस्तक की भूमिका में लिखा है। 'दबे पाँव' में अधिकांश मेरी शिकार संबंधी कथा है जो लगभग सन् 1922 से आरम्भ होती है।[1] इस प्रकार वर्मा जी के उपन्यासों में पर्याप्त भौगोलिक आंचलिकता के दर्शन होते हैं। वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में बुन्देलखण्ड के जिस भौगोलिक रूप को अपनाया है उसमें भारत का वह मध्यवर्ती भूखण्ड आता है जो उत्तर की ओर गंगा के मैदान से मिलता है, दक्षिण की ओर नर्मदा नदी की गहरी घाटी इसकी सीमा बनाती है इसके पश्चिम में मालवा का पठार और पूर्व में छोटा नागपुर का पठार है। बुन्देलखण्डी बोली एवं संस्कृति की दृष्टि से उत्तर प्रदेश के झाँसी, जालौन, हमीरपुर, बाँदा ललितपुर एवं मध्यप्रदेश के सागर, दमोह, जबलपुर, टीकमगढ़, छतरपुर, पन्ना, दतिया एवं ग्वालियर जिले का दक्षिणी भाग इस क्षेत्र में परिगणित किया जा सकता है।[2]

1- दबे पाँव, पृ0, भूमिका भाग

2- वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0 72

षष्ठ अध्याय

वर्मा जी के उपन्यासों में ऐतिहासिक आँचलिकता

षष्ठ अध्याय

वर्मा जी के उपन्यासों में ऐतिहासिक आँचलिकता

इतिहास अतीत की घटनाओं का लेखा जोखा करने वाला एक अस्थिपंजर है। जिसमें प्राण पिरोना साहित्यकार का काम है। इतिहास में अध्ययन कर लेने से वही घटनाएँ नीरस एवं मन को उबा देने वाली प्रतीत होती हैं किन्तु जब उपन्यास कार उस ऐतिहासिक घटनावली को लेकर उसमें कल्पना का मधुर सम्मिश्रण करता हुआ उसे रसात्मक बना देता है तब हमें उसमें काव्यानन्द के दर्शन होनेलगते हैं। यही कारण है कि ऐतिहासिक तथ्यों पर उपन्यास का महल खड़ा करना दुष्कर होता हुआ भी अत्यन्त महत्वपूर्णएवं समीचीन कार्य है। कहने के लिए तो कोई भी कह सकता है कि ऐतिहासिक उपन्यासों मेंकल्पना के सम्मिश्रण से कृत्रिमता आ जाती है और घटनाओं तथा तथ्यों का यथार्थ रूप नहीं रह पाता किन्तु ऐसे आलोचक यह भूल जाते हैं कि उपन्यास के रूप में जो इतिहास लिखा जाता है वह शताब्दियों तक अमर रहता है। वैसे तो न जाने कितने साक्षर व्यक्ति हैं जो कि इन घटनाओं को इतिहास के माध्यम से नहीं जानते और यदि जानते भी हैं तो उनसे उनकी सुरुचि का कोई संस्कार नहीं होता परन्तु यदि वही ऐतिहासिक तथ्य उपन्यास के रूप में अपना रूप सुन्दरम् से परिवेष्टित कर लेता है तब उसका परिचय संसार के असंख्या लोगों की सीमा तक पहुँच जाता है। अतः इतिहास को लोक विस्तृत करने का माध्यम है उपन्यास। जो साहित्यकार ऐतिहासिक तथ्यों के प्रति जागरूक होता हुआ सामान्य हेर-फेर के साथ कल्पना का मिश्रण कर उसे समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है। निश्चित रूप से वह इतिहास -कार एवं अन्य उपन्यासकार की अपेक्षा अधिक गौरव का पात्र बनता है । जैसा कि डा0 वृन्दावन लाल वर्मा का निदर्शन हमारे समक्ष इस बात का जीता जागता प्रमाण है। अब यहाँ पर इतिहास की व्युत्पत्ति के संबंध में भी विचार करना उचित होगा।

इतिहास का अर्थ है इति - ह - आस अर्थात् 'यह ऐसा हुआ'। इसका अभिप्राय यह हुआ कि इतिहास में घटनाओं का यथार्थ वर्णन होता है। उधर उपन्यास के लिए अंग्रेजी में 'नोवेल' और गुजराती में 'नवल कथा' या 'नवलिका' शब्दों का

प्रयोग इस बात का सूचक है कि उसमें कल्पना का रम्य विलास होता है। इस दृष्टि से देखने पर इतिहास और उपन्यास में संगति नहीं बैठती, दोनों में मौलिक विरोध दृष्टिगत होता है।[1] पर क्या वस्तुतः ऐसा है? क्या इतिहास केवल यथार्थ से सम्बद्ध और विशुद्ध तथ्योन्मुखी होता है और उपन्यास कल्पनारम्य और मात्र भावना के क्षेत्र में विचरण करने वाला? वस्तुतः भी इतिहास घटनाओं और तथ्यों की सूची मात्र नहीं होता और न उपन्यास ही केवल मनोरंजन की वस्तु होता है। सत्य तो यह है कि हमारी कल्पना का आधार भी यथार्थ होता है। यथार्थ की गीली मिट्टी से ही कल्पना की प्रतिमा निर्मित होती है। इतिहास वस्तुतः मानव समाज की विगत घटनाओं अथवा तत्यों का तर्क संगत संकलन है।

"इतिहास में हमारी प्रेरणा है जो हमारे सामाजिक जीवन तथा यथार्थ-बोध को आलोकित करती है। इतिहास केवल महान व्यक्तियों की जीवनियाँ ही नहीं हैं बल्कि इनमें उन लाखों करोड़ों गुमनाम लोगों के जीवन खण्ड भी शामिल हैं जिन्होने इतिहास की मानवीय चेतना के क्षितिजों का विस्तार किया है। इतिहास में हम 'मानव' के व्यवहार तथा चेतना का सामान्यीकरण भी पाते हैं।"[2]

डा० शशिभूषण सिंहल ने इतिहास के स्वरूप और उसकी प्रवृत्तियों को इस प्रकार विश्लेषित किया है। इतिहास मानव जीवन के अध्ययन एवं स्पष्टीकरण में सहायक है। इतिहास मनुष्य की भौतिक उपलब्धि तथा उसके संस्कृति के विकास का साक्षी है। इतिहास समाज और राष्ट्र का अध्ययन है। सहृदयों द्वारा इतिहास का अवगाहन रसात्मक हो सकता है। इतिहास का अध्ययन निरंतर गतिशील है। उसमें प्रयोग और पुनः विचार की संभावनाएँ निहित रहती है। इतिहास विगत घटनाओं को अर्थ प्रदान कर उसका मूल्यांकन करता है। इसके अध्येता में अन्तर्दृष्टि तथा तटस्थता, इन दोनों तत्वों का समुचित सामंजस्य होना अपेक्षित है।"[3]

1- ऐतिहासिक उपन्यास और मृगनयनी, पृ0 25, डा0 ~~शशिभूषण~~ शान्ति स्वरूप गुप्त

2- नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अंक 3 वर्ष 1969 से।

ऐतिहासिक उपन्यास अपने अप में कोई अन्तर्विरोधी वस्तु नहीं है। वह एक से कलाकृति है जिसका आधार इतिहास होता है। इतना ही नहीं पूर्णतः कल्पित उपन्यास की अपेक्षा इतिहास मिश्रित उपन्यास अधिक आकर्षक होता है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने लिखा है —— " उपन्यास मेंइतिहास के मिल जाने से एक विशेष रस का संचार होता है। "

उपन्यासकार अपनी कल्पना से ऐतिहासिक तथ्यों की व्याख्या करता है उसकी कल्पना केवल ऐतिहासिक कड़ियों को जोड़ने या अन्तराल को पाटने का ही कार्य नहीं करती, वह अपनी कृति को मोहक, कलापूर्णएवं रोक बनाने के लिए भी कल्पना का उपयोग करता है। ऐतिहासिक उपन्यास के गौण पात्र एवं प्रासंगिक कथासूत्र लेखक की कल्पना का ही प्रतिफल होते हैं।

डा0 शान्ति स्वरूप गुप्त ने हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों के विषय में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं —" ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहास को अपनी कलाकृति का आधार बनाकर सृजन में प्रवृत्त होता है और ऐसा करते समय वह इतिहास को एक विशिष्ट दृष्टि से देखता है। इतिहास के प्रति उसका दृष्टिकोण ही उसकी रचना को एक विशिष्ट रूपाकार प्रदान करता है। अतः ऐतिहासिक उपन्यास के विवेचन से पूर्व यह देखना उपयुक्त एवं तर्क संगत ही नहीं आवश्यक भी है कि इतिहास के प्रति प्रायः कितनी दृष्टियाँ अपनाई जा सकती है और उनमें से कौन सी उपन्यासकार के लिए सर्वाधिक उपयोगी है। "[1] इतिहास की प्रगति के सम्बन्ध में तीन धारणायें प्रचलित हैं —

(1) आवर्तवादी मत — इसका सम्बन्ध हीगेल से है। जो यह मानता है कि मानव — दृष्टि पुनः वहीं पहुँचेगी जहाँ वह पहले थी।

(2) टायनवी ने इतिहास के सम्बन्ध में उत्थान पतन की आवृत्ति की धारणा रखी है। इतिहास में उत्थान के बाद पतन और पतन के बाद उत्थान एक नैसर्गिक एवं अनिवार्य प्रक्रिया है।

1- हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यास और मृगनयनी, पृ0 23

(3) तृतीय मत यह है कि इतिहास और व्यक्ति मानव या मानवसमूह के सम्बन्धों को अधिक वैज्ञानिक ढंग से देखने का यत्न करता है। वास्तव में इतिहास मनुष्य द्वारा निर्मित सुनिर्दिष्ट दिशायुक्त गतिविधि है। तात्पर्य यह है कि जहाँ एक ओर इतिहास मानव स्थिति प्रदान करता है वहाँ दूसरी ओर मानव इतिहास का निर्माण करता है, मानव भाग्य, कर्म या नियति का दास नहीं, वह स्वयं अपने भाग्य का विधाता है। उसके लिए न तो इतिहास कोई हौवा है और न महासागर की तरह ही सदा हिलारे मारने वाला। वह तो मनुष्य द्वारा बनया जाता है। मानव स्वयं काल रूपी मिट्टी को रूपाकार प्रदान करता है और वह इतिहास को दिशा देने वाला। मानव कोई एक महापुरूष नहीं होता, सम्पूर्ण वर्ग, राष्ट्र, जाति या [illegible] यूथ का यूथ होता है। इतिहास के प्रति यह दृष्टिकोण 19वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति [illegible] के बाद उत्पन्न हुआ है जिसका समर्थन फ्रान्स, रूस, चीन आदि जनक्रान्तियों ने किया। यह नूतन इतिहास दर्शन इतिहास की गति को द्वन्द्वात्मक मानता है और सन्देश देता है कि मानव प्राचीन से शिक्षा ले, प्रेरणा ग्रहण करे, उसके सर्वोत्तम का समाहार कर नित नवीन की सृष्टि करे, यही दृष्टि स्वास्थ्यकर है और ऐतिहासिक उपन्यास लेखक को यही दृष्टि अपनानी चाहिए। इतिहास उसके लिए केवल खण्डित पाषाणों का अजायबघर नहीं, प्रेरणा और स्फूर्ति का स्रोत है जो मानव को गल्ती की पुनरावृत्ति करने से रोकता है, उसमें नये बल और साहस का संचार करता है। जीवन के प्रति दृढ़ निष्ठा का पाठ सिखाता है। वह आदेश देता है कि पीछे देखो अवश्य पर आगे बढ़ने के लिए, केवल उसी में रमजाने के लिए नहीं। प्रसिद्ध विद्वान् श्लैगल का भी यही कथन है कि 'इतिहास लेखक वह भविष्यवक्ता है जो मुड़ मुडकर पीछे की तरफ देखता है।

एक आलोचक के अनुसार ऐतिहासिक साहित्य के निर्माण में निम्नलिखित सात मूल प्रेरणायें कार्य करती हैं —[1]

(क) वर्तमान से पराजित अथवा असन्तुष्ट होने के फलस्वरूप पलायन की भावना।

(ख) अतीत को वर्तमान से अधिक श्रेष्ठ एवं महत्वपूर्ण समझते हुए उसके पुनः संस्थापन की भावना।

1- हिन्दी उपन्यास, डा0 सुषमा धवन, पृ0 331-32

(ग) वर्तमान को शक्तिशाली बनाने केलिए अतीत से उपजीव्य खोजने की भावना
(घ) कतिपय ऐतिहासिक पात्रों या घटनाओं के प्रति न्याय की भावना।
(ङ) इतिहास रस में लिप्त रहने की सहज भावना।
(च) जातीय गौरव, राष्ट्र प्रेम, आदर्श, स्थापन तथा वीरपूजा की भावना।
(छ) जीवन की किसी नवीन व्याख्या को प्रस्तुत करने की भावना।

इन भावनाओं में से किसी एक अथवा अधिक से प्रेरित होकर उपन्यास-कारों ने अपनी कृतियों का सृजन किया है। यदि हम डॉ० वृन्दावन लाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों को दृष्टिपथ में रखकर इस बात की सत्यता जानना चाहते हैं तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वर्मा जी की उपन्यास कला राष्ट्र-प्रेम, आदर्श स्थापन, वीर पूजा जाति गत अभिमान से प्रेरित है उनकी औपन्यासक भूमिकाओं में प्रेरणाओं का उल्लेख मिल जाता है। इस परम्परा से भिन्न ऐतिहासिक उपन्यास जगत में दूसरी मूल प्रवृत्ति समाजवादी अथवा प्रगतिवादी रचनाओं की है जिनमें मार्क्सवादी विचारधारा के आधार पर अतीत का विवेचन एवं विश्लेषण हुआ है। उदाहरणार्थ — राहुल और यशपाल के ऐतिहासिक उपन्यासों में यह विशेषताएँ विद्यमान हैं। वर्मा जी के उपन्यासों को सामाजिक कोटि के उपन्यासों में भले ही रखा जाये किन्तु उनमें र राष्ट्रीयता , शूरवीरता, राजनीतिक स्वतंत्रता, आदर्शप्रियता, कर्तव्य परायणता, मानवता तथा आंचलिकता के स्वर मुखरित प्रतीत होते हैं। उनके उपन्यास व्यष्टि सत्य की अपेक्षा समष्टि सत्य को मान्यता देते हुए प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार वर्मा जी के सामाजिक उद्देश्य को ही मूलभूत प्रेरणा मानकर उनके ऐतिहासिक उपन्यासों की विशेषताओं का मूल्यांकन किया जाता है। बुन्देलखण्ड के प्रति ममत्व, हिन्दुत्व की भावना, राष्ट्रीयता का स्वर, रोमांस, का समावेश, नारी का महिमा मंडित रूप, प्रेम का उदात्त स्वरूप, वीर रस का संचार, स्रो परतंत्रता के प्रति विद्रोह, सांस्कृतिक आदर्शों के प्रति मोह, लोक गीतों और जनमान्यताओं के प्रति आत्मीयता का भाव यह सभी तत्व उनके उपन्यासों में वस्तु तत्व के चयन और पात्रों के निर्माण में निर्दिष्ट करने में योग देते हैं उनके उपन्यासों में इतिहास और कल्पना के सम्मिश्रण पाये जाते हैं।

वर्मा जी को बुन्देलखण्ड के जीवन, इतिहास, भूगोल, आदि का बहुत अधिक अनुभव है। इसीलिए उन्होने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए इसी भूमि और उसके इतिहास को चुना है। मातृभूमि और उसके जीवन तथा इतिहास के प्रति किसे प्रेम नहीं होता? वर्मा जी को भी अपनी मातृभूमि बुन्देलखण्ड के चप्पे-चप्पे से प्रेम है, उसके नदी नालो, टौरियों तथा नदी कगारों , वहाँ के पशु पक्षियों से अगाध प्रेम रहा है। अतः उन्होने उसी को अपने उपन्यासों की रंगस्थली के रूप में चुना है। यह प्रश्न किए जाने पर कि उन्हें अपने उपन्यासों को लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली , उन्होने साहित्य सन्देश के सम्पादक को लिखे पत्र में स्पष्ट लिखा था ——

" "हमारा दरिद्र खण्ड कितना विभूतिमय है। हम लोगोंकि पास पैसे नहीं हैं, परन्तु हम लोग फिर भी फागें और राछरें गाते हैं, अपनी झीलों और नदी नालों के किनारे नाचते हैं और अपनी रंगीली कल्पनाओं में मस्त हो जाते हैं।......... ये ही नदियाँ नाले या नदी नाले झीलें और बुन्देलखण्ड के पर्वत वेष्टित शस्यश्यामल खेत मेरी प्रेरणा के प्रधान कारण हैं। इसीलिए मुझको 'हिस्टोरिकल रोमांस' पसन्द है। अन्य कारण जानकर क्या करिएगा?"[1]

इतिहास तथा कल्पना के सम्मिश्रण के अनुपात में भिन्नता होने के कारण प्रत्येक उपन्यास निजता एवं विशिष्टता का आभास तो देता है, किन्तु लेखक की उपन्यास कला के क्रमिक विकास का सूचक नहीं है।इस प्रकार 'गढ़ कुण्डार' से लेकर 'भुवन विक्रम' तक केवल एक ही अन्तर का परिचय मिलता है कि प्रारम्भिक रचनाओं में कल्पना की मात्रा अधिक तथा इतिहास कम है और अन्तिम रचनाओं को इतिहास की दृष्टि से अधिक प्रामाणिक बनाने का प्रयास किया गया है। इसी प्रकार झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई - अहिल्याबाई' 'माधव जीसिन्धिया' आदि विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों में रोमांस को गौण स्थान देकर ऐतिहासिक सत्य को अपेक्षाकृत अधिक उभारा गया है। 'गढ़ कुण्डार' 'विराटा की पद्मिनी' 'कचनार' 'मृगनयनी' 'टूटे काँटे' आदि ऐतिहासिक उपन्यासों में रोमांस तत्व को यथोचित महत्व प्रदान कर उनमें आधु-

---

1- नये पत्ते, जनवरी-फरवरी, अंक 1953 ऐतिहासिक उपन्यास और मेरा दृष्टिकोण।

निक सामाजिक समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है। इन समस्याओं के चित्रण में लेखक का आदर्शवादी दृष्टिकोण आभासित होता है जिसे उन्होंने स्वीकार किया है।[1]

इस प्रकार वृन्दावन लाल वर्मा ने इतिहास प्रधान तथा जनश्रुतिप्रधान उपन्यासों में वर्तमान को शक्तिशाली बनाने के लिए अतीत का आधार बनाया है और उसके द्वारा जातीय गौरव, देश प्रेम आदर्श स्थापना तथा वीरपूजा की भावनाओं को जागृत करने का प्रयास किया है।

अब तक वर्मा जी के 12 उपन्यास प्रकाशित हो चुके है जिनमें से हम केवल बुन्देलखण्ड से संबंधित उपन्यासों के ऐतिहासिक कथानकों के साम्य और वैषम्य के बारे में विश्लेषण करेंगे।

(1) गढ़ कुण्डार :—

'गढ़ कुण्डार' वर्मा जी का सर्वप्रथम उपन्यास है। इसका विषय बुन्देल खण्ड की दो जातियों — बुन्देलोंऔर खंगारों का पारस्परिक युद्ध है जो उनके बीच मानापमान की भावना को लेकर हुआ और जिसमें बुन्देलों ने खंगारों का अस्तित्व सदा के लिए समाप्त कर दिया। इस उपन्यास में वृन्दावन लाल वर्मा ने बुन्देलखण्ड में होने वाली चौदहवीं शती की राजनीतिक उथल पुथल की पृष्ठभूमि में खंगारों के पतन और बुन्देलों के अभ्युदय का चित्रण किया है। उनकी दृष्टि में खंगारों का पतन दिखाना इसलिए आवश्यक था कि वे विलासी और क्रूर थे तथा बुन्देलों का अभ्युदय दिखाना इसलिए सराहनीय है कि वे उन्होंने बुन्देलखण्ड की जनता में प्राचीन संस्कृति को सुरक्षित रखने का भरसक प्रयत्न किया है। 'गढ़ कुण्डार' की प्रेरणा के संबंध में उन्होंने इस प्रकार लिखा है —

"बुन्देलखण्ड के इतिहास और भूगोल से परिचित था ही बहुत सी परम्परायें हाथ लग गईं थीं। निश्चय किया कि वर्तमान की समस्याओं को लेकर प्राचीन में रम जाओ और उपन्यास के रूप में जनता के सामने अपनी बातों को रख दो।"[2]

1- नये पत्ते, जनवरी, फरवरी, अंक 1953 ऐतिहासिक उपन्यास और मेरा दृष्टिकोण

2- अपनी कहानी, वृन्दावन लाल वर्मा। १०८

उपन्यास में जातिवाद के प्रश्न के माध्यम से लेखक आधुनिक युग की परिस्थिति का विश्लेषण कर आज के मानव को सन्देश देने में सफल हुए हैं। उनकी धारणा है कि जाति के अभिमान की मिथ्या भावना राजपूतों तथा देश के नाश का मूल कारण है। इसी भावना को दूर करने के उद्देश्य से ही उपन्यास की रचना की गयी है। इसमें तीन प्रेमी युग्म हैं। तारा, दिवाकर, अग्निदत्त-मानवती तथा हेमवती और उसके दो प्रेमी नागदेव और पुण्यपाल। तारा और दिवाकर का जाति मर्यादा के कारण परिणय सम्पन्न नहीं हो पाता, परन्तु उनके प्रेम की इस असफलता में ही उसकी सफलता निहित है। अग्निदत्त और मानवती के प्रेम भी जाति-भेद बाधा बनकर आता है। दोनों का प्रेम स्वाभाविक रूप से विकसित होता है किन्तु मानवती में साहस के अभाव के कारण उनका प्रेम विफल हो जाता है। तीसरी प्रेम कथा में बुन्देलकन्या हेमवती जाति अभिमान के वशीभूत होकर अपने खंगार प्रेमी नागदेव के प्रणय का तिरस्कार करती है जिससे खंगारों तथा बुन्देलों में भीषण युद्ध और उसके परिणाम स्वरूप भयंकर नर संहार होता है। जातिवाद की भ्रान्त भावना कितनी विनाशकारी सिद्ध हो सकती है और राष्ट्रीय एकता को स्थापित करने में कितनी बाधा डाल सकती है, इसकी चेतावनी लेखक ने उपन्यास द्वारा दी है और इसमें इतिहास से गृहीत जीवन का सन्देश निहित है जो आधुनिक युग के लिए उपादेय है।

प्रस्तुत उपन्यास पूर्णरूपेण ऐतिहासिक है। रोमांस की धारा ने जो तीन प्रेमी-युग्मों के कारण प्रवाहित हुई है उपन्यास को और भी आकर्षक बना दिया है। लेखक ने घटनाओं की योजना और दृश्यों का सवधान बड़ी कुशलता से किया है। उपन्यास में सामन्तीयुग की प्रवृत्तियाँ पूरी तरह उभर आयी हैं। स्वयं लेखक ने 'गढ़ कुण्डार' उपन्यास के परिचय में लिखा है। उपन्यास में जितने वर्णित चरित्र इतिहास प्रसिद्ध हैं, उनका नाम ऊपर आ गया है। मूल घटना भी एक ऐतिहासिक सत्य है, परन्तु खंगारों के विनाश के कुछ कारणों में थोड़ा सा मतभेद है। बुन्देलों का कहना है कि कुण्डार का खंगार राजा जबरदस्ती बुन्देला कुमारी का अपहरण युवराज नागदेव के लिए करना चाहते थे और अपने दिवस में खंगार शराबी, विलासी, शिथिल, क्रूर और राज्य के अयोग्य हो गये थे। शराबी होने के कारण उनका अन्त हुआ। दूसरा इसका कारण

यह भी है कि वे मुसलमान राजाओं के मेली थे इसलिए उनका पूर्ण संहार जरूरी हो गया था। लेकिन खंगार लोग दूसरी बात कहते हैं कि वेअपने को क्षत्रिय मानते हैं। बुन्देलों ने कपट करके शराब पिलाकर खंगारों को जन-बच्चों सहित मार गिराया। वे लोग यह भी कहते हैं कि बुन्देले मुसलमानों को जुझौति में ले आये थे। खंगारों का पिछला कथन इतिहास के विलकुल विरुद्ध है और युक्ति सेअसंभव जान पड़ता है, इसलिए कहानी-लेखकों तक को ग्राह्य नहीं हो सकता।

अतः इससे यह स्पष्ट है कि जिस तरह गढ़ कुण्डार पर्वतों और वनों से परिवेष्टित, वाह्य दृष्टि से छिपा हुआ पड़ा है उसी तरह उसका तत्कालीन इतिहास भी दबा हुआ सा है। कुल मिलाकर यह उपन्यास एक सफलऐतिहासिक रोमान्स है। फिर भी वर्मा जी के उपन्यासों में तथ्य और कल्पना, इतिहास और रोमान्स का अद्भुत समन्वय हुआ है । अधिकांश कथायें इतिहास प्रसिद्ध है और प्रासंगिक कथाये युगानुकूल कल्पना से उद्भावित हैं। 'गढ़ कुण्डार' में नागदेव हेमवती प्रसंग इतिहास सम्मत है किन्तु मानवती-अग्निदत्त और दिवाकर-तारा की प्रासंगिक कथायें काल्पनिक हैं।[1]

इतिहास और काल्पनिक के सन्तुलित कलात्मक समन्वय से उस युग का संश्लिष्ट चित्र सामने आ जाता है। प्रभाकर माचवे के शब्दों में पूरा उपन्यास पढ़ जाने के बाद उस काल के वातावरण का सजीव पुर्ननिर्माण सफल जान पड़ता है। जैसे 'गढ़-कुण्डार' या लक्ष्मीबाई में।"[2]

(2) विराटा की पद्मिनी :—

यह शुद्ध ऐतिहासिक न होकर शुद्ध रोमान्स हैं क्योंकि घटनाएँ या तो काल्पनिक हैं या जनश्रुतियों पर आधारित है। पृष्ठभूमि मात्र ऐतिहासिक है। लेखक ने एक विशेष युग की भूमिका में कुछ काल्पनिक रोमान्स से पूर्ण घटनाओं का वर्णन करते हुए तत्कालीन युग की प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराया है। वह प्रेम की भावुकता और उसके आदर्शवादी स्वरूप का चित्रण कर पाठक को एक रम्य कल्पना लोक में ले गया है।

1- वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों का सांस्कृतिक अध्ययन-कृष्णा अवस्थी, पृ0 374

2- डा0 प्रभाकर माचवे- आलोचना इतिहास, अंक- पृ0 128

उपन्यास का कथानक इतिहास के उस युग से सम्बद्ध है जब फरूख जैसे बादशाह के निर्बल हाथों में शासन की बागडोर थी और पारस्परिक कुचक्रों , षड्यन्त्रों और सामन्तवर्ग के व्यक्तिगत स्वार्थों की वेदी पर साधारण जनता की बलि दी जा रही थी। इस उपन्यास का ऐतिहासिक आधार बहुत ही क्षीण है और इसमें एक किंवदन्ती को उपन्यास का रूप दिया गया है। लेखक का उद्देश्य एक वीरांगना के चरित्र को कथा का केन्द्र बनाकर युद्धा की व्यर्थता, सामन्ती समाज व्यवस्था की निरर्थकता तथा प्रेम के भव्य स्वरूप का दिग्दर्शन कराना है। उपन्यास की नायिका कुमुद जिसे उसके अलौकिक रूप के कारण दुर्गा का अवतार माना जाता है और जो विराटा की पद्मिनी के नाम से विख्यात है, वीरता, उत्सर्ग तथा प्रेम की प्रतिमूर्ति है। उसका वाह्य जीवन आदर्शमय तथा गौरवयुक्त है, परन्तु उसके आन्तरिक जीवन का विषाद और भी गहन हो जाता है जब प्रतिक्षण उसे जीवन की उच्चता के बोझ को को वहन करना पड़ता है। इस करूणा एवं विषाद कीअनुभूति में ही उसके जीवन की सार्थकता का दिग्दर्शन कराया गया है। उसके मानस में कुंजर सिंह के प्रति अगाध प्रीति अभि - व्यक्ति पाने में प्रायः अक्षम रहती है। अपने मरण के अवसर पर ही वह कुंजर सिंह का आलिंगन कर भाग्य की निर्ममता को चुनौती देती हुई जल समाधि लेकर अपने गौरव की रक्षा करती है। लेखक ने कथा की योजना इतनी कुशलता के साथ की है कि उपन्यास की घटनाएँ जो किंवदन्तियों और जनश्रुतियों पर आधारित है, कल्पित मालुम ही नहीं पड़तीं, वे वास्तविक प्रतीत होती हैं ।

"विराटा की पद्मिनी' उपन्यास में केवल वातावरण ऐतिहासिक है, शेष सब कुछ जनश्रुतियों और कल्पना पर आधारित है। इसकी कोई भीघटना इतिहास द्वारा मान्य नही हैं।"[1]

कुमुद के प्रति कुंजर सिंह का प्रेम श्रद्धाभाव से अनुप्राणित है राजा नयक सिंह की अपेक्षा, जो भोग विलासमय जीवन व्यतीत करने के परिणाम स्वरूप निस्तेज हो चुका है, कुंजर सिंह का चरित्र आत्मसम्मान, त्याग, बलिदान की भावनाओं को प्रबुद्ध करने की शक्ति रखता है। वह जन मन के अन्धविश्वास तथा समाज के जातिभेद

१- वृन्दावन लाल वर्मा, उपन्यास और कला, श्री शिव कुमार मिश्र।

केकारण निराश प्रेमी हैं, परन्तु उसकी निराशा में जीवन के उदात्त मान्यताओं को साकार रूपेदना ही उपन्यासकार को अभीष्ट है। इस कृति में से रोमान्स का तत्व अधिक मुखरित हुआ है। इसका मुख्य आकर्षण केन्द्र कुमुद तथा कुंजर का आदर्श प्रेम और इस प्रेम का करूण अन्त है। उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व मानवीय दुर्बलताओं का परिहार तथा मनोविकारों का परिष्कार करने में योग दान देते हैं।[1]

अतः ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखी गयी यह कृति रोमान्स के सभी तत्वों को लिए एक सफल रचना कही जा सकती है। साथ ही हिन्दी उपन्यास साहित्य में इसका ऐतिहासिक महत्व भी है।

(3) मुसाहिब जू (सन् 1946 ई0)

वर्मा जी का यह तीसरा उपन्यास मुसाहिब जू' भी बुन्देलखण्ड से संबंधित है परन्तु इसमें वर्णित अधिकांश पात्र, ~~प्रमुख~~ प्रमुख घटनाएँ लेखक की कल्पना अथवा जनश्रुतियों पर आधारित हैं जिन्हें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर सजाया गया है। ऐतिहासिक वातावरण के निर्माण के लिए जो अठारहवीं शती के अन्तिम चरण से सम्बद्ध है बुन्देलखण्ड की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के सप्राण चित्र अंकित किए गए हैं। इस रचना में भारतीय इतिहास के उस युग का चित्र खींचा गया है जब सामन्ती व्यवस्था दम तोड़ रही थी। अँग्रेजों का साम्राज्यवादी ज्वाल सबको अपनी सीमा में लेता जा रहा था। और छोटे छोटे राजा तथा नवाब अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिए यत्नशील थे। चारों ओर एक प्रकार अराजकता छायी हुई थी तथा ऐसा लगता था कि राजपूतों मराठों और मुसलमानों के दिन लद गये हैं।

प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने यह बताने का प्रयास किया है कि हीन दशा में भी कुछ सामन्तों में मनुष्यता शेष थी। वे स्वयं पिस रहे थे, परन्तु अपनी प्रजा और विशेषतः सेवक वर्ग के लिए सब कुछ करने को तत्पर रहते थे।

'दतिया' राज्य की एक जागीर थी केरूआ। वहाँ एक दलीप सिंह नामक मुसाहिब रहते थे। अन्य अनेक सामन्तों की तरह उनका जीवन भी दैन्य और दरिद्रता में बीत रहा था। उनके पास एक शिकारी दस्ता था जिसमें अधिकतर मेहतर थे जो उन्हें

1- ऐतिहासिक उपन्यास, सुषमा धवन, पृ0 339

बहुत प्रिय थे तथा जो मुसाहिब जू के लिए अपने प्राणों को न्योछावर करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। इन्हीं सैनिकों के भरण पोषण के लिए उन्हें अपनी पत्नी के आभूषण तक गिरवी रखने पड़े।

एक बार दतिया के राजा साहब के यहाँ उत्सव था। मुसाहिब जू की पत्नी को भी निमन्त्रण मिला, पर आभूषणों के अभाव में उन्होंने वहाँ न जाना ही उचित समझा। मेहबारों को उनके क्लेश का पता चल गया और उन्होंने डाका डालकर आभूषण प्राप्त किए और वे मुसाहिब जू की पत्नी को दे दिए। जिन लोगों के आभूषण गये थे, उनमें मुसाहिब जू के साहूकार की पत्नी भी थी। उसने अपने आभूषण मु मुसाहिब जू की पत्नी के पास देखे तो सारा रहस्य खोल दिया कि मुसाहिब जू के मेहबारों ने ही डाका डाला है। स्वयं मुसाहिब जू को इस रहस्य का अब तक पता न था। साहूकार ने राजा से शिकायत की, मुसाहिब जू को बन्दी बनाने का आदेश दिया गया। मुसाहिबजू को जब सारी बातें ज्ञात हुईं तो उन्होंने निश्चय किया कि अपने आश्रितों पर आँच न आने देंगे और मुसाहिबी छोड़कर अन्यत्र चले जायेंगे। राजा को जब उनके इस निर्णय का पता लगा, तो उन्हें बुरा लगा क्योंकि वह ऐसे स्वामिभक्त सेवक को खोना नहीं चाहते थे। उन्होंने मुसाहिब जू के आश्रितों को क्षमा कर दिया। साहूकार ने भी मुसाहिब जू से क्षमा माँगी। परन्तु वे अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। पर जब उनसे कहा गया कि राज्य पर वाह्य आक्रमण का भय है, तो वह पुनः केरूआ लौट आए।

इस उपन्यास की ऐतिहासिकता के विषम में स्वयं वर्माजी ने 'मुसाहिब जू' उपन्यास के परिचय में लिखा है —

छोटू नाई दतिया का रहने वाला था। जब मुझे मिला लगभग 80 वर्ष का था। उसने जीवन भर सिपाहीगीरी की थी। दतिया के बंकाजू कोतवाल के सिपाहियों में नौकर था। दतिया अनेक पुरातन प्रथाओं के विध्वंश के साथ इसकी सिपाहगीरी भी खतम हो गयी। इस उपन्यास की घटना उसी की बतलाई हुई है। इस उपन्यास के दो नाम मुसाहिब दलीप सिंह राम सिंह धंधेरा सच्चे हैं शेष सभी नाम कल्पित हैं। उपन्यास की सब प्रमुख घटनाएँ वास्तविक हैं। कोतवाल ने जिस प्रकारमुसाहिब जू से बन्दूक ले ली थी वह घटना भी सही है।

अतः यह स्पष्ट होता है कि 'मुसाहिब जू' की घटनाएँ लोगों द्वारा बतलाई हुई हैं जो वास्तव में ऐतिहासिक न होती हुई कल्पित प्रतीत होती है। यह उपन्यास ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में आधारित होता हुआ जनश्रुतियों एवं कल्पनाओं पर आधारित है।

(4) झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई':—

यह शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें पात्र घटनाएँ, स्थान आदि सब कुछ इतिहास सम्मत है और जिसमें वर्माजी का उपन्यासकार से अधिक इतिहासकार का व्यक्तित्व प्रबल हो उठा है। कथानक को क्रमबद्ध रखने के लिए कहीं-कहीं कल्पना का भी प्रयोग किया गया है किन्तु ऐसा करने में ऐतिहासिकता कहीं डगमगाई नही है। इस उपन्यास में रानी लक्ष्मीबाई का जीवन चरित्र ही अंकित नही हुआ, सन् सत्तावन की जनक्रान्ति का प्रच चित्रण भी सविस्तार किया गया है। यह लेखक का प्रथम प्रयास है जिसमें बुन्देलखण्ड की परिधि का परित्याग कर उपन्यास के क्षेत्र में व्यापक रूप दिया गयाहै।

इस रचना के संबंध में लेखक का यह मत है कि उन्होने झाँसी की रानी के संबंध में जितनी भी इतिहासकारों की भ्रान्तियाँ लिपिबद्ध हैं, उनका निराकरण ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर किया है। इसमें वर्णित प्रायः समस्त घटनाएँ और लगभग सभी पात्र इतिहास सम्मत हैं। केवल युद्धों के वर्णनों में ही इतिहास का कंकाल में रक्त और माँस का संचार करने के लिए कल्पना का आश्रय लिया गया है। इसलिए झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों की श्रेणी में रखा गया है, और रखा जाता है। वृन्दावन लाल वर्मा झाँसी की रानी के त्याग एवं साहस की अनेक कथाओं को बाल्यावस्था में अपनी दादी तथा परदादी से सुन चुके थे जिसके फलस्वरूप रानी के लिए उनके अन्तः पटल पर श्रद्धा एवं सम्मान के संस्कार उत्कीर्ण हो चुके थे। इस उपन्यास के सृजन में लेखक के एक व्यक्तिगत उद्देश्य का उल्लेख किया गया है। रानी लक्ष्मीबाई के साथ वृन्दावन लाल का पैत्रिक संबंध है। उनके पड़दादा दीवान आनन्द राय रानी का पक्ष लेते हुए युद्ध में कालगति को प्राप्त हुए थे।[1] इस रचना द्वारा

1- झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, परिचय, पृ0 ।

लेखक यह सिद्ध करना चाहते हैं कि रानी ने किसी स्वार्थ के लिए नहीं, अपितु स्वराज्य के लिए उन्होने उस पत्र को साक्षी माना है जो रानी ने बानपुर के राजा मर्दन सिंह को युद्ध में सहायता के लिए लिखा था और जिसमें 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग हुआ है।[1]

उपन्यास को ऐतिहासिक आधार देने के लिए लेखक ने अनवरत परिश्रम तथा निष्पक्ष दृष्टि का प्रमाण देने का प्रयत्न किया है।

उपन्यास के पूर्वार्ध में रानी के शैशव और विवाह तक के ऐतिहासिक विवरणों का नीरस चित्रण है। परन्तु उत्तरार्ध में उसके व्यक्तित्व में निखार आने लगता है। उसके चरित्र में भारतीय वीरांगनाओं के आदर्शजीवन का ज्वलन्त उदाहरण साकार हुआ है। मनूबाई के रूप में लक्ष्मी बाई के व्यक्तित्व की आभा और शौर्य वि-लक्षण लक्षणों से समन्वित है। उसने निजी मान, गौरव तथा प्रभुत्व के लिए संघर्ष नहीं किया, उसका लक्ष्य स्वतन्त्रता प्राप्ति था। अपनी सखियों से लक्ष्मी बाई कहती भी है

"यदि हिन्दुस्तान में कोई भी इस पवित्र काम को अपने हाथ में न ले, तो भी मैंने अपने कृष्ण के सामने अपनी आत्मा के भीतर उसका बीड़ा उठाया है ... जिस स्वराज्य धारा को आगे बढ़ा जाऊँगी वह अक्षय रहेगी।"[2]

राजनीतिक स्वाधीनता को उपन्यास की प्रमुख समस्या का रूप देकर, रानी के चरित्र को उस समस्या का माध्यम बनाकर, तत्कालीन सामाजिक एवं राज - नीतिक वातावरण को उसकी पृष्ठभूमि में विन्यस्त कर ऐतिहासिक पात्रों तथा घट - नाओं के चित्रण द्वारा उस मूल समस्या की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया गया है। सन् सत्तावन की जनक्रान्ति को राजनीतिक स्वातन्त्र्य के लिए प्रथम प्रयास का रूप दिया गया है। लेखक ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि जनता का यह विद्रोह अंग्रेजों के प्रति कुछ व्यक्तियों के क्षोभ का परिणाम नहीं था। इसके अति-रिक्त यह सिद्ध करने का भी प्रयास किया गया है कि अंग्रेज समूचे देश पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में स्वप्न ले रहे थे। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होने

1- झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई, परिचय, पृ0 3

2- झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृ0 363

उचित अनुचित सभी साधनों का उपयोग करने से कभी संकोच नहीं किया। भारतीय असफलता के कारणों में पारस्परिक फूट, विलासप्रियता, धार्मिक संकीर्णता आदि दोषों का उल्लेख किया गया है। उपन्यास के अन्त में गीता के श्लोकों का पाठ करते हुए रानी का देह त्याग वीर तथा करूण रस का संचार करता है। उसकी जलती हुई चिता और उनकी समाधि पर पहरा देता हुआ वीर पठान गुल मुहम्मद हिन्दू मुस्लिम ऐक्य की भावना को उत्पन्न करता है। अन्य उपन्यासों की नायिकाओं की भाँति यह उपन्यास रानी के जीवन में प्रेरक तत्व प्रेम नहीं, देशप्रेम है। इसी कारण रघुनाथ सिंह-सुन्दर, तात्या, जूहीबाई,, खुदाबख्श-मोतीबाई, गौसा खाँ-सुन्दर के प्रेम भाव रानी लक्ष्मी के व्यापक उद्देश्य की पूर्ति के लिए बलिदान हो जाते हैं।

इस उपन्यास में नाना साहब, रा राव साहब, तात्या टोपे, मोतीबाई, जूही, दुर्गाबाई, मुगलखाँ, झलवारी, नारायण शास्त्री, छोटी, रघुनाथ सिंह, सुन्दर गंगाधर राव, गार्डन, ऐलिस, मर्टिन, रोज आदि सभी ऐतिहासिक पात्र हैं। वर्मा जी ने स्वयं 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' उपन्यास के परिचय में लिखा है ——

"मोती बाई ऐतिहासिक है । मुझको उसका पता अकस्मात् ही चला। ओर्छे दरवाजे पर एक मस्जिद है। जमीन का झगड़ा कचहरी मे चला। मैं मस्जिद वालों की तरफ से वकील था। जमीन का खेवट झाँसी में न था, ग्वालियर में था। वहाँ नगल मँगवाई। उसमें जमीन की पूर्व स्वामिनी निकली मोतीबाई नाटक शला वाली। गंगाधर राव को नाटक खेलने और खिलवाने का बहुत शौक था। स्त्रियों का अभिनय स्त्रियाँ ही करती थी। इसमें मोतीबाई का पता लगाते लगाते जूही, दुर्गा और मुगल खाँ भी निगाह में आये। इन सबकी घटनाओं का सार सच्चा है।"[1]

वर्मा जी ने उपन्यास में वर्णित प्रणय कथाओं के विषय में कहा है ——
"लक्ष्मीबाई में जूही तात्या की प्रेम कहानी वास्तविक घटना है। मुन्दर रघुनाथ सिंह और मोतीबाई – खुदाबख्श की प्रेम वाली बात मेरी कल्पना है। जूही तात्या की प्रेम

1- झाँसी की रानी वृन्दावन लाल वर्मा, परिचय पृ0

2- झाँसी की रानी, परिचय, पृ0 3

कहानी, रही उतनी ही जितनी मैंने बतलाई है। शारीरिक सम्पर्क उन दोनों का कभी नहीं हुआ। झाँसी के किले में मोती बाई और खुदाबख्श की कब्रें मिली हैं। ऐतिहासिक खोजों के अतिरिक्त वर्मा जी ने इस उपन्यास में कुछ किंवदन्तियों और लोक कथाओं का भी आधार लिया है जैसे — हरदी कूँ कूँ का उत्सव, कुँवर मण्डली का निर्माण नारी सेना, जनेऊ आन्दोलन, नाटक शाला की प्रसिद्धि, नारायण छोटी के प्रेम चर्चा, डाकू सागर सिंह की घटना, कर्नल मुन्दरबाई का पराक्रम। इन परम्पराओं और परिस्थितियों में से कुछ का उल्लेख लेखक ने परिशिष्ट में कर दिया है।[1] मग्गी दाऊ का रायसा झाँसी में अब भी प्रसिद्ध है। इसमें कहा गया है —

झाँसी की जो लटी तकै
तिहिं खायें कालका माई।

झलकारी के विषय में इतिहास अधिक नहीं कहता किन्तु झाँसी के कोरियों में झलकारी की कहानी बड़ी प्रसिद्ध है।

अतः अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि झाँसी की रानी' लक्ष्मीबाई ' उपन्यास इतिहासप्रधान उपन्यास है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि उपन्यास के ढंग पर लिखा हुआ झाँसी की रानी जीवन का सच्चा इतिहास है।

(5) कचनार :—

इस उपन्यास को वर्मा जी ने इतिहास और परम्परा पर आधारित कहा है परन्तु लेखक स्वयं ही यह भी कहा है कि मैंने कचनार के लिखने में अपने अभ्यास के अनुसार इतिहास और परम्परा दोनों का उपयोग किया है। परदेशियों के तोड़ मरोड़ कर लिखे हुए इतिहास, पटके खाये हुए उस चमकते हुए टीन के कनस्टर के समान है जिसमें सुन्दर से सुन्दर चेहरा अपने को कुरूप और विकृत पाता है। परन्तु परम्परा अतिशयता की गोद में खेलती हुई भी सत्य की ओर संकेत करती है। इसलिए मुझको परम्परा इतिहास से भी अधिक आकर्षक जान पड़ती है।"[2]

1- झाँसी की रानी, परिशिष्ट

2- कचनार, परिचय, पृ0 6

लेखक का इस उपन्यास में इतिहास से अधिक परम्पराओं का आग्रह अधिक रहा। वस्तुतः इसकी घटनाओं के लिए लेखक को अपने एक मित्र डा0 बजरू के वार्तालाप एवं भुवाल सन्यासी केस' से प्रेरणा मिली और उससे भुवाल सन्यासी केस की घटनाओं को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत कर दिया है।

इस उपन्यास का केन्द्र बिन्दु कचनार का चरित्र है। कचनार आदर्श पात्र है जिस पर उपन्यास का नायक दलीप सिंह, मान सिंह और गोसाईं अचलपुरी तीनों मुग्ध हो जाते हैं। इस विषम परिस्थिति में भी वह अपने सतीत्व की रक्षा करती है। वह गोंड कन्या माता पिता से वंचित होकर कलावती के विवाह के अवसर पर दहेज में दी जाती है। दासी होते हुए भी अपने अनुपम सौन्दर्य तथा योग्यता के कारण उसमें महत्वाकांक्षा का बीज अंकुरित होता है जो पनप कर दलीप सिंह, मानसिंह तथा महन्त अचलपुरी को मुग्ध करने में सफल होता है। उसका असाधारण संयम अपार रूप तथा ओजस्वी व्यक्तित्व नारी के गौरव को प्रतिष्ठित करने के लिए निर्मित किया गया है। कलावती और ललिता विलासिनी नारियाँ है। उपन्यास के मध्ययुगीन सामन्ती जीवन के चित्रांकन द्वारा नारी की दीन व दयनीय अवस्था, पुरुष की विलासिता तथा कामुकता, महन्तों की साधुता एवं संसारिकता, राजाओं की अहमन्यता तथा असहिष्णुता का परिचय दिया गया है।[1] कलावती की भावरें दलीप सिंह के साथ न पड़ी उनकी तलवार के साथ पड़ी। नारी को वस्तु मात्र समझकर उसके व्यक्तित्व का बलिदान किया गया। महन्त अचलपुरी तान्त्रिक सिद्धियों में संलग्न होकर आध्यात्म बघारता है और साथ ही धन लोलुपता के वशीभूत होकर किसी भी राजा के विरूद्ध सैनिक सहायता देने को सन्नद्ध रहता है। अवसरानुकूल नारी को अपने पाश में बाँधने के लिए वह प्रयत्नशील तथाउद्यत रहता है। परन्तु कचनार का प्रभावशाली व्यक्तित्व महन्त को सुधारने तथा दलीप सिंह के चरित्र को परिवर्तित करने में सफल दिखाया गया है। जिसमें लेखक की आदर्शवादी जीवन दृष्टि का प्रतिफल है। कचनार का चरित्र भारतीय नारी के गौरव के अनुरूप है। अचलपुरी की उस दुर्बलता का परिमार्जन किया

1- हिन्दी उपन्यास, सुषमा धवन, पृ0 342

है जिसे उसने गोसाईं होते हुए कचनार के समक्ष एकान्त में प्रकट करने का क्षणिक साहस किया था। उपन्यास में वर्णित सब घटनायें सच्ची हैं। केवल समय और स्थान का फेर है। उदाहरण के लिए डरू की घटना जो उसके भाई के वध से संबंध रखती है धमोनी की नहीं है बल्कि ओरछा राज्य स्थित उबोरा ग्राम से संबंध रखती है। डरू का नाम भी उबोरा से ही लिया गया है। महन्त अचलपुरी और उनका अखाड़ा एक वास्तविकता है। उस युग में गुसईं सैनिकों का समूह पराक्रम - विकास और धनोपार्जन की लालसा से देश के मध्य भाग में घूमा करते थे। ऐसे एक समूह ने तो एक राज्य ही स्थापित कर लिया था जो अब तक चला आ रहा है। इस उपन्यास में 'झाँसी की रानी' और 'गढ़ कुण्डार' की अपेक्षा इसमें कल्पना का आश्रय अधिक लिया गया है।

इस उपन्यास के विषय में श्री शिवकुमार मिश्र एम०ए० ने अपनी पुस्तक 'वृन्दावन लाल वर्मा अपनी पुस्तक उपन्यास और कला में लिखा है ——

"कचनार उपन्यास को वर्मा जी ने इतिहास और परम्परा पर आधारित कहा है पर लेखक के ही अनुसार उसमें परम्पराओं का ही अधिक आग्रह है। पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है घटनाएँ भी सत्य हैं, केवल समय और स्थान का फेर है। विभिन्न समयों और स्थानों पर घटने वाले घटनाओं को एक विशेष समय और स्थान में गूँथ दिया गया है।"[1]

इस उपन्यास की घटनाएँ यद्‌यपि सत्य हों तो भी इनका कोई ऐतिहासिक महत्व नहीं है। शिवकुमार मिश्र के अनुसार 'घटनाएँ भले ही सत्य हों।[2] भले ही घटनाएँ सत्य हों पर कथा की कल्पना भी की जा सकती है। इस उपन्यास में कल्पना का काफी सहारा लिया गया है। इसमें किसी भी इतिहास प्रसिद्‌ध घटना या व्यक्ति का वर्णन नहीं है। इस उपन्यास को न तो हम ऐतिहासिक सत्य घटनाओं और इतिहास प्रसिद्‌ध पात्र के जीवन को लेकर चलने वाले 'झाँसी की रानी' जैसे उपन्यासों की कोटि में रख सकते हैं और न 'विराटा की पद्‌मनी' जैसे उन उप-

---

1- वृन्दावन लाल वर्मा : उपन्यास और कला- शिवकुमार मिश्र, पृ० 53

2- वही, पृ० 53

न्यासों की कोटि में रख सकते हैं जिनमें काल्पनिक कथा के साथ साथ ऐतिहासिक सत्य घटनाओं और कुछ कुछ इतिहास प्रसिद्ध पात्रों का भी वर्णन हुआ है। यह उपन्यास ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित शुद्ध काल्पनिक है।

(6) मृगनयनी :—

'मृगनयनी' वर्मा जी की महत्वपूर्ण कृति है। जिसका सम्पूर्ण कथानक ऐतिहासिक तथ्यों और प्रसिद्ध किंवदन्तियों पर आधारित है। इतिहास और कल्पना में उचित समन्वय स्थापित करने में वर्मा जी पूर्णतः सफल रहे हैं। 6 'मृगनयनी' पूर्णतः ऐतिहासिक उपन्यास है। 'मृगनयनी' की कथा संयोजना में वर्मा जी ने इतिहास किंवदन्तियों और परम्पराओं का आश्रय लिया है। मुख्य कथा पूर्णतः ऐतिहासिक है। हाँ प्रासंगिक कथाएँ अवश्य कल्पना और जनश्रुतियों के आधार पर वर्णित है। मृगनयनी, मानसिंह, सिकन्दर, बघर्रा, गियास नसीरुद्दीन, राजसिंह, विजय जंगम बैजू, बोधन आदि ऐतिहासिक है तो अटल और लाखी की सृष्टि कल्पना पर आधारित है। किन्तु कल्पनाएँ पूर्ण रूपेण इतिहास की संगति में है। नटों के विषय में जो किंवदन्ति मिली, ~~आपका~~ उसका उपयोग करके पोटा और पिल्ली जैसे जीवन्त पात्रों की सृष्टि की है।

डा० गोपीनाथ तिवारी ने 'मृगनयनी' को सन्तुलित उपन्यास माना है जिसमें इतिहास और कल्पना का सन्तुलित मिश्रण किया गया हो।" जहाँ ऐतिहासिक तथ्य मौन थे वहाँ वर्मा जी ने किंवदन्तियों तो एक प्रकार से इतिहास का अंग होती हैं।

मानसिंह और मृगनयनी का प्रथम परिचय कल्पना पर आधारित है। इतिहास में यह तो वर्णित है कि मृगनयनी गूजर कन्या थी और मानसिंह के साथ उसका विवाह हुआ था। मानसिंह के चरित्र का संरक्षण अवश्यम्भावी थी। अतएव वर्मा जी ने बोधन पुजारी से उसे दाईं गाँव बलवाया और मृगनयनी की वीरता पर मुग्ध होते दिखाया है। इस प्रकार उन्होने ऐतिहासिक रोमान्स की सृष्टि की है।[1]

1- मृगनयनी, जगदीश त्रिपाठी, पृ0 137

मानसिंह और मृगनयनी से सम्बद्ध कथानक के लिए उसने फरिस्ता तथा अँग्रेज इतिहास लेखकों द्वारा लिखित पुस्तकों को आधार बनाया है। वर्मा जी ने मानसिंह को वीर और योग्य शासक के रूप में चित्रित किया है जैसा कि परिस्ता ने 'फरिस्ता के इतिहास लेखक ने मानसिंह को वीर और योग्य शासक बतलाया है।[1]

मानसिंह का काल शासन सुधार तथा कलाओं के उत्कर्ष के लिए विख्यात है और इसका प्रभाव ग्वालियर के किले और महल ही नहीं देते, अँग्रेजी इतिहासकार भी उसका समर्थन करते हैं अँग्रेज इतिहास लेखकों ने मानसिंह के राज्यकाल को तोमर शासन का स्वर्णयुग कहा है।[2] 1504 ई0 में आगरा का बसाया जाना ग्वालियर पर घेरा, नरवर पर चढ़ाई, राजसिंह कछवाहा द्वारा सिकन्दर का साथ देना, ग्यारह मास तक नरवर वालों का सिकन्दर को किले के भीतर से रोके रखना और अन्त में आत्म समर्पण तथा नरवर को जीवने पर सिकन्दर द्वारा मन्दिरों और मूर्तियों को खण्ड खण्ड करना आदि सभी घटनाएँ ऐतिहासिक हैं।[3]

इस उपन्यास में वर्मा जी ने जन श्रुतियों और किंवदन्तियों का भी सहारा लिया है। लाखी और अटल की कथा तथा नटों की कथा का आधार किंवदन्ति ही है, यद्यपि वर्मा जी ने उसका उपयोग भिन्न प्रकार से किया है, किवदन्ति है कि किसी ने एक नटिनी को नरवर के किले से बाहर चिट्ठी ले जाने के लिए कहा और वचन दिया कि यदि चिट्ठी रस्से पर टँगे टँगे जाकर बाहर पहुँचा दी तो नरवर का आधा राज्य दे दिया जायेगा। नटिनी रस्से से बाहर हो गयी। जब उसी के सहारे वापिस आ रही थी तब वचन देने वाले ने रस्से को काट दिया और नटिनी नीचे खड्ड में गिरकर चकनाचूर होगयी। मैंने इस किंवदन्ती को दूसरे प्रकार से उपयोग किया है।[4]

लेखक ने स्वयं बताया है कि उपन्यास में आए हुए सभी चरित्र थोडों को छोड़कर ऐतिहासिक हैं। विजय जंगम के द्वारा लेखक ने लिंगायत सम्प्रदाय और उसके

1- मृगनयनी, पृ0। परिचय

2- वही, पृ0।

3- हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यास और मृगनयनी- डा0शान्ति स्वरूप गुप्त पृ0 104

4- मृगनयनी, परिचय, पृ0 5

सिद्धान्तों — कायिक श्रम का महत्व, वर्ण भेद का तिरस्कार, अहिंसा और सदाचार मादक द्रव्यों का निषेध आदि का जो विवरण प्रस्तुत किया है वह भी इतिहास सम्मत है। बोधन पण्डित को तो लेखक ने ऐतिहासिक व्यक्ति माना ही है। उसकी धर्मान्धता कट्टरता और वर्णाश्रम धर्म के प्रति अनन्य आस्था, उसके मारने वालों की बर्बरता तथा सिकन्दर के भाई जलालुद्दीन के साथियों को मानसिंह द्वारा शरण और रक्षा के प्रसंग सभी ऐतिहासिक हैं।

अतः डा0 शान्ति स्वरूप के शब्दों में वर्मा जी ने इस उपन्यास के लिए इतिहास, पुरातत्व, जनश्रुतियों, किंवदन्तियों आदि का आश्रय लिया है और अपनी उर्वर कल्पना से उन्हें इस प्रकार कलात्मक रूप में संजोया है कि 'मृगनयनी' के रूप में हमें एक सफल आकर्षक एवं रोचक ऐतिहासिक रोमान्स की उपलब्धि होती है। वास्तव में 'मृगनयनी' द्वारा वर्मा जी ने ऐतिहासिक तथ्यों व परम्परा को कल्पना के झिलमिलाते धागों में पिरोकर बुन्देलखण्ड के भव्य अतीत की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की।[1]

परिणाम स्वरूप मृगनयनी' वर्मा जी का सफल ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें जनश्रुतियों किम्वदन्तियों और परम्पराओं का आधार लेकर कथा-संयोजना की गयी है। उसकी ऐतिहासिकता में किंचित् भी सन्देह नहीं किया जा सकता है, हाँ, कल्पनाओं का प्रवेश उसके सौन्दर्य में अभिवृद्धि अवश्य करता है। इतिहास और कल्पना का अद्भुत समन्वय 'मृगनयनी' की अन्यतम विशिष्टता है।

(7) दुर्गावती :—

वर्मा जी का महारानी दुर्गावती उपन्यास उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसमें लेखक की ऐतिहासिक खोज और औपन्यासिकता ने इतिहास, लोक श्रुति और लोक रस का सुन्दर एवं यथार्थ रूप प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में गोंडवाना का शौर्यपूर्ण इतिहास, वहाँ की नदियाँ, घाटियाँ, किले

1- हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास मृगनयनी— डा0 शान्ति स्वरूप गुप्त पृ0 105

तथा गोंडोंकी संस्कृति का यथार्थ रूप सामने आ गया है। इस उपन्यास की घटनायें और पात्र इतिहास सम्मत हैं। प्रासंगिक कथाओं में राम चेरी और मोहन दास की कथा महत्वपूर्ण है। मुख्य कथा कालिंजर के शासक कीर्ति सिंह की पुत्री दुर्गावती तथा गढ़ कटंगा के शासक दलपत शाह के प्यार एवं उसके विकास से संबंधित है।

महारानी दुर्गावती का जन्म महोबा (जिला हमीरपुर) में हुआ था और यह अपने पिता कीर्तिसिंह के साथ कालिंजर के दुर्ग में रही थी। दुर्गावती अपने पिता के साथ मनियागढ़ शेर का शिकार खेलने गयी और वहीं दुर्गावती और दलपति शाह के प्रेम का सूत्रपात हुआ। गोंड राजा दलपति शाह चन्देलों से जाति के नीचे थे। अतः कीर्तिसिंह चाहते हुए भी दुर्गावती का विवाह दलपति से खुलकर नहीं करना चाहते थे । परन्तु उन्होने गुप्त रूपसे विवाह करने का आशीर्वाद दे दिया था। दलपति शाह कालिंजर में आमंत्रित थे। इसी समय पूर्व योजना के अनुसार कीर्तिसिंह अपनी कुलदेवी की पूजा के बहाने महोबा चले गये इसी बीच में दुर्गावती सुरग के मार्ग से अपनी सखी राम चेरी के साथ बाहर आई और दलपति शाह उनको अपने साथ ले गये। इस प्रकार दुर्गावती का विवाह दलपति शाह से और राम चेरी का विवाह दलपति शाह के मित्र सेनानायक मोहनदास से हो गया।

कुछ वर्षों पश्चात् दलपति शाह का देहान्त हो गया। उनके एक पुत्र था, जिसका नाम वीर नारायण था। दुर्गावती ने पति की मृत्यु के पश्चात् गौंडवाना राज्य को सुव्यवस्थित किया और मालवा के सुल्तान बाजबहादुर को बार बार हराया। वे पड़ोस के अन्य शासकों से भी लोहा लेती रहीं। पति के देहान्त के पश्चात् दुर्गावती ने पर्दाकरना बिल्कुल छोड़ दिया, उनके देवर चन्द्रसिंह ने इसका निषेध किया। परंतु दुर्गावती नहीं मानी। चन्द्रसिंह रूष्ट होकर बांदा चले गये।[1] दुर्गावती के गौंडवाना पर अकबर की दृष्टि पड़ी। एक लोक परम्परा में कहा जाता है कि अकबर ने दुर्गावती को नीचा दिखाने के लिए सोने का एक पिंजरा बनाकर भेजा और पत्र में लिखा "स्त्री होकर राज्य मत करो , पिंजड़े बन्द रहो" पत्र के उत्तर में दुर्गावती ने

1-महारानी दुर्गावती, पृ0 7 परिचय

सोने का पींजन भेजा और पत्र लिखा कि 'तुम राज्य करने योग्य नहीं हो, रूई धुना करो, रूई।'[1] उपन्यास में जितने भी युद्धों का वर्णन आया है वे सबके सब ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित हैं।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि वर्मा जी ने एक सिद्ध कलाकार के समान इतिहास के रूखे फीके तथ्यों को सरस प्रसंगों, मार्मिक स्थितियों एवं विवेक सम्मत कल्पनाओं से संवार कर इस ढंग से प्रस्तुत किया है कि तथ्य और कल्पना के जोड़ पहचाने नहीं जा सकते। वर्मा जी की उपन्यास कला का कौशल इस बात में निहित है कि इतिहास के सर्वमान्य तथ्यों को खण्डित न करते हुए भी वे भारतीय शौर्य की भग्न विरूप प्रतिमा को पुन, प्रतिष्ठित करने में सफल हुए हैं। डा0भगीरथ मिश्र ने उनके साहित्य कर्म की मूल प्रेरणा को बिल्कुल सही पहचानते हुए सत्य हीलिखा है —" देशप्रेम तो उनके कृतित्व के व्यक्तित्व की आत्मा है .... उनकी मूल प्रेरणा है। `कहीं कहीं वह अत्यन्त प्रत्यक्ष है और कहीं प्रच्छन्न। इस प्रवृत्ति में वे आधुनिक साहित्य की युगचेतना का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति है।"[2]

1- महारानी दुर्गावती, परिचय, पृ0 12

2- डा0 भगीरथ मिश्र, साहित्य, सन्देश ऐतिहासिक उपन्यास, विशेषांक सन् 1959, पृ0 303

सप्तम अध्याय

वर्मा जी के उपन्यासों में सामाजिक तथा आर्थिक आंचलिकता

सप्तम अध्याय

वर्मा जी के उपन्यासों में सामाजिक तथा आर्थिक

आंचलिकता

बुन्देलखण्ड के सामाजिक जीवन के चित्र वर्मा जी के उपन्यासों में पाये जाते हैं। वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में उस समय की सामाजिक स्थिति का पूरा-पूरा वर्णन किया है। राजनीतिक उथल-पुथल, आए दिन के युद्ध तथा उससे उत्पन्न अराजकता के कारण देश की सामाजिक स्थिति भी अत्यन्त शोचनीय थी। वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में उत्तर वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक के भारतीय समाज का अन्तरंग चित्र प्रस्तुत करते हुए जाति व्यवस्था के विभिन्न आयामों को सम्पूर्ण दुर्बलताओं तथा सबलताओं के साथ अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया है। यद्यपि वर्णाश्रम की स्थापना कर्माश्रित थी। जन्म वर्ण का आधार तो था परन्तु कर्मों के आधार पर वर्ण – परिश्रम में किसी प्रकार की बाधा नहीं थी। परन्तु आगे चलकर समाज की यह व्यवस्था विकृत हो गयी थी। जाति भेद के द्वारा अनेक अन्यायपूर्ण कार्य होते रहते थे। जाति भेद इतना विकृत रूप धारण कर चुका था कि एक ही जाति के परस्पर दो उपजातियों में विवाह निषिद्ध था। लाखी और अटल इसका हृदयद्रावक उदाहरण है।[1] वैदिक युग में धौम्य ऋषि के अनुसार –" वर्ण विभाजन कर्म पर आधारित था। श्रम का ही विशेष महत्व था। विद्याओं का आजीवन संग्रह मनन और वितरण करने वाला ब्राह्मण, देश की सुरक्षा और समृद्धि का सहायक क्षत्रिय, कृषि, शिल्प और व्यापार को बढ़ाने वाला वैश्य होगा।"[2] अपनी व्यवस्था में धौम्य ऋषि के लिए 'शूद्र' किसी वर्ण का नहीं वरन् कर्तव्य भ्रष्टता और अनैतिकता का पर्याय है।[3]

इस प्रकार समाज अनेक जातियों और उपजातियों में बँटकर बिखर गया। वर्ण व्यवस्था के इस बिखरे हुए रूपको हम वर्मा जी के उपन्यासों में इस प्रकार पाते हैं।

1- मृगनयनी, पृ0 380

2- भुवनविक्रम, पृ0 90,125

3- वही, पृ0 125

ब्राह्मण :—

आवश्यकता से अधिक सम्मान और प्रतिष्ठा पाने वाले, अध्ययन और अध्यापन में रत, अपने त्याग और विवेक से समाज का नेतृत्व करने वाले ब्राह्मण कालान्तर में अपने कर्तव्यों को बिसार बैठे। परिणाम स्वरूप 'विष्णुदत्त'[1] जैसे ब्राह्मण धन के लोभ में पड़कर अपनी विद्या को भूल जाते हैं। बोधन[2] शास्त्री जैसे सत्यनिष्ठ और निर्लोभी ब्राह्मण अपनी हठधर्मिता और संकीर्णता, रूढिवादिता, से समाज की कोई भी भलाई करने में असमर्थ रहते हैं। स्वयं को समाज का अग्रणी मानने वालों में सुखलाल और नारायण शास्त्री जैसे ब्राह्मण न तो अपने आचरण को पवित्र रखते हैं और न उनके अन्दर इतना नैतिक साहस है कि अपनी अहीरिन - भंगिन[3] प्रेयसियों सामाजिक मान्यता देकर स्वीकार करते। धन के लोभ में पड़कर कुलीन ब्राह्मण पुत्र सम्पतलाल स्वयं को स्त्री रूप में पंजाबी के हाथ बेचने के लज्जाजनक काण्ड से लगता है। मध्य युग से लेकर अतिनिकट वर्तमान तक ब्राह्मण समाज में अतिरिक्त सम्मान का पात्र माना जाता रहा। उदाहरण के लिए गढ़ कुण्डार के गर्वीले बुन्देले स्वयं को ब्राह्मणों का चरण सेवक कहकर शिष्टाचार दिखाते हैं।[4] संगम का अक्खड़ अहीर नन्दराम रामचन्द्र अड़जरिया की कटूक्तियों का वैसा ही उत्तर केवल उसके ब्राह्मणत्व के कारण नहीं देता।[5]

क्षत्रिय :—

जातीय उच्चता के सामने प्रेम, शिष्टाचार, मित्रता, मानवता सबको भूल जाते हैं, खंगारों को क्षत्रिय तक मानने को तैयार नहीं होते फिर पुत्री से विवाह की बात क्या उनके खून को नहीं खौला देती। लेकिन इसके विपरीत खंगार नाग अपने को बहुत ही ऊँची जाति का समझता है वह दूसरों का जातीय गर्व बड़ी कठिनता से सह पाता है।[6]

1- गढ़ कुण्डार,

2- मृगनयनी,

3- संगम, झाँसी की रानी

4- गढ़ कुण्डार, पृ0 177

5- संगम, पृ0 13

6- गढ़ कुण्डार, पृ0 18, 20, 1, 229, 301

बुन्देले पड़िहारों को अपने से हीन समझते हैं और पड़िहार बुन्देलों को तुच्छ।[1] ये क्षत्रिय अपने प्राणों का कोई मूल्य नहीं समझते। बात की बात में बुन्देले दलपति और हरि चन्देल में गर्मा-गर्मी हो जाती है।[2] सभी क्षत्रिय क्षत्रियत्व का ढोल पीटने वाले अहंकार की झंकार बढ़ाने, स्वार्थ सिद्ध करने और सत्ता हथियाने के षडयन्त्रों में व्यस्त दिखाई देते हैं। यदि वास्तव में ही क्षत्रियों ने अपने कर्तव्यों को पहिचाना होता तो कछवाहे तोमर के खून के अपनी प्यास न बुझाते।[3] जयपुर जोधपुर परस्पर सिर न फोड़ते[4] होल्कर सिन्धिया को विष न देता।[5] इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षत्रिय सदैव जाति के मद में ही चूर रहते हैं।

वैश्यः —

वर्मा जी के उपन्यासों में वैश्य जाति का विशेष वर्णन नहीं आया। एक ही दो उपन्यासों में इनकी चर्चा हुई है। मुसाहिब जू में कुँजीलाल सूद में रूपया देना वाला साधारण सा साहूकार है। चरखारी वाली इसी के पास से अपने गहने रखकर रूपया आदि माँगने का प्रबन्ध करती है। यह स्वयं तो कर्जदारों के साथ शोषण की नीति अपनाता है लेकिन स्वयं सामन्तों के शोषण से पीड़ित भी है। प्रत्यागत उपन्यास में लखपत भी एक सामान्य साहूकार है। लेकिन लखपत साहूकार पंडित नवलबिहारी की हाँ हुजूरी करके समाज में अपना महत्वपूर्ण स्थान निर्धारित करना चाहता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्मा जी के उपन्यासों में वैश्यों का उल्लेख बहुत कम हुआ है।

शूद्र :—

मध्ययुग के आते आते शूद्रों की स्थिति बहुत ही निम्न हो गयी थी। वर्मा जी के उपन्यास 'गढ़ कुण्डार' में इनकी स्थिति का सहज ही ज्ञान हो जाता है। हरि - चन्देल के प्रश्न पर अर्जुन कुम्हार की सिपाहीगीरी के बारे में नाग कहता है — कुम्हार

1- गढ़ कुण्डार, पृ० 115

2- वही, पृ० 89,99

3- मृगनयनी, पृ० 99

4- माधव जी सिन्धिया, पृ० 28

5- वही, पृ० 517

और सिपाहीगीरी यह जन्तु आपने कहाँ से पकड़ा।" नाग कहता है कि 'कुम्हार और सिपाही है। आर्जव और दिलेरी किसी जाति विशेष का हीलक्षण नहीं होते। सम्राट शालिवाहन भी कुम्हार ही थे।[1] लेकिन इसके साथ ही साथ 'मुसाहिब दिलीप सिंह उदारता सराहनीय है वे अपने अँगरक्षकों में अधिकांश मेहतरों की ही भीर्ती करते हैं और मेहतर पूरन को तो स्नेह से गले लगा लेते हैं। जाति पाँति गत ऊच नीच के भेदभाव का विष समाज में इतना अधिक व्याप्त है कि सवर्ण जातियाँ भी आपस में बिखरी हुई है। नाइयों की पंचायत चमार बसोरों को अपने से नीचा मानकर हजामत बनाने पर प्रतिबन्ध लगा देती है तो वे भी बाजे बजाना और रमतूला फूँकना बन्द कर देते हैं।[2]

उक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जाति पाँतिगत संकीर्णता ने समाज के अन्दर जो विष बोया उससे सामाजिक स्तर पर पिछड़ेपन और विघटन की प्रवृत्तियों को आश्रय मिला। जाति और उपजातियों के शुद्ध हितों की चिन्ता ने पूरे समाज और राष्ट्र हितों के विचार को दृष्टि से ओझल रखा।

सामन्ती जीवन :—

वर्मा जी के उपन्यासों में जहाँ जन जीवन की स्वाभाविक झलक मिलती है वहाँ सामन्ती जीवन की भी अत्यन्त सजीव झाँकियाँ देखने को मिलती है। मुख्यतः सामन्ती जीवन के निम्नलिखित सूत्रों पर वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में भरपूर प्रकाश डाला है-

(1) स्वाभिमान पर आधारित शौर्य

(2) स्वाभाविक, प्रतिशोधात्मक, कुण्ठित एवं कर्तव्य निष्ठ शौर्य

(3) स्वातन्त्र्य प्रेम

(4) अवहेलना, असहयोग एवं अमैत्रीपूर्ण बर्ताव

(5) विद्रोह एवं विश्वासघात

(6) आमोद प्रमोद एवं उत्सव त्योहार

1- गढ़ कुण्डार, पृ0 23

2- अमरबेल, पृ0 223

(1)स्वाभिमान पर आधारित शौर्य :—

वर्मा जी के उपन्यासों में शौर्य के अनेक रूपों में दर्शन होते हैं। स्वाभिमान यहाँ के क्षत्रियों का श्रृंगार रहा है, 'गढ़ कुण्डार' उपन्यास में सामन्त कालीन शौर्य गाथा का ही वर्णन किया गया है। इसमें हेमवती के प्रेम की मधुर कल्पना करता हुआ नाग भरतपुरा की गद्दी पर अकस्मात् शत्रुओं के आक्रमण से बिल्कुल नहीं घबराता और युद्ध करने के लिए उद्यत हो जाता है।[1] विराटा की पद्मिनी' में भी देवी सिंह विवाह से भी अधिक अपनी युद्धप्रियता का परिचय दिया है।[2] इस उपन्यास का पुजारी नरपति रण के उल्लास में उन्मत्त हो जाता है वह अपनी आन के सामने प्राणों का मोह नहीं करता।[3]

(2)स्वाभाविक, प्रतिशोधात्मक, कुण्ठित एवं कर्तव्यनिष्ठ शौर्य :—

स्वाभाविक शौर्य के लिए मृगनयनी' उपन्यास की निन्नी और लाखी जैसी नारियों के उदाहरण दर्शनीय हैं। साँक का पानी और रराई की माटी ने उनके शरीर स्वाभाविक बलिष्ट बना दिया था। निन्नी के लक्ष्यबेध के सामने शत्रु सैनिक भाग खड़े होते हैं।[4]

प्रतिशोध के लिए यहाँ के क्षत्रिय उतावले रहते थे। अपने मित्र अंगार नागदेव द्वारा अपमानित अग्निदत्त प्रतिशोध करने के लिए उन्मत्त हो उठता है।[5]

'कचनार' उपन्यास में हमें कुण्ठित उद्दण्ड शौर्य के दर्शन होते हैं। अपने छोटे भाई बैजनाथ को सोने शाह के द्वारा पीटता हुआ देखकर डरू का खून खौल उठता है और वह सोनेशाह को मौत के घाट उतार देता है। वह धमोनी से भी

1- गढ़ कुण्डार, पृ0 30, 32

2- विराटा की पद्मिनी, पृ0 24

3- वही, पृ0 370

4- मृगनयनी, पृ0 153, 154

5- गढ़ कुण्डार, पृ0 19, 285

प्रतिशोध लेता है वह अपने मित्र मानसिंह के प्रति भी प्रतिहिंसा का भाव रखता है। यद्यपि उसे मृत्युदण्ड की आज्ञा सुनाई जाती है: पर वह उद्दण्डता से कहता है — "रस्सी जरा मजबूत हो , यह गला किसी साधारण आदमी का नहीं है कर्नल डोरी सिंह का है।"[1]

बुन्देलखण्ड के क्षत्रिय कर्तव्यनिष्ठ शौर्य के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। उदाहरणार्थ 'मृगनयनी' उपन्यास का मानसिंह एक योग्य सेनानायक की भाँति रात्रि के भयानक सन्नाटे में दोनों दिशाओं से प्रचण्ड आक्रमण करके सिकन्दर के पैर उखाड़ देता है।[2]

(3)स्वातन्त्र्य प्रेम :—

बुन्देलखण्ड के निवासियों में निर्भीकता और स्वाभिमान के साथ ही साथ स्वातन्त्र्य प्रेम पर्याप्त मात्रा में विद्यमान रहा है। उदाहरणार्थ 'गढ़ कुण्डार' में स्वामी अनन्तानन्द स्वातन्त्र्य प्रेम के बलिदानी के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं।[3] बुन्देला कुमारी हेमवती युद्ध की बलवेदी में स्वतंत्रता के लिए जूझ जाना अपना सब महान लक्ष्य समझती है। उसकी दृष्टि में प्रेम और विवाह आदि देशप्रेम के सामने गौड़ है तभी तो वह विवाहोत्सुक पुण्यपाल के प्रति अशालीन एवं रूक्ष हो जाती है।[4]

(4)अवहेलना, असहयोग एवं अमैत्रीपूर्ण व्यवहार :—

सामन्ती जीवन में पारस्परिक शत्रुता, अवहेलना और असहयोग के कारण युद्ध होते रहते थे। करेरा का पुण्यपाल कुण्डार का जागीरदार होता हुआ भी दुगुने वेतन का लोभ देकर करीम को फोड़ लेता है।[5] शेरशाह सूरी के द्वारा कालिंजर पर आक्रमण किए जाने पर कीर्ति सिंह के प्रयास करने पर भी परिहार, कलचुरी तथा

1- कचनार, पृ0 360

2- मृगनयनी, पृ0 454

3- गढ़ कुण्डार, पृ0 240

4- गढ़ कुण्डार, पृ0 185

5- वही, पृ0 185

बघेल क्षत्रिय अपने प्राचीन विरोधों के कारण उदासीन रहते हैं और प्रादेशिक स्वतंत्रता से बढ़कर भी अपनी अहं वृत्ति को महत्व देते हैं।[1]

(6) विद्रोह एवं विश्वासघात :—

'दुर्गावती' उपन्यास में सुधरसिंह, राजसिंह के साथ विश्वासघात करता है। कालिंजर के आधे राज्य की अपेक्षा वह सूबेदारी प्राप्त करने के लिए विश्वासघात द्वारा शेरशाह को प्रसन्न करता है।[2]

इस प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक बुन्देलखण्ड की शक्ति बिखराव की ओर लगी रही फलतः आक्रमणकारियों ने एक एक करके इन सामन्तों की भूल के कारण अनेक दुर्गों को हथिया लिया।[3] सामन्त खड्गसिंह 'झाड़ कोठा का शासक होने के कारण राज्य की सीमाओं का विस्तार करना चाहता है। फलतः वह स्वामि भक्ति से भी विद्रोह करता है।[4]

(6) आमोद-प्रमोद एवं उत्सव त्योहार :—

जब यहाँ के सामन्त नीरसता से ऊबते थे तब वे नवीनता एवं हर्षोल्लास प्राप्त करने के लिए उत्सवों एवं त्योहारों का आयोजन किया गरते थे। चैत में नवरात्रि के अवसर पर गौर की प्रतिमा की स्थापना की जाती थी। श्रद्धा भक्ति और आनन्द विनोद के साथ पूजा की जाती थी और पर्याप्त उत्सव मनाया जाता था। 'गनगौर' का त्योहार युद्ध की विभीषिका में भी मनाया जाता था। इसी प्रकार अक्षय तृतीया का पर्व भी मनाया जाता था। जिसमें स्त्रियाँ गृहस्वामी का खेतों में आवाहन करती थी। गंगा दशहरा का पर्व बुन्देलखण्ड में बड़ी सजधज के साथ मनाया जाता है जिसमें अनेक मित्रों को भी आमंत्रित किया जाता है। सावन के महीने में राखी बाँधने के लिए विवाहित कन्यायें अपने मायके आती है और बड़ी ललक के साथ भाईयों के राखी बाँधती है। इस प्रकार यह बुन्देलखण्ड का प्रधान सांस्कृतिक पर्व है।[5] भादों की गणेश चतुर्थी आश्विन का पितृपक्ष तथा नवरात्रि ,

---

1- दुर्गावती, पृ0 32

2- दुर्गावती, पृ0 208

3- गढ़ कुण्डार, पृ0 99

4- की मुस्कान, पृ0 12-95

5- अमरवेल, पृ0 475

विजयदशमी के उल्लासों का वर्णन उदयकिरण, संगम, गढ़ कुण्डार, और 'दुर्गावती' जैसे उपन्यासों में देखने को मिलता है। कार्तिक पूर्णमासी की तुलना में दीपावली का पर्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण रूप में चित्रित किया गया है। लक्ष्मी पूजन, गोवर्धन पूजन आदि की छटा देखते ही बनती है।[1]

माघ की मकर संक्रान्ति और फाल्गुन की होली का उत्सव अपूर्व ढंग से मनाया जाता है जिसमें जाति पाँति का भेदभाव समाप्त कर किया जाता है इस प्रकार प्रजा से लेकर राजा तक सभी लोग इन उत्सवों का आनन्द लेते हैं।[2] इस प्रकार सामन्ती जीवन, शौर्य, स्वाभिमान, कलात्मकता, आदि के लिए प्रसिद्ध रहा है जिसकी झलक वर्मा जी के उपन्यासों में स्वाभाविक रूप से विद्यमान है।

कृषक जीवन :—

बुन्देलखण्ड की भूमि पर्वतीय ककरीली पथरीली एवं अनुर्बरा है इसलिए यहाँ बड़े बडे खेत न बनाकर किसान छोटे छोटे खेत का निर्माण करते हैं। वनों के अधिकता के कारण यहाँ के कृषक जंगली फलफूलों के आधार पर भी अपनी जीविका कमाते है। जैसा कि 'मृगनयनी' उपन्यास में आये हुए वर्णन से स्पष्ट होता है —

"जो लोग माँसाहारी थे उन्होने जंगल के जानवरों से पेट भरा, जो निरामिष भेजी थे, दुष्प्राप्य जंगरी फलफूल और अपने थोड़े से पालतू पशुओं के दूध दही से प्राणों की रक्षा करने लगे। जिन्होने आक्रमण के समय गढ्ढों में बीज छिपा कर रख दिया था वे लोग लौट आने पर खेती पर चिपट गये।"[3]

उक्त उद्धरण से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं। बुन्देलखण्ड का कृषक माँसाहार भी करता है। उनमें से कुछ निरामिष भोजी भी होते हैं। वे पशु पालन करते है और उनके दूध दही से शारीरिक स्वास्थ्य की सुरक्षा करते हैं। यहाँ पर जो गाँव नदियों के किनारे होते हैं और पहाड़ों तथा जंगलों से घिरे होते हैं वहाँ बीच बीच समतल भूमि

1- आहत, पृ0 58, 61

2- मृगनयनी, पृ0 4, गढ़ कुण्डार, पृ0 242, रायगढ़ की रानी, पृ0 28

3- मृगनयनी, पृ0 2

में गेहूँ और चने के पौधे उगाये जाते हैं। यथा —"नदी के किनारे गाँव के पास पहा-ड़ियों जंगल के बीच बीच में कुछ खेतों में गेहूँ और चने के पौधे लहलहा उठे।"[1]

यहाँ के कृषक प्रायः मिट्टी की दीवारों पर घास फूस को छाकर मकान बनाते हैं इ इससे उनके दैन्य का स्पष्टीकरण होता है यथा —" आस पास के सभी गाँवों की पंचा-यतों का आदेश था कि ईंट पत्थर के मकान न बनाये जायें, इसलिए मिट्टी की दीवारों पर फूस छाने का चलन पड़ गया था।"[2]

यहाँ का कृषक उद्योगी होता हुआ भी भाग्यशाली होता है। अतः वह अपनी खेती पाती में भाग्य को ही प्रधान मानता है। यथा —"किसान ने भाग्य के भरोसे अपनी उतावली को रोका।"[3] यहाँ का कृषक जीवन बड़ा निर्भीक एवं कर्मठ है अपने छोटे छोटे खेती की फसल बचाने के लिए कृषक लोग उनकी रखवाली करते हैं, खेतों के बीच में मचान बना लेते हैं और रात्रि के समय यदा कदा जंगली जानवरों को भगाने के लिए विचित्र ध्वनियाँ करते रहते हैं। सामान्यतया वे तीर और तलवार भी इसउद्देश्य से रखते हैंकि उनकी आत्मसुरक्षा होती रहे और साथ ही साथ वन्य पशुओं से खेती को बचाया जा सके। वे वन्य पशुओं पर प्रहार करने से भी नहीं चूकते थे और उनका निशाना अचूक होता था जैसा कि 'मृगनयनी' उपन्यास के वर्णन से स्पष्ट होता है –

"वे दोनों हथियार लेकर खेत पर चले गये। रात होते ही अटल मचान पर सो गया। निन्नी बगल में तीर कमान और तलवार रखे हुए बैठी रही। .... पास और दूर के खेतों में रखवालों की हा हा हू हू सुनाई पड़ने लगी .... निन्नी हा हा हू हू का शोर नहीं कर रही थी। चुपचाप बैठी हुई खेत के कोने पर आँख पसारे थी।"[4]

उक्त उल्लेख से यह भी ज्ञात होता है कि खेतों की रक्षा में कृषक बालिकाएँ बड़ी निर्भीकता के साथ अपना सहयोग देती हैं। खेत रखने के समय निद्रा को दूर भगाने

1- मृगनयनी, पृ0 2

2- वही, पृ0 3

3- वही, पृ0 3

4- वही, पृ0 13

एवं समय यापन के दृष्टि के साथ कृषक बालिकाएँ ग्राम्य गीतों को भी गया करती थी। यथा — "अब कदापि नींद नहीं आने पावेगी। उसने निश्चय किया। सोचा धीरे धीरे कुछ गाऊँ। दिन वाला गीत याद आ गया और वह गाने लगी – जाग परी मैं पिया के जगाये।"[1]

किसानों के पास किसी भी वस्तु को क्रय करने के लिए अपनी फसल पर आधारित रहना पड़ता है। यथा —— " अब की फसल पर कुछ बचा सकी तो लोहे के अच्छे तीर और फल बिसा लूँगी।"[2]

उस समय हमारा देश अनेक रजवाड़ों में विभक्त था। राजा लोग यदि किसानों की सुरक्षा करते थे तो बदले में वे उपज का षष्ठांश ले लेते थे। वसूली के समय कभीकभी उग्रता से और कभी कभी सरलता से अधिकारी लोग शासकीय कर वसूल करते थे यथा —

"अनाज गाह लेने के बाद ग्वालियर से राजा की उगाही के लिए संधर्ता आये और पुरानी परम्परा के अनुसार उपज का छठाँ अंश ले गये। उगाही में उन्होंने कोई क्रूरता नहीं की। बाकी अनाज को किसानों ने छिपा लुका कर रख लिया।"[3]

इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है किकृषक लोग अपना अन्न बड़ी सुरक्षा के साथ रखते थे ऐसा भी ज्ञात होता है कि साधारण कृषक को कटाई, मजदूरी के द्वारा भी अन्न एकत्र करना पड़ता था फिर भी दूसरी फसल आने तक वह चुक जाता था जब इससे भी पूरा नहीं पड़ता था तब वे जंगली जानवरों को मार कर उनके चमड़े आदि से द्रव्यार्जन करते थे। इसके अतिरिक्त वे नदी से मछलियाँ मारकर तथा चिड़ियों का शिकार करके उनके विक्रय से अपना घरेली खर्च चलाते थे यथा —

"लाखी और उसकी माँ को कटाई मजदूरी में थोड़ा सा अनाज मिल गया, परन्तु यह दूसरी फसल के लिए पर्याप्त न था। ...... कोई बड़ा जानवर न मार पायें तो पेट पालने के लिए चिड़ियों और नदी की मछलियों ही सही।"[4]

1- मृगनयनी, पृ० 14

2- वही, पृ० 44

3- वही, पृ० 24

4- वही, पृ० 24

बुन्देलखण्ड का कृषक अन्धविश्वासी है वह मानता है कि इन्द्रदेवता की प्रसन्नता पर वर्षा निर्भर है। इसलिए वह प्रकोपों की शान्ति के लिए विभिन्न देवी देवताओं पर विश्वास करता है। बकरे और मुर्गों का बलिदान करता है। वह अपने खेतों पर नजर न लगने देने के लिए हंडियों काले दिढोने लगा कर टाँग देता है।[1] खेत काटने के समय कबैया मजदूरों के साथ कृषक स्वयं भी खेत काटता है। श्रम का परिहार्य करने के लिए बीच बीच में स्त्री पुरुष गीत भी गाते थे और आमोद प्रमोद की भी अनेक अवसर निकाल लेते थे यथा —

"गाते गाते , हँसिया चलाते चलाते वह युवती युवक को कनखियों से देखती बढ़ती जा रही थी। गेहूँ के पौधों की ओट में मुस्कराती थी और कभी कभी हँस भी देती थी। डूबते हुए सूर्य की किरणें जब सामने से दाँतों पर पड़ती तो युवा को लगता था जैसे मोती दमक गयें हों।"[2]

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम वर्मा जी के उपन्यासों के द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्होंने बुन्देलखण्ड के कृषक जीवन की यथार्थ झाँकी प्रस्तुत की है जिसके आधार पर यह प्रतीत होता है कि यहाँ का कृषक अभावों में जीता है, कष्टों में मुस्कराता है, श्रम और स्वालम्ब का आश्रय लेता है, ऋण ग्रस्त होता हुआ भी वह ईमानदारी का दावा करता है। उसके ऊपर यदा कदा शासकीय संकट भी आ जाते हैं पर वह घबराता नहीं है।

बुन्देलखण्ड का कृषक कष्ट सहिष्णुता, त्याग एवं बलिदान की भावना से अपने जीवन की गाड़ी खींचता रहता है। अशिक्षा का वातावरण और दैन्य ये दोनों उसके जीवन के अभिशाप हैं। यहाँ की भूमि कंकरीली पथरीली होने के कारण कृषक का उतना साथ नहीं देती जितना कि वह परिश्रम करता है। निम्न वर्ग में मद्यपान आदि का भी प्रचलन है। अपनी आन बान, शान पर मर मिटना उसकी प्रवृत्ति है। यहाँ कृषकांगनाएँ भी पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर घर और खेतों में काम करती है । उनमें अपव्यय और विलासिता की आधुनिक गंध नहीं पायी जाती।

1- दुर्गावती, पृ० 175, अमरबेल, पृ० 164

2- सोना, पृ० 6

संक्षेप में सादा जीवन और उच्च विचार ही यहाँ के कृषक का मूल सिद्धान्त है। वह भाग्य के भरोसे पर अपनी जीवन नैया को विश्व के विस्तृत जलधि में छोड़ देता है और ईश्वर या दैव के सहारे ही पार लगाता है। सचमुच वह एक महान तपस्वी है जो अभावों के अभिशाप में पिसकर भी आहें नहीं भरता। कंटकों के बीच में मुस्कराता हुआ अपना सारा जीवन जी लेता है। संक्षेप में यही है वर्मा जी के उपन्यासों में वर्णित कृषक जीवन जिसको पढ़कर किसी भी सहृदय का हृदय सहानुभूति से द्रवित हुए बिना नहीं रह सकता।

प्रजा प्रगति :—

वर्मा जी के उपन्यासों में प्रजा की जैसी प्रगति थी उससे ज्ञात होता है कि युद्धों के समय में जनता पर कर बढ़ा दिये जाते थे विशेष रूपसे अन्न वस्तु तथा पशुधन की बिक्री पर करों की वृद्धि कर दी जाती थी। किन्तु इसका भी ध्यान दिया जाता था कि निर्धन व्यक्तियों पर अधिक न भार पड़े। पूँजीपतियों पर भी कर लगाने में सोचना पड़ता था क्योंकि वे युद्ध के समय शासन को ऋण देते थे अतः उन्हें भी असन्तुष्ट नहीं किया जाता था। यहाँ तक कि सामन्त सरदार भी पूँजी पतियों से झुकते थे। यथा —

"कर बढ़ाने की चर्चा उठाई गयी। अनाज कपड़ा, भैंस, बैल, भेड़ - बकरी इत्यादि की बिक्री पर कर बढ़ा दिया जाये यह सुझाव एक सचिव ने दिया।

ने धीरे से प्रतिवाद किया —' इस कर का भार गरीबों पर अधिक पड़ेगा साहूकारों पर लगा नहीं सकते क्योंकि लड़ाइयों के लिए कर्जा कर्जा उन्हीं सं मिलता है। अब क्या किया जाये? उस युग के सामन्त सरदार यदि किसी से दबते झुकते थे तो साहूकारों से।"[1] प्रदेशों की प्रजा में एक दूसरे के प्रति फूट रहती थी किन्तु वे शासकों के प्रयास एवं दूरदर्शिता से दब जाते थे।[2]

प्रजा में अनेक अन्धविश्वास, रूढ़ियाँ एवं परम्परायें प्रचलित थी जिनसे ज्ञात होता है कि प्रजा की सामाजिक प्रगति प्रायः रूढ़ियों तक ही सीमित थी। जनता

1- अहिल्याबाई, पृ० 111

2- वही, पृ० 114

में ईश्वर के प्रति विश्वास थाऔर आध्यात्मिकता के प्रति भी जनता में आस्था थी। यथा—

"संसार की सारी जंगम रचना एक शाश्वत नियम पर कार्य कर रही है। उसका नाम कृपा है जिसे विश्व की विशालतम और सूक्ष्मतम महाशक्ति संचालित करती है जिसे परमात्मा कहते हैं।"[1] जनता में पुनर्जन्म की धारणा प्रबल थी । यथा —

"अगले जन्म में फिर मिलेंगे अवश्य मिलेंगे— प्रेमी युगल को बलिदान के पथ पर आरूढ़ करता है।"[2]

इस प्रकार वर्मा जी के उपन्यासों में बहुदेववाद, भूमि पूजन, पूजा अर्चा, भक्तियोग आदि की धारणायें जनता के चित्त में सुदृढ़ प्रतीत होती हैं।

(छ) विवाह प्रथा :—

बुन्देलखण्ड मे कुलीनता एवं सजीतीयता विवाह के लिए आवश्यक मानी गयी है। विषम जाति विवाहों में दम्पति को वहिष्कार, निष्कासन, निन्दा आदि का शिकार होना पड़ता था। उदाहरणार्थ — खंगार कुमार नागदेव बुन्देला कुमारी हेमवती से विवाह करने का कुसंकल्प करता है। परिणाम स्वरूप नाग अपमानित ही नहीं होता अपितु खंगार जाति के साथ ही साथ राजकुल का भी सर्वनाश होता है। अग्निदत्त ब्राह्मण था और मानवती खंगार कुमारी थी। इन दोनों का गन्धर्व विवाह प्रस्तावित था । फलतः ब्राह्मण कुमार अग्निदत्त निष्कासित हो गया।[3]

इसी प्रकार 'मृगनयनी' उपन्यास में गूजर जाति के अटल अहीर जाति की लाखी से विवाह करने का निश्चय करता है फलतः राई ग्राम[4] के निवासियों ने उसे जी भर कोसा जाति से बहिष्कृत कर उसे गाँव से निकाल दिया। परिणाम स्वरूप उनका यह गन्धर्व विवाह जनता के सामने मान्यता नहीं प्राप्त कर सका। सामान्यतया बुन्देलखण्ड में लड़की लड़के का संबंध निश्चित करने के लिए ग्रह मेलापक आवश्यक माना जाता है जो जन्मपत्रियों पर आधारित होता है यदि कुण्डली मिल गयी तो पारिवारिक

1- अमर बेल, पृ0 312, 313 अहिल्याबाई, पृ0 113

2- विराटा की पद्मिनी, पृ0 344

3- गढ़ कुण्डार, पृ0

4- मृगनयनी, पृ0 216

सामाजिक, ~~व~~ तथा आयु संबंधी बन्धन अधिक नहीं माने जाते।[1] उदाहरणार्थ —— ललित सेन अपनी बहन रतन के लिए भुजबल से कुण्डली मिलान होते ही संबंध निश्चित कर लेता है और कुल शील आदि की जाँच आवश्यक नहीं समझता।[2] जन्म पत्री मिल जाने पर सोना जैसी निर्धन कृषक बाला का संबंध देवगढ़ के राजा से हो जाता है।[3] तात्या दीक्षित प्रौढ़ गंगाधर राव के साथ तेरह वर्ष की पुत्री मनु का संबंध कर देते हैं और किसी को कोई अनुपत्ति नहीं होती।[4]

इन बुन्देलखण्डी विवाहों में विभिन्न लोक प्रथायें भी समन्वित हैं। जिन्हें सामाजिक रूढ़ियों के नाम मान्यता दी जाती है। सामान्यतया उच्च कुल के प्रतिष्ठित लोग बिना दहेज के विवाह नहीं करते उदाहरणार्थ — कुलीन भिखारी लाल दहेज के लोभ से ही धनीराम नाई द्वारा पालिता पुत्री जानकी से अपने पुत्र सम्पत लाल से विवाह करने को तैयार हो जाता है।[5] दहेज को लेकर कभी कभी पारस्परिक कलह भी हो जाते हैं। उदाहरणार्थ 'लगन' उपन्यास में बादल चौधरी शिब्बो महतों को दहेज में सौ भैंसे देने का वचन देता है किन्तु न देने पर उसे अधिक सुनना सुनाना पड़ता है। फलतः वधू को बिना बिदा कराये ही शिब्बो अपने पुत्र का द्वितीय विवाह कर लेने की धमकी देता हुआ बारात समेत लौट जाता है।[6] इसी प्रकार गाँव का गाँव में ही विवाह करना अनुचित माना जाता है।[7]

बुन्देलखण्ड में प्रायः ऊँची जातियों में विधवा विवाह का प्रचलन नहीं रहा। यही कारण है कि झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई और रानी दुर्गावती ये दोनों अल्पायु में ही विधवा जो जाती है परन्तु इनके पुनर्विवाह का प्रश्न नहीं उठता। संगम उपन्यास की बालविधवा गंगा अहीर जाति की युवती है उसका भी पुनर्विवाह नहीं होता। किन्तु 'कचनार' उपन्यास में राजा दिलीप सिंह की मृत्यु के पश्चात् उनकी रानी कलावती अपने

1- झाँसी की रानी, पृ0 33, 34

2- कुण्डली चक्र, पृ0 46

3- सोना, पृ0 40

4- झाँसी की रानी, पृ0 33

5- संगम, पृ0 50

6- लगन, पृ0 3

7- सोना, पृ0 19

देवर मानसिंह से विवाह कर लेतीहै। बुन्देलखण्ड में विवाह के पूर्व कन्यायें घूँघट नही डालतीं। किन्तु पतिगृह में जाते ही उन्हें घूँघट प्रथा का पालन करना पड़ता है। बुन्देलखण्ड में जौहर की प्रथा भी प्रचलित रही है। जैसा कि विराटा की पद्मनी' में उल्लेख मिलता है।[1]

इस प्रकार वर्मा जी के उपन्यासों में विवाह शास्त्रीय परम्पराओं एवं सामाजिक मान्यताओं से परिबद्ध एक सामाजिक समझौते के रूप में चित्रित किया गया है। इसमें अपवाद स्वरूप नये दृष्टिकोणों को भी स्थान दिया गया है। पुनर्विवाह, अन्तर्जातीय विवाह आदि को पूर्णतः सामाजिक स्वीकृति अभी तक नहीं मिल सकी है। सामान्यतया विवाह संबंध माता पिता की सहमति पर ही आधारित होते हैं।

आर्थिक स्थिति :—

वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में बुन्देलखण्डीय जीवन की आर्थिक स्थिति को भी स्पष्ट किया है। राजाओं, सामन्तों और जागीरदारों की आर्थिक स्थिति बहुत कुछ सुदृढ़ थी क्योंकि उनके पास पर्याप्त मात्रा में आय के स्रोत विद्यमान थे वे प्रजा के कर रूप में षष्ठांश प्राप्त करते थे जैसा कि 'मृगनयनी' तथा 'अहिल्याबाई' उपन्यास में उल्लेख मिलता है। वे आमोद प्रमोद मनोरंजन, व्यवसाय, धार्मिक कृत्य आदि प्रसंगों में जी खोलकर धन का सदुपयोग या दुरूपयोग करते थे। सुरा सुन्दरी के सेवन में भी उन्हें धन की कोई कमी नहीं होती थी। वे एकाधिक विवाह भी कर लेते थे जैसे कि 'मृगनयनी' उपन्यास के नायक राजा मानसिंह के अनेक विवाह करने का उल्लेख किया गया है। किन्तु इन राजाओं की अपेक्षा प्रजा की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी वे कठोर परिश्रम करके जीविकोपार्जन करते थे यदि कृषि भर से निर्वाह न होता था तो वे लोग मजदूरी करते वन्यपशुओं का शिकार करते और गाय, भैंस, बैल आदि पालतू जानवरों को चराकर उनके घी, दूध के विक्रय से अपनी जीविका का पालन करते थे। यद्यपि आभूषण पहनने का शौक उनमें भी था किन्तु आर्थिक स्थिति की दयनीयता के कारण उन्हें सामान्य स्तर के आभूषणों को क्रय कर पाना ही कठिन होता था और उन्हीं से उनको सन्तोष करना पड़ता

1-

था। उदाहरणार्थ —' मृगनयनी' उपन्यास की निन्नी का भाई अटल एक मेले से उसके लिए चाँदी की हँसुली और छल्ले खरीद लाता है जिन्हें वह राजरानी होने पर भी धारण किए रहती है।"[1]

समाज में साहूकारों की स्थिति अच्छी थी। शासक वर्ग उनका सम्मान करता था और उन पर कर लगाने से भयभीत रहता था क्योंकि वे समय समय पर शासन को आर्थिक सहायता प्रदान करते थे। वे प्रजा को मनमानी ब्याज की दर पर ऋण देते थे। और समाज में उन्हें पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त थी। उदाहरणार्थ ' मुसाहिब जू' उपन्यास में मुसाहिब जू दलीप सिंह की पत्नी अपने आभूषणों को कुंजी सेठ के यहाँ गिरवीं रखा देती है।[2] ऋण का बोझ केवल सामान्य जनता पर ही नहीं अपितु समृद्ध सामन्ती जीवन पर भी रहता था। जैसा कि 'अहिल्याबाई' उपन्यास में अहिल्याबाई के निम्नलिखित कथन से ही स्पष्ट होता है ——

"मेरा यह सब कुछ भी नहीं है जिसका है उसी के पास भेजती हूँ। जो कुछ लेती हूँ वह मेरे ऊपर ऋण है। न जाने कैसे चुका पाऊँगी।"[2]

किसान की आर्थिक स्थिति तो इतनी दयनीय रहती थी कि वे जिस किसी प्रकार से ऋण लेकर आवश्यक घरेलू वस्तुओं को खरीदन के लिए सप्ताह में एक दिन लगने पर निकट की हाट में जाते थे और कुछ उधार तथा नगद देकर वस्तुओं को क्रय करते थे। उनके पास लगान देने तक के लिए पूरी धनराशि नहीं रहती थी। यथा ——

"गरीब गौड़ और सौर जिनके शरीर पर नाम मात्र के कपड़ों से लेकर फटे चिथड़े तक न थे, हाट में सौदे ले दे रहे थे। ...... आज लगान देना पड़ेगा। बैजनाथ विनती भी तो कर दी थी, कातिकी पर पूरा चुका देंगे .... आज तो कुछ नहीं दे सकेंगे कुछ जरूरी सौदा ले लिया है कुछ लेना बाकी है।"[3]

1- मृगनयनी, पृ0 125

2- मुसाहिब जू, पृ0 16

3- अहिल्याबाई, पृ0 21

4- कचनार, पृ0 45

साहूकारों की जोर जबरदस्ती, से प्रजा का जीवन आर्थिक भार से बोझिल हो रहा था। यदि शासन पूँजीपतियों से किसी कार्यवश अधिक धन कर के रूप में ले लेता था तो वे अपनी क्षति पूर्ति करने के लिए अपने ऋणी व्यक्तियों को चूसने से बाज नहीं आते थे। वे केवल मूल और व्याज ही नहीं वसूलते थे अपितु व्याज पर व्याज भी ले लेते थे। जिसे हम आज चक्रवृद्धि व्याज कहते हैं। जैसा कि हम दुर्गावती उपन्यास के निम्नलिखित उद्धरण में देखते हैं —" घर में रखी मुहरों से कर चुकाये देता हूँ। ये भी तो व्याज की ही है। लेन देन बहुत फैला हुआ है, और भी व्याज तो क्या, व्याज पर व्याज आयेगा, कभी पूरी हो जायेगी।"[1]

इस प्रकार वर्मा जी के उपन्यासों के आधार पर यह पता चलता है कि उच्चवर्ग का जीवन सुखी था किन्तु मनमानी व्यय के भार से वे भी ऋण ग्रस्त रहते थे। मध्यम वर्ग का खान-पान , रहन-सहन सन्तोषप्रद था किन्तु अन्त्यज वर्ग आर्थिक भार से दबा हुआ था। कृषि और मजदूरी के अतिरिक्त उनके पास और कुछ न था जिससे वे जीविका कमा सके।

रूढ़िवाद :—

आधुनिक नवोत्थान की दृष्टि से बुन्देलखण्ड क्षेत्र परम्परावादी, रूढ़िवादी एवं अत्यन्त पिछड़ा हुआ क्षेत्र माना जाता है। अतः यहाँ पर अनेक रूढ़ियाँ, प्रचलित है जो विशेषतया सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं पारिवारिक हैं। लोक विश्वास एवं जनता की मान्यताएँ इसी क्षेत्र में आती है। अतिमानवीय शक्तियों पर विश्वास करने की परम्परायें भी रूढ़ियों के क्षेत्र में आती हैं इसी प्रकार शकुन, अपशकुन, तान्त्रिक क्रियाएँ शपथ, इष्ट साधन, विधि- हस्तरेखा, एवं मुहूर्त आदि के विषय में रूढ़ियों के ही क्षेत्र में आते हैं। अतः वर्मा जी के उपन्यासों के आधार पर इस अंश में उनका सांगोपांग शोधात्मक वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है। बुन्देलखण्ड में पैरों में स्वर्णाभूषण पहनने की प्रथा नहीं है। यह अधिकार केवल राजाओं तक ही सीमित है यही कारण है कि लाखी जागीरदारिन होकर भी पैरों में सोना नहीं पहनती है। जब कि 'मृगनयनी' गूजरी होते हुए भी राजरानी होने के कारण पैरों में सोना पहनने का अधिकार रखती है।[2]

1- दुर्गावती, पृ0 228

2- मृगनयनी, पृ0 313

वास्तविकता यह है कि प्रजा के पास इतना धन नहीं होता था कि वे स्वर्ण को पैरों तक उतार सके अतः मेरे विचार से यह सामाजिक रूढ़ि बना दी गयी थी कि प्रजा को पैरों में स्वर्णाभूषण पहनने का अधिकार नहीं था। यहाँ तक कि रूढ़ियाँ कुछ ऐसी भी हैं जो मृतक संस्कारों से संबंधित है उदाहरणार्थ मृत्यु के समय मृतक को भू शय्या दी जाती है और उसके मुँह में गंगाजल डाला जाता है।[1] यद्यपि यह धार्मिक रूढ़ियाँ हैं किन्तु इनका वैज्ञानिक कारण भी हो सकता है। ऐसा समझा जाता है कि चारपाई में ऊँचाई के कारण मृतक प्राण देर में निकल पाते हैं। अतः भू शय्या का विधान रूढ़िग्रत मान लिया गया है। इसी प्रकार धार्मिक मान्यता के अनुसार गंगाजल पवित्र तो माना ही जाता है कि इसका वैज्ञानिक कारण भी यह हो सकता है कि गंगाजल में दुष्ट कीटाणु नाशक शक्ति विद्यमान है जो मृतक के मुख में पड़ कर उन कीटाणुओं को नष्ट कर देता है। मरणोपरान्त तेरह दिन तक सूतक चलता है और त्रयो दशा के पश्चात् पारिवारिक व्यक्ति दैनिक कार्य प्रारम्भ करते हैं।[2]

यहाँ यह मान्यता है कि वर कन्या के दाम्पत्य जीवन का सुखात्मक जीवन तभी निभ सकता है जब जन्म कुण्डली का मेलापक बैठता हो। उदाहरणार्थ 'झाँसी की रानी' उपन्यास में मनूबाई की असाधारण जन्म पत्री देखकर तात्या दीक्षित उसके रानी होने की भविष्यवाणी करता है। तथा गंगाधर राव की जन्मपत्री से मेलापक बैठाकर विवाह संबंध की उत्तम पृष्ठभूमि बना देता है।[2]

यहाँ पर कोई भी शुभ कार्य बिना मुहूर्त के नहीं किया जाता है। यहाँ तक कि यात्रा आदि में मुहूर्त पर विचार किया जाता है। उदाहरणार्थ 'संगम' उपन्यास का भिखारी लाल अपने पुत्र की बारात का शुभ मुहूर्त ही प्रस्थान कराना उचित समझता है।[3] इसी प्रकार 'कुण्डली चक्र' उपन्यास में ललितसेन इपने होने वाले बहनोई भुजबल के आग्रह करने पर निश्चित मुहूर्त को नहीं टालता।[4]

1- विराटा की पद्मिनी, पृ0 81 तथा झाँसी की रानी, पृ0 133

2- संगम, पृ0 124

3- झाँसी की रानी, पृ0 28, 32

4- संगम, पृ0 8

'सोना' उपन्यास का राजा धुरन्धर सिंह अपने विवाह के लिए एक माह का मुहूर्त निकलवाता है।[1] 'मृगनयनी' उपन्यास में राजा मानसिंह निन्नी से विवाह करने के लिए बोधन शास्त्री के द्वारा मुहूर्त निकलवाता है।[2] इससे ज्ञात होता है कि बुन्देलखण्ड में मुहूर्त विषयक रूढ़ियाँ शिक्षित और अशिक्षित दोनों वर्गों में समान रूपसे प्रचलित हैं।

बुन्देलखण्ड में शकुन-अपशकुन पर भी बड़ा विश्वास किया जाता है। अंगों का फड़कना, स्वप्न दर्शन, पशु पक्षियों का परिस्थिति विशेष में दर्शन आदि रूढियाँ यहाँ बहुत पहले से प्रचलित हैं। शास्त्रीय मान्यता भी यह है कि स्त्रियों का वामांग, स्फुरण और पुरुषों का दक्षिणांग स्फुरण अच्छा माना जाता है। गंगा दशहरे के दिन नीलकण्ठ का दर्शन उत्तम माना जाता है। इसी प्रकार मत्स्य दर्शन भी शुभ शकुन माना जाता है । यही कारण है कि देवगढ़ के राजा धुरन्धर सिंह के दरबार में प्रातः से ही नीलकण्ठ और बड़े-बड़े कटोरों में रंग बिरंगी मछलियाँ दिखाने वाले आनेलगते हैं।[3]

यात्रा के समय तीन व्यक्तियों का एक साथ जाना अपशकुन माना जाता है।जैसा कि' कुण्डली चक्र' उपन्यास का शिव लाल यह विचार मानता है।[4]

हस्तरेखा के आधार पर भविष्य जानने की रूढ़ियाँ आज भी प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ 'मृगनयनी' उपन्यास में नट नायकिन निन्नी और लाखी की हस्त रेखाओं को देखकर उनके क्रमशः रानी और बड़ी किलेदारिन बनने की भविष्य वाणी करती है।[5] स्वप्न के संबंध में भी यहाँ यह रूढ़ियाँ प्रचलित है कि प्रायः ऊषा के देखे स्वप्न सत्य होते है। उदाहरणार्थ रूपा को लक्ष्मी जी स्वप्न में पूर्वजों के गढे हुए धन का पता बतलाती हैं जिससे घर धन से परिपूर्ण होता है।[6]

1- कुण्डली चक्र, पृ0 57

2- सोना, पृ0 34

3- मृगनयनी, पृ0 102

[illegible], पृ0

5- कुण्डलीचक्र, पृ0 171

6- मृगनयनी, पृ0 138, 137

7- सोना, पृ0 138

यहाँ की जनता मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए पूजा पाठ में विश्वास करती है। पीपल के नीचे दीपक जलाना, तुलसी पूजन, बलि देना भी यहाँ की रूढ़ियाँ हैं। योग्यवर की प्राप्ति के लिए तारा एक तान्त्रिक बतलाते हुए अनुष्ठान को करती है तीन मास तक उसका यह व्रत चलता है। वह थी शक्ति भैरव की उपासना।[1] इसी प्रकार वैवाहिक कठिनाईयों को दूर करने के लिए पूना की माता उसे पीपल पर दीप जलाने एवं तुलसी के पूजन का आदेश देती है।[2] सोना चील भवानी को मुगौड़ा खिलाने का अनुष्ठान करती है। इसी प्रकार राजा धुरन्धर अधिक समृद्धिशाली होने के लिए सात उलूकों की सेवा करता है। और खाये हुए सोने के हार का पता लगाने के लिए देवता की चौकी बैठाई जाती है जिससे ज्ञात होता है कि यहाँ की जनता रूढ़ियों पर कितना विश्वास करती है।[3]

यहाँ की जनता जादू टोनों पर भी अधिक विश्वास करती है। विशेषत: पिछड़ी जातियों में यह प्रथायें अधिक प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ राजा विजयपाल देव के स्वस्थ होने के लिए प्रजा टोटके करवाती है और रानी भुवनावती तान्त्रिक अनुष्ठान करवाती है।[4] पूजा के ज्वर को शान्त करने के लिए उसका मामा रात में छेददार झिंझरी में ताँबे का पैसा, सिन्दूर, गेहूँ, तथा तेल का चतुर्मुखी दीप जला कर पीपल पर टाँग देता है।[5] यह तान्त्रिक क्रियाएँ दूसरों के अनिष्ट के लिए भी की जाती थी। उदाहरणार्थ राजा विजय पाल देव ~~बुन्देलखण्ड~~ बुन्देल से रुष्ट कनपति गौड़ और भुजंग मारण-मंत्र और पशुबलि के तान्त्रिक साधनों द्वारा चन्देलराजा को समाप्त कर देने की योजना बनाते हैं।[6] इसी प्रकार बजना मठ केसिद्ध की तान्त्रिक क्रियाओं को अनिष्ट समझकर संग्रामशाह तेल के खौलते कढ़ाहे में उस तान्त्रिक को झोंक देते हैं।[7]

1- गढ़ कुण्डार, पृ० 144

2- कुण्डली चक्र, पृ० 53

3- सोना, पृ० 99

4- देवगढ़ की मुस्कान, पृ० 64, 71

5- कुण्डली चक्र, पृ० 151

6- देवगढ़ की मुस्कान, पृ० 66, 69

7- दुर्गावती, पृ० 39

यहाँ यह भी समझा जाता है कि देवनिन्दा या उन पर अविश्वास के कारण मनुष्यों और पशुओं में रोग फैलते हैं।[1] ललितपुर और झाँसी में जब भीषण प्लेग फैलता है उस समय लोग समझते हैं कि एक विशेष प्रकार की लालटेन द्वारा सरकार रोग फैलवाती है अथवा अँग्रेज लोग रात में एक शीशी खोल देते हैं जिससे हिन्दुस्तान के लोगों को प्लेग हो जाता है।[2] खेती के संबंध में भी यहाँ के लोगों में विभिन्न प्रकार के विश्वास प्रचलित हैं। 'भड्डरी' की कहावतें खेती के संबंध में बड़ी अनुभवपूर्ण मानी जाती हैं और कृषक तदानुकूल कार्य भी करते हैं और उनके अनुसार चलने का प्रयास करते हैं। जैसे — यदि शुक्रवार को बदली हो और शनिवार तक बनी रहे तो पानी जरूर बरसता है। इस आशय की यह उक्ति दर्शनीय है —

"शुक्रवार की बादरी, रहे सनीचर छाय।
कैसे बोले भड्डरी, बिन बरसे ना जाय।"[3]

इसी प्रकार खेतों पर नजर न लगने देने के लिए काली हंडी टाँगने की भी प्रथा प्रचलित है।[4] यहाँ की जनता अति मानवीय शक्तियों पर अधिक विश्वास करती है। वर्मा जी के उपन्यासों में बुद्धा, अंजबल, भैलू आदि पात्र भूत-प्रेतों की विद्यमानता पर विश्वास करते हैं। उदाहरणार्थ —— बैजनाथ के मारे जाने पर प्रेत होता है और वह अपने शत्रुओं को सताता है।[5] इस उपन्यास में इस प्रकार के विश्वास देखने को मिलते हैं।

'गढ़ कुण्डार' में यह उल्लेख मिलता है कि यदि किसीदेवता का अनादर किया जाता है तो वह भूत प्रेत होकर सताने लगता है।[6] ऐसी मान्यता है कि भूतप्रेत आदि बाधा का निवारण करने के लिए साधु महात्माओं की भभूत साथ में रखना, पूजा पाठ, दान-पुण्य करना, गंगाजल छिड़कवाना आदि कार्य आवश्यक होते हैं।[7]

1- अमरबेल, पृ0 36x

2- संगम, पृ0 99

3- अमरबेल, पृ0 365

4- वही, पृ0 164

5' कचनार, पृ0 109, 203, 146

6- गढ़ कुण्डार, पृ0 406

'सोना उपन्यास मेंयह उल्लेख मिलता है कि पूर्वजों के गढ़े हुए धन पर साँप बैठा हुआ मिलता है।[1] यहाँ कीजनता यह विश्वास करती है कि कनेर का फूल लगाने से किसी न किसी युद्ध के लिए विवश होना पड़ता है।[2] यहाँ की जनता राजा को ईश्वर का अवतार मानती है। और राजा के शुभाशुभ कर्मों का प्रभाव प्रजा की स्थिति पर भी पड़ता है।[3] यहाँ की जनता ने रूढ़ियों और अन्धविश्वासों में फँस कर भाग्यवाद को अपना लिया है जिसका उल्लेख वर्मा जी के कई उपन्यासों में मिलता है। उदाहरणार्थ — पूना की माता अपनी पुत्री को योग्यवर न मिलने का कारण अपना ही भाग्य मानती है।[4] 'मृगनयनी' तथा झाँसी की रानी' उपन्यास में भी भाग्य वाद का प्राधान्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वीकार किया गया है।[5]

यहाँ के व्यक्ति प्रायः अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए सौगन्ध या शपथ लेने के आदी है। उदाहरणार्थ — भैरव , भवनी, गंगा, पुत्र अन्न आदि की शपथ लेने के अनेक उल्लेख मिलते हैं। इन सौगन्धों में अन्न और तलवार भी सौगन्ध बड़ी महत्वपूर्ण मानी जाती है, जैसा कि 'गढ़ कुण्डार' में एक पात्र कहता है।—

"अन्न की सौगन्ध खाओ, खड्ग की सौगन्धा खाओ, साधारण सौगन्ध नहीं मानूँगा।"[6]

बुन्देलखण्ड के वीरों में यह विश्वास दृढ़ रहा है कियुद्ध में वीर की मृत्यु होने पर उसे सीधे स्वर्ग मिलता है। उदाहरणार्थ — पुण्यपाल परिहार युद्ध के मृत्यु को स्वर्ग का सहज द्वार मानता है।[7]

1- कचनार, पृ0 203, 86

2- सोना, पृ0 135, 136

3- गढ़ कुण्डार, पृ0 10

4- दुर्गावती, पृ0 175

5- कुण्डली चक्र, पृ0 60

6- मृगनयनी, पृ0 38, झाँसी की रानी, पृ0 18

7- गढ़ कुण्डार, पृ0 127, 347

सारांश यह है कि बुन्देलखण्डीय जन जीवन अतिशय रूढ़िग्रस्त है। इसकी सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियाँ आज के प्रगतिशील युग में भी इसलिए प्रचलित हैं कि यहाँ शिक्षा प्रचार प्रसार बहुत ही कम हो पाया है। जैसे ही जैसे शिक्षा का नवल प्रकाश फैलता जाता हैवैसे हीवैसे यहाँ कि रूढ़ियाँ एवं अन्य परम्परायें समाप्त होती जातीहैं और आधुनिक वैज्ञानिक प्रगतिशील दृष्टिकोण पनपता जाता है। जैसा कि वर्मा जी अपने उपन्यासों में यत्र तत्र दिखलाते हुए इसकी अनेक झलकियाँ प्रस्तुत की हैं।किंतु अभी इन रूढ़ियों और प्राचीन मान्यताओं की समाप्ति के लिए बुन्देलखण्ड का क्षेत्र लगभग एक शताब्दी का समय ले लेगा।

<u>सरलतादि</u> :—

बुन्देलखण्ड में ऐसे लोगों का बाहुल्य है जो पिछड़ी जाति के हैं और जिनमें शैक्षिक एवं आर्थिक दृष्टि से भी पिछड़ापन विद्यमान है। परिणाम स्वरूप जहाँ उनमें अनेक अच्छाइयाँ हैं वहाँ कुछ ऐसे दोष भी हैं जिनका निराकरण आवश्यक प्रतीत होता है। वर्मा जी ने अपने उपन्यासों के माध्यम से जिन जिन पात्रों का चरित्र चित्रण प्रस्तुत किया हैवे सभी किसी न किसी रूप में यहाँ के व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

प्रस्तुत अंश में हम उनके उपन्यासों के कतिपय पात्रों के आधार पर यहाँ के व्यक्ति के स्वभाव, आचरण, गुण, प्रवृत्ति आदि का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं ।

बुन्देलखण्ड के आंचलिक पात्रों में वर्मा जी ने सर्वाधिक प्रभावपूर्ण चरित्र झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई का चित्रित किया है। वे नारी की सर्वांगीण शक्ति की प्रतीक थी। स्वयं जीवन संग्राम में कूद कर पुरूषों को प्रेरणा देती थी और माता के रूप में स्नेह और कर्तव्य का निर्वाह करती हुई जन-जन में शक्ति का स्रोत थीं। वे स्वराज्य के लिए बड़ी लगन से लड़ी, स्वराज्य के लिए मरी और स्वराज्य की नींव की पत्थर बनी। उनके चरित्र से यह सिद्ध होता है कि यहाँ की नारियाँ अबलायें नहीं है अपतु वीरांगनाएँ हैं। उनमें वीरता, साहस, देशप्रेम, राष्ट्रीयता , प्रशासनिक क्षमता सत्यता, ईमानदारी, एवं भारतीय आदर्शों के प्रति सहज अनुराग विद्यमान है। वे कर्म पर विश्वास करती थी भाग्य पर नहीं। निर्भीकता उनका बाना था। यथा —

"एक का भाग्य दूसरे ने नहीं पढ़ा है। यह सब मन गढन्त हैं। डरपोको का ढकोसला है। ...... मैं डरपोक कभी नहीं हो सकती।"[1]

वे मानती थी कि भारत को स्वतंत्र होना चाहिए। हमको अन्त में सारे देश में स्वराज्य स्थापित करना है।" वे नारी सेना का संगठन करने में भी सक्षम थी उनके समय में स्त्रियाँ जासूसी करती थी, तलवारे चलाती थीं, घुड़सवारी करती थीं और तोपे सम्भालती थी। झाँसी में विशेषतया विन्ध्यखण्ड में साधारणतया स्त्री की अपेक्षाकृत स्वतंत्रता और नारीत्व स्वस्थता लक्ष्मीबाई के साथ बहुत सम्बद्ध है।[2] यहाँ की नारियों के मन में गीता के कर्मयोग का जो आदर्श भरा हुआ है वही तो लक्ष्मीबाई के मुँह से फूट पड़ा ——

"स्मरण रखो हमको केवल कर्म करने का अधिकार है, फल पर नहीं। दृढ उद्देश्य और निरन्तर कर्म करना हमारा उद्देश्य है। जीवन कर्तव्य पालन का नाम है ..... कर्म पालन करते हुए मरना जीवन का ही दूसरा नाम है। जो लोग अंग्रेजों से डरते हों, मौत से डरते हों, वे हथियार रखकर आराम के साथ अपने घर चले जायें। जो लोग स्वराज्य के लिए प्राण विसर्जन करना चाहते हों वे मेरे पास बने रहें।"[3]

इसी प्रकार दुर्गावतीके चरित्र से कर्तव्य परायणता, स्नेहिल पत्नी, उत्तरदायी माता, प्रजावत्सल रानी और जनहित चिन्तक शासिका के रूप में नारी जाति का गौरव स्पष्ट हुआ है।[4]

पुरुषों में माधव जी सिन्धिया का चरित्र यहाँ के महापुरुषों का प्रतिनिधित्व करता है। त्याग, बलिदान, नम्रता, सुशीलता, सहिष्णुता, उदारता और साँस्कृतिक प्रेम उनके चरित्र के उज्जवल पक्ष हैं।

नारी पात्रों में मृगनयनी सामान्य गूजरी जाति की है जो बुन्देलखण्ड की नारी जाति का प्रतिनिधित्व करती है। लेखक ने उसे अत्यन्त सहिष्णु, उदार, एवं जन

1- झाँसी की रानी,

2- झाँसी की रानी, पृ0 320

3- वही, पृ0 395, 396

4- दुर्गावती, उपन्यास के आधार पर

साधारण के प्रति असीम मोह, सहानुभूतिमयी चित्रित किया है। वह इतनी सरल है कि राज्यरानी हो जाने पर लाखी का अनुराग नहीं भूल पाती। जब बड़ी रानी सुमन मोहनी उस पर व्यंग्य करतीहै और उसके प्रति षडयन्त्र रचती है तब भी वह अपनी सहनशीलता का परिचय देती हुई चुपचाप सहन कर लेती है। इस दृष्टिकोण से कि आन्तरिक कलह न हो। उसकी उदारता का प्रमाण उसके इस कथन से मिलता है ——

"राजसिंह और बालासिंह गद्दी या जागीर के अधिकारी नहीं होगें। वे अपने बड़े भाई की आज्ञा का पालन करते हुए केवल अपने कर्तव्य का निर्वाह करेंगे। इस लेख की एक प्रतिलिपि महारानी सुमन मोहनी के पास आज ही भेज दी गयी है।"[1]

इससे मृगनयनी के उदारता के साथ ही साथ कर्तव्य परायणता एवं शान्तिप्रियता का पता चलता है। लाखी का चरित्र एक सामान्य ग्रामीण नारी का चरित्र है जिसमें स्वाभिमान, स्वाभाविक राग द्वेष, भय, तृष्णा तथा वासना आदि के दोष भी विद्यमान है। लाखी का अपूर्वसाहस, संघर्षों से जूझने की अक्षुण्ण शक्ति अन्याय और सामाजिक विरोध से लोहा लेने की क्षमता उसमें विद्यमान है। उसके बुन्देलखण्डी नारी का स्वाभिमान समय समय पर बोल उठता है। तभी तो वह कह उठती है ——

"कोई मुझको यदि किसी की चेरी कहे, चाहे मेरी वह निज की ननद ही क्यों न हो तो मैं नहीं सह सकूँगीऔर न यह सह सकूँगी कि तुमको राजा का दास या रोटियारा कहे। हम लोगों को भगवान ने भुजाओं में बल दिया है और काम करने की लगन।"[3]

इस कथन से स्पष्ट है कि बुन्देलखण्ड की नारी में स्वाभिमान कूट-कूट कर भरा हुआ है। वह अपने सम्मान के साथ ही साथ अपने पति के सम्मान को भी सुरक्षित रखना चाहती है। उसमें परिश्रम करने की क्षमता है और लगन तथा आत्म विश्वास

1- मृगनयनी, १८८

2- मृगनयनी २०२

की झलक है। यह विशेषताएँ केवल लाखी की ही नहीं सामान्यतया बुन्देलखण्ड मात्र की नारी स्वभाव की विशेषताएँ है। झलकारी के रूप में लेखक ने सामान्य नारी के चरित्र बल पर प्रकाश डाला है। वह अपने को कुदृष्टि से देखने वाले व्यक्ति को स्वयं दण्ड देने का साहस कर सकती है। जैसा कि झलकारी के इन शब्दों से प्रकट होता है —

"जो नठिया मेरी ओर देखत तो? ई के का मताई बैनै न हुइयें।......
मोरे मन में तो जाउत कै पनैया उतार कैमूछन वेर के मोपैं चराचट दै ओ।"[1]

यहाँ की नारी वाक् चातुर्य में भी निपुण है। उदाहरणार्थ — बखिन का चरित्र देखा जा सकता है।[2]

बुन्देलखण्ड के लोग निर्धन होते हुए भी विनोदप्रिय होते हैं। उदाहरणार्थ मृगनयनी में होली के रंग भरे त्यौहार का जो चित्रण किया गया है उसमें स्त्री पुरूष मिलकर होली खेलते हैं, भाभियाँ देवरों को दौड़ धूप में हराने का प्रयत्न करती है, उन पर कीचड़ के लड्डुओं से प्रहार करती है, ननद भावजे एक दूसरे पर धूल और कीचड़ उछालती हैं। सन्ध्या समय ग्राम्य मंदिर में एक साथ रसिये गाते हैं, सह भोज होता है और स्त्रियाँ गाते-गाते नृत्य में मग्न हो जाती हैं। ग्वालियर के सैनिक तो होली को और वीभत्स ढंग से मनाते हुए चित्रित किए गये हैं। कुछ गधों पर सवार थे, कुछ मुछाड़िये सैनिक स्त्रियों के वेष में थे। कुछ देर के बाद हुल्लड़ करने वाले भंग की तरंग मेंबहस करते करते एक दूसरे के फटी वीणा और टूटे तम्बूरे से लेकर टूट पड़ते हैं और खेल खिलवाड़ में मारपीट होने लगती है।

उक्त चित्रण से यह सिद्ध होता है कि बुन्देलखण्ड का सांस्कृतिक जीवन के लिए अपनी विनोद प्रियता के लिए परम प्रसिद्ध है। उसमें एक दूसरे के प्रति कोई जातिगत आदि भेद नहीं रह जाते हैं। वे निश्छल और निष्कपट भाव से एक दूसरे के प्रति व्यवहार करते हैं।[3]

वर्मा जी ने सामान्यतया जनता का दरिद्र जीवन ही चित्रित किया है। उन्हें उनके प्रति गहरी सहानुभूति भी थी । वे लिखते हैं कि यहाँ के निवासी निर्धन

1- झाँसी की रानी, ३३०

2- वही, "

3- मृगनयनी, पृ0 4-22

होते हुए भी मस्ती से फागें और राछरें गाते हैं, जो युगों तक दलित शोषित होते हुए भी स्वाभिमान पूर्वक अपनी संस्कृति और सभ्यता को सुरक्षित रखने में समर्थ रहे हैं, जो झीलों और नदियों के किनारे नाचते हैं और अपनी कल्पनाओं में मस्त हो जाते हैं। जो प्रकृति की बाधाओं और विपत्तियों से जूझकर वन के वृक्षों में समान जीवनी - शक्ति प्राप्त करते और बढ़ते हैं। वर्मा जी ने बुन्देलखण्ड के आदर्शों का चित्रण नहीं किया अपितु उन्होंने यह भी दिखलाया है कि यहाँ का जीवन जहाँ त्याग, बलिदान, साहस और शौर्य के लिए प्रसिद्ध है वहीं कुछ दोष ऐसे है जो उसे भीतर ही भीतर घुन की भाँति खोखला करते जाते हैं। उदाहरणार्थ —— पारस्परिक कूट, अदूरदर्शिता जातिगत दम्भ और रूढ़िग्रस्तता जैसे दोष दिखलाने में उपन्यासकार ने पूरी निष्पक्षता का परिचय दिया है।

यहाँ के लोग प्राचीन गाथाओं को बड़े उत्साह और गौरव के साथ सुनते और सुनाते हैं। स्वयं वर्मा जी ने दुर्जन कुम्हार, छोटू नाई, वृद्ध दांगीऔर कथा - कहानियों के भण्डार स्वरूप नन्दू पुरोहित से बुन्देलखण्ड की बहुत सी गाथायें सुनी थी और अपने साहित्य में उनका उपयोग भी किया है। इस प्रकार वर्मा जी ने आठवीं शताब्दी से लेकर 19 वीं शताब्दी तक की बुन्देलखण्डी सामाजिक झलक अपने उपन्यासों में चित्रित की है।

निष्कर्ष रूप में यह प्रतीत होता है कि वर्मा जीने बुन्देलखण्ड के लोक जीवन को बड़ी ही तन्मयता एवं यथार्थवादी दृष्टि कोण से प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। यहाँ के जीवन में जहाँ एक ओर अक्षय शौर्य, स्वाभिमान, उत्तेजना, एवं गर्व की झलक है, वहाँ दूसरी ओर उसके करूणा , दया, मैत्री, सहानुभूति , वात्सल्य, निश्छलता, परोपकार, आस्था, विश्वास, नैतिकता, उदारता एवं सहृदयता जैसी सुकुमार विशेषताएँ भी विद्यमान है। यहाँ का जीवन दैन्य से भले ही अभिशप्त हो किन्तु उसका हृदय पर्याप्त उदार है। दुःखों को सहकर मुस्कराना उसकी प्रवृत्ति है। वह अभावों में जी लेता है, अशिक्षा में निर्वाह कर लेता है, अभिशापों को झेलकर भी वरदानों को वरदानों को आकर्षित करता है, वह टूट भले ही जाये किन्तु शत्रु से नहीं

झुक सकता है। कर्तव्य परायणता एवं परिश्रम के बल पर वह अपनी गृहस्थी की गाड़ी चलाता है। यह बात दूसरी है कि ऋण का भार उसकी कमर तोड़ देता है। पूँजीपति एवं सामन्त लोग उसका शोषण करते हैं। किन्तु विवशता में वह उनके साथ कुछ भी नहीं कर पाता। यहाँ के जन-जीवन में कुछ दुर्व्यसन भी है उदाहरणार्थ वह विवाहादि उत्सव में इतनी अधिक उदारता करता है कि उसका व्यय अपव्यय की श्रेणी तक पहुँच जाता है। इतना ही नहीं दुर्व्यसनों का बोझ उसके आर्थिक ढाँचे को चरमरा देता है। फिर भी वह हृदय से अक्खड़ और वचन से फक्खड़ है। 'पाली बाई तो जिन्दगानी की काम की', इस उक्ति को लेकर वह जीता है। यदि अंधविश्वास अशिक्षा और रूढ़ियों ने उसे न जकड़ा होता तो सम्भव है कि बुन्देलखण्ड का जन जीवन बहुत कुछ उन्नत हो गया होता।

अष्टम अध्याय

आंचलिक बोध-चित्रण की विविध विशेषताएँ

अष्टम अध्याय

आंचलिक बोध-चित्रण की विविध विशेषताएँ

(क) वर्मा जी के उपन्यासों में स्वानुभूति मूलक आंचलिकता

आंचलिकता का क्या तात्पर्य है, उसका विषय क्षेत्र कितना है? इन बातों पर इसशोध प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। वर्मा जी के उपन्यासों में आंचलिकता के जो रूप प्राप्त होते हैं उन्हें हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(1) स्वानुभूतिमूलक आंचलिकता।

(2) अन्यान्यमूलक आंचलिकता।

वर्मा जी बुन्देलखण्ड क्षेत्र के ही निवासी है और यहीं पर उनका समस्त जीवन व्यतीत हुआ है इसलिए वे इस क्षेत्र की समस्त विशेषताओं से भली भाँति परिचित हैं। यहाँ की नदियाँ, पर्वत, वन, उपवन, तीर्थ स्थान, ऐतिहासिक स्थान, प्राकृतिक स्थल, विभिन्न दुर्ग और खण्डहर, लोक संस्कृति, लोक साहित्य, लोकभाषा, लोक सूक्ति और लोकोक्ति के अतिरिक्त यहाँ के देशकाल वातावरण से भी भली भाँति परिचित हैं। यहाँ प्रचलित होने वाले व्रत, त्योहार, लोकगीत आदि से भी वे परिचित रहे हैं। अतः उनके उपन्यासों में बुन्देलखण्डी आंचलिकता का सस्वानुभूतिमूलक रूप मुखर है। एक आलोचक के शब्दों में —

"वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में आचलिकता के तत्व ही उपलब्ध हो सकते हैं, वे सम्पूर्णतया आंचलिक नहीं कहे जा सकते। उनके उपन्यासों में बुन्देलखण्ड की भयावह- बीहड़ परन्तु प्रकृति का वहाँ के नदी-नालों, टौरियों-कछारों, चाँदनी में गाती और झूमती हुई अनाज की बालों और जंगली पशुओं से आक्रान्त जंगलों का काव्यमय वर्णन मिलता है। बुन्देलखण्ड के भोले भाले निवासियों के रहन सहन वेशभूषा, रीति-रिवाज, भोजन और उत्सव त्योहारों की झाँकी भी मिलती

है। परन्तु उनमें इतिहास ही प्रधान है।"[1]

परानुभूति मूलक आंचलिकता से हमारा तात्पर्य आंचलिकता के उन तत्वों से है जिनका अनुभव लेखक परम्परा के रूप में प्राप्त है। उदाहरणार्थ उनके अनेक कथानकों के अंश ऐसे हैं जो किसी मित्र से प्राप्त हुए हैं, अथवा किसी संबंधी या सुपरिचित व्यक्ति ने बतलाये है। निश्चित रूप से उनमें आंचलिकता तो है किंतु उसमें लेखक स्वानुभूति का रंग नहीं चढ़ पाया है। ऐसी विशेषताएँ परानुभूति - मूलक आंचलिकता के क्षेत्र में आती हैं। इस अध्याय में हम इन दोनों बातों पर प्रामाणिक रूप से विचार प्रस्तुत करेंगे।

यद्यपि स्वानुभूति मूलक आंचलिकता के तत्व अधिक हैं क्योंकि वर्मा जी बुन्देलखण्ड की चप्पा-चप्पा भूमि से सुपरिचित हैं किन्तु बड़ा से बड़ा लेखक क्यों न हो उसे कहीं न कहीं परानुभूति से काम लेना ही पड़ता है।

अस्तु, परानुभूति मूलक आंचलिकता का भी उल्लेख करना, उसकी गवेषणा करना शोधक का परम कर्तव्य है। सर्व प्रथम वर्मा जी के उपन्यासों की स्वानुभूति मूलक आंचलिकता का चित्रण करने के लिए यह विचार कर लेना चाहिए कि यहाँ पर हम किन किन तत्वों पर विचार प्रस्तुत करें। आवश्यकता की दृष्टि से वर्मा जी की स्वानुभूति मूलक आंचलिकता को हम निम्नलिखित छः अंशों में विभक्त करते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य तत्व प्रकारान्तर से कहीं न कहीं किसी न किसी शीर्षक में उल्लिखित हो चुके हैं। अतः उनका यहाँ पर पिष्ट पेषण करना अनावश्यक है। आंचलिकता के वे सात तत्व जिन पर हम वर्मा जी की स्वानुभूति का विश्लेषण करना चाहते हैं, इस प्रकार हैं ——

(1) बुन्देली भाषा।

(2) ग्राम देवताओं का वर्णन।

(3) प्रकृति चित्रण

(4) आखेट एवं शिकारी जीवन

(5) किम्वदन्तियाँ एवं लोक कथाएँ।

(6) दुर्ग तथा खण्डहर।

1- हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यास और मृगनयनी, पृ0 140

(1) बुन्देली भाषा :—

वर्मा जी की जन्म भूमि मऊरानी पुर है और उनका निवास स्थल झाँसी नगर है। इन दोनों स्थानों में बुन्देली भाषा अपने मूल रूप में बोली जाती है। इस कारण स्वतः अपने जीवन में भी वर्मा जी बुन्देली भाषा का प्रयोग करते रहे हैं। अतः बुन्देली भाषा की सूक्ष्मताओं से वे विशिष्ट परिचित रहे यहाँ कि लोकोक्तियाँ एवं मुहावरे, यहाँ की चुभती हुई शब्दावली, कथन शैली, वाक्यों का उतार चढ़ाव, स्वर वैशिष्ट्य, ध्वन्यात्मकता आदि अनेक विशेषताएँ अनायास ही औपन्यासिक भाषा में भी अभिव्यक्ति पा गयी हैं। यहाँ पर उनका विलेषण प्रस्तुत है।

'न मालुम कितने सैयदों को तो हम कच्चा गटक गये हैं।'[1] यहाँ पर रेखांकित अंश लोक जीवन में बहुधा प्रयुक्त होता है जिसे खड़ी बोली में कच्चा खा जाना कहते हैं इसमें वस्तु ध्वनि का चमत्कार व्यंग्य है। 'काका जू, एक हाथ मोराई देखने में आवे।'[2] बुन्देलखण्ड में 'जू' आदर वाच्य है जो पूज्यों के लिए प्रयुक्त होता है। यह वाक्य पूर्ण रूप से बुन्देली भाषा का है जिसका तात्पर्य है एक हाथ मेरा भी देखने में आवे। इस कथन में वक्ता की शालीनता छिपी है। दुल्हा तलवार भाँजता हुआ अपना भी एक हाथ दिखाने के लिए काका जी से आज्ञा लेना चाहता है। किन्तु आज्ञा माँगने की यह शैली विशुद्ध रूप से बुन्देलखण्डी है। अन्यथा एक हाथ मैं भी दिखाना चाहता हूँ, इस अर्थ का बोधक भी वाक्य बन सकता था किन्तु उसमें विनम्रता और वैसी शालिनता कहाँ से आ सकती थी। वर्मा जी ने बुन्देली भाषा पर एकाधिकार करके उसकी वाक्य कुशलता का आत्मसात किया हुआ रूप कितना सुरक्षित रखा है, इसे बुन्देली के विज्ञ व्यक्ति ही जान सकते हैं

'जीभ वार्तालाप के लिए लौक सी रही थी।'[3] बुन्देलखण्ड में वेदनापूर्ण चुलबुलाहट के लिए 'लौकना' क्रिया का प्रयोग होता है। यहाँ पर पर भाषा की

1- विराटा की पद्मिनी, पृ० 13

2- वही, पृ० 29

3- वही, पृ० 63

अभिव्यंजना शक्ति दर्शनीय है जिसका तात्पर्य यह है कि हिवा बात करने के लिए आतुरता के साथ उतावली हो रही थी। एक साथ लक्षणा और व्यंजना के चमत्कार के साथ उपमा का स्वरस्य भाषा की प्रभावशीलता को कितना अधिक बढ़ा देता है यह है वर्मा जी की भाषायी विशेषता।

'एल्लो, हमई से टिटकरी करन आये, दर्शन कौ नईं आये, इतै तौ कायकै लानै आये इत्ती दूर से? संसार भर के राजा राव नित्त अउत रहत।'[1]

इस बुन्देली वाक्य कदम्ब का खड़ी बोली रूप यह होगा – यह लो हमसे ही ठिठौली करने आये हो दर्शन को नहीं आये तो यहाँ किसलिए आये इतनी दूर से, संसार भर के राजे महाराजे नित्य आते रहते हैं।' उक्त वाक्य के पढ़ने से प्रतीत होता है कि वर्मा जी को भाषायी आंचलिकता का कितना ज्ञान है। एल्लो, टिटकरी, इतै, कायकै लानै, आदि ये शब्द अपनी स्वतंत्र महत्ता रखते हैं। व्यंग्य और विनोद के साथ वाक्य की कथन शैली कितनी प्रभावशील लगती है।

'ए दाऊ जू, हमने पैलउपैल देखौ तब आँखें मिच गईं हतीं। उनके नेत्रन मे से झार सी निकर रईं हती।'[2] यहाँ पर 'दाउ जू' शब्द चाचा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है इसी प्रकार 'पैलउपैल' शब्द पहले पहल अर्थ में आया है। सम्पूर्ण वाक्य का खड़ी बोली में यह रूपान्तर होगा 'हैं चाचा जी हमने जब पहले पहल देखा तब आँखें मिच गयी थी उनके नेत्रों से लपट सी निकल रही थी। यहाँ पर सम्बोधन तो पूर्णतः आंचलिक है और वाक्य का ढाँचा भी बुन्देली है केवल नेत्रन' शब्द बुन्देली का नहीं है।

'पहले मारे सो ठाकुर पीछें मारे सो फिसड्डी।'[3] यह कहावत बुन्देलखण्ड में प्रचलित है इसका तात्पर्य यह है कि जो पहले प्रहार करता है वह राजा है अर्थात् वह विजयी होता है और जो पीछे मारता है वह पराजित या पिछड़ा हुआ होता है। उक्त कहावत वाक्य के आवरण में आकर कितनी सटीक बैठती है, यह विचारणीय है।

1-विराटा की पद्मिनी, पृ0 136

2- वही, पृ0 137

3- वही, पृ0 199

'काये जू किते जा रए?'[1] अर्थात् क्यों जी किधर जा रहे हो? यहाँ पर वाक्य की मधुरता और संक्षिप्तता है। बुन्देली में प्रायः पूरक क्रियाएँ हैं, था, आदि कम आती है। जैसा कि यहाँ 'जा रहे हो' इस अर्थ मे 'जा रए' का प्रयोग हुआ।

'मोरे घर से आग त्याई नाँव धरों बैसादुर।'[2] यह एक बुन्देलखण्डी मुहावरा है जिसका अर्थ होता है कि मेरे घर से आग लेकर दूसरे के घर में बसन्दर बनाना। अर्थात् हमसे उधार लेकर अपना महत्व बनाना। भाषा की लक्षणा एवं व्यंजना शक्ति का यह उदाहरण कितना सटीक है जिसमें शब्द शब्द आंचलिक है।

'जा लड़ाई डाँग में कराउन आये राजा, बरै उनको लच्छिन। कुण्डार में कराउते तो मुलक जनी मांस देखवे खौं आउतीं।'[3] इस वाक्य में बुन्देलखण्डी भाषा के साथ ही साथ वाक्य के गठित आकार का विचार करने से प्रतीत होता है कि कर्ता 'राजा' शब्द है जो वाक्य के मध्य में प्रयुक्त हुआ है। अर्धांश के पश्चात् लोक जीवन की कोसने वाली गाली का भी प्रयोग कर दिया गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण वाक्य व्यंग्य से प्रभावित है।

'बीसों मानुस खा डाले है इस राच्छिस ने।'[4] अर्थात् इस 'राक्षस' ने बीसो मनुष्य खा डाले हैं। यहाँ पर एक नाहर के लिए 'राच्छिस' शब्द का प्रयोग किया गया है जो गौणी लक्षणा के द्वारा अर्थबोधक है।

इसी प्रकार वर्मा जी के उपन्यासों में यत्र तत्र बुन्देली भाषा के सार – गर्भित चुभते हुए प्रयोग मिलते हैं जिनसे यह प्रमाण मिलता है कि वे बुन्देलखण्ड की भाषाशैली का कितना व्यापक ज्ञान रखते हैं।

ग्राम्य देवता :—

बुन्देलखण्ड में अनेक देवी देवताओं की पूजाएँ प्रचलित हैं। जिनमें लोक विश्वास की झलक औरस्थानीय आंचलिकता का रूप रूढ़ि के रूप में दिखलाई पड़ता

1- संगम, पृ0 10

2- वही, पृ0 136

3- गढ़ कुण्डार, पृ0 328

4- दुर्गावती, पृ0 3

है। उदाहरणार्थ गोंड़ो और शबरों में गौंड बाबा, धटौरिया बाबा, नाग देवता आदि विविध ग्राम्य देवताओं की मान्यता प्रचलित है। यथा —

'अरे गोंड बाबा की बात न कहो। भवानी और गौंड बाबा ये दो ही देवी देवता तो संसार के रखवाले हैं।' महादेव बाबा तो सब के ऊपर हैं। अपने अपने ठौर पर सब बड़े हैं। का का जू को भी बड़ा प्रचण्ड देवता होना है। चबूतरा बँध गया है। अखाड़ा में बैठक होगी नौनी के बाल बच्चा नहीं होत असाढ की बैठक ~~होनी~~ में बैठक करायी जाये।"[1]

उक्त उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि यहाँ की जनता में क्षेत्रीय देवताओं की कितनी मान्यता है। अन्धविश्वास में जकड़ा हुआ यहाँ का जन जीवन इसी प्रकार की रूढ़ियों में पिसता जा रहा है। कुछ वृक्ष भी ऐसे होते है जिनके देवता मानकर उनकी पूजा करते हैं। यथा — साज कितना सीधा विशाल और मनोहर पेड़ होता है? गौंडवाने में बहुत होता है गौंड उसकी पूजा तक करते हैं ...... सब गोंड उसकी पूजा नहीं करते। राज गोंड पूजा तो नहीं करते पर दूर से सिर नवा लेते हैं।"[2]

उक्त उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि गोंडवाने में 'साज' नामक पेड़ की पूजा प्रचलित है। क्योंकि उसको देवताओं के समकक्ष मान्यता प्राप्त है। विन्ध्य क्षेत्र में विन्ध्यवासिनी की विभिन्न पूजा विधियाँ प्रचलित है उनके साथ अनेक किंवदन्तियाँ भी जुड़ी हुई हैं। उदाहरणार्थ गढ़ कुण्डार उपन्यास में जगदास विन्ध्यवासिनी की घोर उपासना करता है और स्वप्न में सफलता का वर भी प्राप्त करता है देवी के प्रत्यक्ष दर्शन की प्रार्थना के असफल होने पर वह अपने हाथ से ही अपने गले पर खड्ग का प्रहार करता है जिससे केवल एक बूँद निकलती है और देवी प्रगट होती है।[3]

कुण्डार से चलकर भरतपुरा के मार्ग में पुराने समय का एक टूटा-फूटा चबूतरा है और पत्थरों का ढेर लगा हुआ है 'नदी से पूर्व की ओर आध मील दूर

1- कचनार, पृ0 86

2- दुर्गावती, पृ0 10

3- गढ़ कुण्डार, पृ0 102

लकड़ा देव के नाम से विख्यात है। वह उस समय भी था और जैसे आज कल लोग एक सखी लकड़ी पूजा भाव से इस चबूतरे के पास लकड़ादेव के नाम पर पढ़ देते हैं वैसा पहले भी करते थे।"[1]

इससे प्रतीत होता है कि लकड़ा देव भी एक ग्रामीण देवता हैं जो भरतपुरा क्षेत्र से आधामील पूर्व हैं। इस प्रकार के अन्धविश्वासों में ग्रामीण जीवन कितनी बुरी तरह से जकड़ा हुआ है। यहबात उक्त उल्लेख से स्पष्ट है। उक्त देवी देवताओं के अतिरिक्त घटौरिया बाबा और गोंड बाबा भी निम्नश्रेणी के व्यक्तियों में पूजा प्राप्त करते हैं। यथा —

"ओ घाट के घटौरिया देवता, ओ गोंड बाबा , हम लोग वहाँसूने में अकेले पड़े हैं।" नट ने भयातुरता प्रकट की।"[2]

क्षेत्रीयता के आधार पर यह रूढ़ियाँ जनता के हृदय में घर कर गई है जिनको अपने अनभव के आधार पर वर्मा जी ने समझने की पूर्ण चेष्टा की है। महोबा क्षेत्र में चन्देलों की कुलदेवी के रूप में मनिया देवी की पूजा होती हैजो चन्देलों की कुलदेवी मानी जातीहै और राजगोंडो की भी कुलदेवी है।[3] भैरव देवता के विषय में भी विभिन्न लोकविश्वास जुड़े हुए हैं। यथा —

' "एक दिन सन्यासी ने राजा से कहा आज मेरी पूजा साधना सफल होने वाली है — भैरव देवता के दर्शन आधी रात के समय होंगे, उस समय तुम भी आ जाओ और भैरव देवता के प्रत्यक्ष दर्शन करके वरदान प्राप्त कर लो।"[4]

इसी प्रकार ग्राम- ग्राम में विशिष्ट ग्राम देवताओं का पूजन सारे बुन्देल खण्ड में प्रचलित है वर्मा जी ने तो प्रतीकात्मक रूप में उनकी झलक मात्र प्रस्तुत की है इससे सिद्ध होता है कि अन्त्यज वर्ग में देवी देवताओं पर क्षेत्रीयता के आधार पर

1- गढ़ कुण्डार, पृ0 135

2- मृगनयनी, पृ0 146

3- दुर्गावती, पृ0 38

4- दुर्गावती, पृ0 39

कितना घना विश्वास किया जाता है। भले ही हम इनको रूढ़िया कहें किन्तु यहाँ के लोग उनसे इतने प्रभावित हैं कि वे उनका पीछा नहीं छोड़ सकते। वर्मा जी ने यहाँ इस विशेषता को समझ कर उसे यथा स्थान चित्रित करने की पूर्ण चेष्टा की है।

प्रकृति चित्रण :——

बुन्देलखण्ड अपने प्राकृतिक दृश्यों के लिए परम प्रसिद्ध है। यहाँ के बीहड़ वन शेर आदि भयानक हिंसक जन्तुओं से व्याप्त हैं। यहाँ की सरिताएँ अपने= भीषण एवं सुन्दर रूप के लिए पथिकों को आमन्त्रित करती है। तेन्दु, करधई, धावा आदि के वृक्ष अपनी स्वाभाविक गरिमा लिए हुए आंचलिकता की साक्ष भरते हैं। दूर दूर तक फैली हुई पर्वत श्रृंखलाएँ अपने प्राकृतिक सौन्दर्य से किसका मन नहीं लुभा लेतीं। यहाँ के खनिज पदार्थ आचार, तेंदू, आँवला आदि फल वृक्षों में विशेष सौन्दर्य भर देते हैं। यहाँ की वर्षा कितनी सुहावनी लगती है इसे हम कई स्थलों पर स्पष्ट कर चुके हैं। ऋतु वर्णन में हमने स्पष्ट किया है कि वसंत ऋतु यहाँ अपने कितने सुन्दर रूप में स्पष्ट होती है।

वर्मा जी के उपन्यासों में प्रकृति के अनेक भव्य एवं भीषण दृश्य अपनी आंचलिकता लिए हुए सजीव होकर दर्शक का आवाहन करते से प्रतीत होते हैं। यहाँ पर आंचलिक प्रकृति के कतिपय प्रमुख उद्धरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं जिससे वर्मा जी की प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है।

उनके उपन्यासोंमें सबसे प्रभावशील वे चित्र है जहाँ प्रकृति और मानव का घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित किया गया है। घटनाओं के साथ प्रकृति की स्वाभाविक सहायता से उनमें सजीवता आ गयी है। ये प्राकृतिक दृश्य पृष्ठभूमि का निर्माण करते हुए वातावरण की सृष्टि करते हैं और ह हृदय को उत्सुकता से भर देते हैं। यथा –

"गढ़ी में इस लिए के नीचे एक बड़ा पेड़ था जिसकी गुम्मट और साखें ऊपर तक आयी थीं। जिसकी छाया में वे किसान पहरा देते सो उठे थे, लाखी उत्सुकता के साथ बैठ गयी उसकी आँखों में नींद या ऊँघ का लेशमात्र भी न था, थोड़ीदेर

बैठी रहकर वह खड़ी हो गयी, कँगूरों के झरोखों से होकर नीचे देखा। अतुल अंध-कार। निविड़ वन का कोई भी अंश नहीं दिखलाई पड़ रहा था ऊपर तारे छिटके हुए थे दूर की पहाड़ियाँ लम्बी ताने सोती सी जान पड़ती थी। टेढ़ी तिरछी बहती हुई सी साँक नदी की पतली रेखा जरूर झाईं से मार रही थी दूरी पर डेरा डालने वालों के डेरे की आग सुलग सुलग कर राई गढ़ी के संकट को जगा-जगा दे रही थी। वैसेराई की डाँग से नाहर इत्यादि जंगली जानवर रात में प्रायः बोला करते थे, परन्तु आक्रमणकारियों की रौंदा रौंदी के मारे वे बहुत दूर खिसक गये थे। सिवाय झींगिरों की चीं चीं और कुछ नहीं सुनाई पड़ता था।"[1]

उक्त वर्णन में प्रकृति की नीरवता के वातावरण के निर्माण करने में कितनी सहायक सिद्ध हुई है। मानव जीवन प्रकृति के साथ कितना घुलमिल गया है। वर्मा जी ने पृष्ठभूमि के रूप मेंप्रकृति के बड़े सुन्दर चित्र उतारे हैं। उदाहरणार्थ - 'मृगनयनी' उपन्यास में बरसात की समाप्ति पर महमूद बघर्रा पचास हजार घुड़-सवारों को लेकर मांडू की दिशा में आ रहा था। लगभग वर्षा ऋतु का अंत था वर्मा जी ने उस समय का कैसा विचित्र वातावरण प्रस्तुत किया है। दक्षिण की वायु वेग से चल रही थी। परन्तु नदियाँ और बडे नाले अब भी अपने उन्माद पर थे। ऊँची नीची पहाड़ियों और नदियों के बीच के मैदान हरियाली से लद गये थे। जंगल में कोसो तथा मैदानों के पार्श्वों तक वृक्ष विशाल चमत्कार और हरियाली से भर गये थे। पहाड़ों की चोटियों के किनारे किनारे लहलहाते वृक्षों के पंक्तिबद्ध समूह कंगूरों पर नाचते हुए मोरों जैसे प्रतीत होते थे। उन पर इधर से उधर उड़ते हुए सुओं तोतों की पाँत हरियाली की होड़ सी लगाती थी।"[2]

संध्या के पश्चात् प्रकृति का एक छोटा सा दृश्य कितना मनमोहक लगता है? यथा —

"साँझ के बाद का समय। ठण्डी हवा, खुली हुई लम्बी-चौड़ी खिड़कियों से दक्षिणी मंद समीर के भीने भीने झोंके चन्द्रमा की मुस्काने महल के नीचे की वृक्षा-वलि पर।"[3]

1- मृगनयनी, पृ0 426

2- मृगनयनी, पृ0 85

3- वही, पृ0 153

यह चित्र भी पृष्ठभूमि के निर्माण में सहायक सिद्ध हुआ है। पृष्ठ-भूमि के रूप में लेखक जब प्रकृति का आश्रय लेता है तब मानव जीवन का रहस्य स्वतः उसमें प्रतिबिम्बित हो उठता है। मानसिंह और मृगनयनी महल की छत पर थे अतः दाम्पत्य जीवन रागात्मक तत्व की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करती हुई सी प्रकृति कितनी मादक कितनी सुन्दर और कितनी उत्प्रेरक चित्रित की गयी है। यथा —

"उस दिन सबेरे से ही यकायक ठण्डी हवा चली और तीसरे पहर तक चलती रही। चौथे पहर झन्झावात तो रूका परन्तु ठण्ड बढ़ गयी। पश्चिमी पहाड़ियों के ऊपर सूर्य दमदमाती हुई बड़ी बिन्दी की तरह लग रहा था। किरणों का तीखापन मानो ठण्डी हवा के साथ कहीं उड़कर चला गया था। ग्वालियर के उत्तर पूर्वऔर उत्तर पश्चिम की पहाड़ियाँ धूमरे कुहासे में रहस्यमयी हो रही थी। पूर्व की दिशा की आड़ी पहाड़ियों तक मैदान में किरणों ने मानो सुनहरी रज छिड़क दी हो।"[1]

वर्मा जी ने प्रकृति के मानवीकरण रूप का बड़ा जीता जागता रूप प्रस्तुत किया है। यथा —

"रात का समय था। काली रात थी। आकाश में तारे टिमटिमा रहे थे। पवन ने पेड़ों को चूमकर सुला सा दिया था। बेतवा अचेत पत्थरों से निरंतर टकरा कर अनन्त कल-कल शब्द रच-रचकर रह-रह जाती थी।"[2]

यहाँ पर लेखक ने पवन तथा बेतवा का कितना सुन्दर चेतन रूप प्रस्तुत किया है। सायंकाल के चित्रण करने में भी वर्मा जी की लेखनी ने कमाल किया है। यथा —

"एक सघन वृक्षकुंज के पास बड़ा सा पोखरा था वृक्ष कुंज की पृष्ठ-भूमि में एक सीधी पहाड़ी की उसकी केवल चोटी नंगी थी। शेष भाग ऊँचे घने पेड़ो में भरा हुआ था। सूर्य ि की किरणें ढालू हरियाली पर हल्दी के टीके से लगा रही थी। चोटी की चट्टानें उन किरणों के स्नान में स्तब्ध चुनौती रे रही थी दिन डूबने

1- मृगनयनी, पृ0 227

2- विराटा की पद्मिनी, पृ0 268

में घड़ी-दो घड़ी की ही देर थी। पोखरे की मछलियाँ उछल उछल कर सुनहली किरणों को अपनी चमकती आँखों में मानो संजो लेना चाहती हों।"[1]

उक्त वर्णन प्रकृति के आलंकारिक रूप का कितना सुन्दर उदाहरण है जिसमें काव्यात्मकता अपने स्वाभाविक रूप में विद्यमान है। वर्मा जी ने प्रकृति संधि के बड़े सुहावने चित्र उतारे हैं। बसंत और ग्रीष्म का एक संधि चित्र देखिए —

"अभी गरमी ने ऋतु पर अपना अधिकार नहीं जमा पाया था। सागर की झील एक एक लहर पर कलोल करने वाली सांध्य रश्मियों को बसन्त के मेघों ने घेर लिया था हवा धीमी थी और नीचे पुष्प पराग से लदी हुई। संध्या के बाद मेघ और पवन दोनों कुछ और सघन हुए।"[2]

प्रकृति के आलंकारिक एवं मानवीकृत रूप का सम्मिलित चित्र उतारने में भी वर्मा जी सिद्धहस्त थे। यथा —

"सूर्य की कोमल किरणें वृक्ष शिखाओं की झुरमुटों की अनावरत वन-स्थली पर बिछौना सा बिछाये हुए थीं। पलोथर कुण्डार और दक्षिणी वर्ती सारौल की पहाड़ियाँ इन झुरमुटों के ऊपर ऊकडूँ सी बैठी या लेटी मालुम पड़ती थीं। कुण्डार गढ़ के बुर्ज प्रकाश में चमक रहे थे। गिरि श्रेणियाँ ऐसी मालुम पड़ती थीं मानों भीमकाय अटल सैनिक जुझौति के इस खण्ड की रक्षा के लिए डटे हों।"[3]

यहाँ पर सूर्य की किरणों का आलंकारिक रूप और पहाड़ियों का मानवीकरण रूप दोनों ने मिलकर दृश्य को कितना सजीव बना दिया है। वर्मा जी प्रकृति के कोमल रूप का चित्रण करने में भी सिद्धहस्त हैं। एक उदाहरण दर्शनीय है —

"नरम नरम दूब पर ओस के कण छाये हुए थे सूर्य की किरणें मानों उनमें अपना मुँह देख रही थीं पहाड़ियों की तलहटी में बसे हुए गाँव के ऊपर धुआँ मँडरा रहा था चिड़ियाँ धूप ले लेकर किसी कीर्ति का गान कर रही थीं।"[4]

1- दुर्गावती, पृ0 85

2- कचनार, पृ0 231

3- गढ़ कुण्डार, पृ0 91, 92

4- वही, पृ0 158

'झाँसी की रानी' उपन्यास में भी वर्मा जी ने प्रकृति के सुन्दर से सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं जिन्हें प्रकृति के आलम्बन रूप की संज्ञा दी जा सकती है। सघन अंधकार का यह चित्रण देखिए --

"आगे निर्जन मार्ग अगाध अँधेरा, झींगुर झंकार रहे थे। उनके ऊपर घोड़ों के टापों की आवाज हो रही थी। सब ओर सन्नाटा छाया हुआ था पीछे झाँसी में आग जल रही थी और आवाजें आ रही थीं। आगे अंधकार में जंगल और मढ़माऊ का पहाड़ लिपटे हुए दबे हुए से दिखाई पड़ रहे थे। चिड़ियाँ पेडों पर से भड़भड़ा कर उड़ती और घोड़ों को चौका देतीं। घोड़े जल्दी चलाये जाने के कारण ठोकर ले ले पड़ते थे आगे का मार्ग अंधकार पूर्ण और भविष्य तिमिराच्छन्न।"[1]

उपर्युक्त चित्रण प्रकृति के भीषण रूप का जीता जागता चित्र उपस्थित करता है।

इस प्रकार वर्मा जी के प्रकृति चित्रण में पर्याप्त आंचलिकता विद्यमान है। जन्म भूमि के प्रति उनके हृदय में जो उत्कट रागात्मकता है, उसी के कारण उनके उपन्यासों में बुन्देलखण्ड की प्राकृतिक छटा के चित्रण हुए हैं उनका प्रकृति चित्रण न तो पुस्तकों के आधार पर हुआ है और न तो सुनी-सुनाई बातों के आधार पर अपितु उन्होने अपनी खुली आँखों से प्रकृति के सूक्ष्मतम रहस्यों को देखा है। प्रकृति के चरणों में बैठकर उसकी गोद में लोटकर उसके सम्मुख विनत होकर उन्होने वर्षों उसका अध्ययन किया है। वे दुनाली को कंधे पर रखकर वन वन भटकते रहे हैं। दुर्गम दुर्ग भीषण पर्वत गम्भीर सरितायें सभी से संबंध स्थापित करते रहे हैं। उन्होने दिन के प्रकाश में भी उल्लुओं को देखा है। ~~प्रेमिक~~ प्रेमी पाषाणों के हृदयों की निष्ठुरता पूर्वक उपेक्षा कर आगे बढ़ने वाली सरितायें, बादल और बिजली से आँख मिचौनी खेलने वाले उच्च शैल खण्ड, सिंह व्याघ्रों से आतंकित भीषण वन ये सभी वर्मा जी की तीर्थ भूमियाँ रही है, जहाँ घण्टों तक अपनी सुध बुध खोकर समाधिस्थ होकर वर्मा जी बैठते रहे हैं वे प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण में ही अधिक रूचि रखते रहे हैं। प्रकृति के नीरव चित्रों में इनकी लेखनी तूलिका सदैव रमती आती रही है। इस प्रकार वर्मा जी की प्रकृति जहाँ एक ओर घटना की पृष्ठभूमि एवं वातावरण का निर्माण करने में प्रयुक्त होती रही है वहीं वर्मा जी ने उसके रम्य तथा भीषण सरल एवं

1- झाँसी की रानी, पृ० 422

क्रूर , कोमल एवं कठोर सभी प्रकार के रूपों का काव्यात्मक चित्र उपस्थित किया

आखेट एवं शिकारी जीवन

वर्मा जी का हृष्ट पुष्ट शरीर इनकी निर्भीक प्रकृति और साहसी व्यक्तित्व उनकी सुरुचियों के अनुकूल था। वे जहाँ एक ओर साहित्यकार, कुशल वकील और सफल समाजसेवी थे वहाँ दूसरी ओर एक उत्तम पर्यटक तथा सफल शिकारी भी थे। यही कारण है कि उन्होने अनेक बार अपने को भीषण संकटों में डालकर बीहड़ वनों की यात्रा की है। हिंसक जीवों के उनकी प्रकृति को भली भाँति पहचाना है और अनेक उनका शिकार भी किया है। उनके शिकारी जीवन के अनुभव 'दबे पाँव' शीर्षक पुस्तक में पठनीय हैं।

सन् 1922 से उन्होने आखेट जीवन का आरम्भ किया था। कहाँ पर उनके उपन्यासों में प्राप्त शिकार संबंधी विवरणों में से कुछ महत्वपूर्ण विवरणों का उल्लेख किया जा रहा है जिनसे यह ज्ञात हो कि बुन्देलखण्डीय शिकारी जीवन का उन्हें कितना अभ्यास रहा है।

'गढ़ कुण्डार' में शिकार के अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं। भरतपुरा की गढ़ी के डेढ़ मील पूर्व जंगल में एक हिरन के शिकार का चित्र इस प्रकार है——

"दोनों सवारों ने एक काला हिरन देखा। कुछ दूर था। घोड़े बढ़ाये। हिरन ने चौकड़ी भरी। घोडे बहुत दौडे एक जगह हिरन ठहरा तीर छूटे। परन्तु निशाना खाली गया हिरन एक भरके में ऐसा लोप हुआ कि फिर पता न लगा।"[1]

इससे ज्ञात होता है कि वर्मा जी ने हिरन के शिकार को कितना कठिन माना है। कितना भी घनघोर जंगल हो किन्तु शिकार आसानी से नहीं मिलता शिकारी को हर संकट का सामना करने के लिए तैयार रहना पड़ता है। शिकारी जीवन की इस भीषणता का और संकट का दृश्य इस प्रकार है। यथा ——

1- गढ़ कुण्डार, पृ० 14

"सालर, करधई, रेवंजा, नेगढ़, अरूस, खेर, काकैर, और मकोय, के धने जंगल में जहाँ कहीं कहीं शिकारियों को हतोत्साहित करने के लिए लम्बी घास भी खड़ी हुई थी, इस दल को अपने घोडों के कारण बड़ा कष्ट उठाना पड़ा जगह जगह काँटे चुभे, और भरकों तथा नालों में होकर घोड़ा को निकालने में कोई स्थानों पर प्राणों पर आ बनने का संकट उपस्थित हुआ। बहुत जानवर दिखलाई पड़े। परन्तु दिखलाई पड़ते ही तिरोहित हो गये। तीर खींचने का अवसर तक न आया। भटकाव इतना हुआ कि सबके सब इधर उधर दिशाओं में तितर-बितर हो गये।"¹

उक्त उल्लेख से यह निष्कर्ष निकलता है कि आखेट को के समक्ष धने जंगली पेड़ों और लम्बी घास का प्रतिरोध मिल जाता है जिससे उनका उत्साह क्षीण हो जाता है। बीहड़ भूमि होने के कारण गिरने पड़ने का भी भय रहता है और जंगली जानवर इतने सावधान रहते हैं कि वे सहसा शिकारियों के लक्ष्य नहीं बनते बड़ी तीव्रता से ओझल हो जाते हैं। कभी कभी वन्य हिंसक जीव शिकारियों पर अचानक आक्रमण भी कर देते हैं जिसके कारण भयंकर चोट आती है उस समय शिकारी का संभल पाना बड़ा कठिन होता है। ऐसा रामांचक चित्रण 'मुसाहिब जू' शीर्षक उपन्यास में देखिए ——

'जिस मनुष्य को कुछ देर पहले काका जू शब्द से सम्बोधित किया गया था उसने रंजक को तोड़ से छुला दिया रंजक फुर्र फुर्र हुई फिर जोर धड़ाका हुआ। उस धड़ाके के साथ ही एक चीत्कारमय गर्जन सुनाई पड़ा ...... उसी समय बंदूक चलाने वाले अपने साथी से दूसरे ने जरा जोर से प्रफुल्ल स्वर में कहा —' काका जू तेन्दुआ अवश्य मारा गया' वाक्य समाप्त ही हो पाया था कि लोहू लुहान तेन्दुआ छलांग भर कर काका जू - सम्बोधित व्यक्ति की छाती पर आ चढ़ा। छिपाव के स्थान पर इधर उधर जो लोग बैठे हुए थे उनमें से 'अरे' निकला और कोई -कोई अपनी ही घबराहट के कारण हथियार समेत नीचे की ओर ढुलक गये। तेन्दुएँ के

1- गढ़ कुण्डार, पृ0 208

पिछले पंजे चट्टान पर थे एक पंजा बन्दूक चलाने वाले व्यक्ति के कंधे पर पहुँच गया था और दूसरा हवा में तुला हुआ था। पंजे के बड़े बडे नाखून निकले हुए थे सिर पर बँधे हुए साफे में वे नाखून घँस गये । साफा हिला और खिसका। तेन्दुआ अपने प्रबल आक्रमण के धक्के को न संभाल सका। चट्टान पर जरा फिसलकर तिरछा हुआ, संभला और दूसरे आक्रमण के लिए दुगुने वेग के साथ तैयार हुआ। तुरन्त दूसरे व्यक्ति ने फुर्ती से तलवार निकाल कर जोर का हाथ तेन्दुये की गर्दन पर और छाती की बीच में भर दिया। वार कसा हुआ था परन्तु तुरन्त घात का काम न दे सका। तेन्दुये का पिछला धड़ चट्टान से नीचे की ओर फिसलकर रूक गया और फिर तलवार चलाने वाले शिकारी की जाँघ पर जा अटका। साथ ही पैने दांत जाँघ में जा घुसे .... बुड्ढे ने दोनों पैर पूरन की जाँघ में अड़ाकर हाथों के पूरे बल से तेन्दुये के दाँत जाँघ से छुड़ा लिये। जाँघ का बहुत सा भाग बँधी हुई दाढ़ों में बिंधा चला आया।"[1]

उक्त उल्लेख से कितना रोमांचक है। वर्मा जी ने कितनी बारीकी के साथ तेन्दुये के आक्रमण और शिकारियों के दुस्साहस का परिचय दिया है। इसे हम स्वानुभूति मूलक आंचलिकता इसलिए कहते हैं कि इसी प्रकार के अनेक दृश्य वर्मा जी ने स्वयं देखे हैं और अपने को जोखिम में डालकर उनका अनुभव प्राप्त किया है। जंगली जीव बड़े ही सावधान रहते हैं किन्तु शिकारी उनके ठिकाने भली भाँति पहचान लेते हैं उनके पास वन जीवन का बहुत बड़ा अनुभव होता है। शिकार करने के लिए कुछ लोग पेड़ों पर मचान बनाते हैं और जानवरों को निकालने के लिए हाँका करवाते हैं। यथा ——

"आधी घड़ी के बाद हाँका शुरू हो गया। ढोल ताशे पिटे, हल्ला हुआ मचान पर बैठे शिकारी बड़ी उत्सुकता के साथ जानवरों की आहट लेने लगे। जंगल के सुनसान को हाँकने वालों का हल्ला चीर चीर कर और भी गहरा बना रहा था।..... मचान से कुछ दूर होकर चीतलों का झुण्ड मचा दौड़ता हुआ निकला। कीर्तिसिंह ने तीर

1- मुसाहिब जू, पृ0 2-3

चलाया परन्तु निशाना चूक गया। दलपति सिंह भी अपने मचान पर सतर्क बैठे हुए थे पत्तों की खड़खड़ाहट सुनाई पड़ी। देखे तो एक भरा पूरा शेर इधर उधर ताकता झाँकता चला आ रहा है .... कुछ क्षण उपरान्त कीर्तिसिंह ने गर्जन की आवाज सुनी, बहुत प्रसन्न हुआ – शेर पर उनका तीर पड़ गया। वहीं गिरकर चीख रहा है। परन्तु वह गर्जन दूर होती चली गयी औरअंत में स्तब्धता छा गयी। मालुम होता है कि शेर घायल होकर चला गया है। बुरा हुआ न जाने कितनों को घायल करेगा वह।[1]"

उक्त उल्लेख से यह निष्कर्ष निकलता है कि शिकारी को कितना चौकस रहना पड़ता है और कितना दुस्साहस के साथ ही साथ बुद्धिमत्ता से काम लेना पड़ता है। इसके अतिरिक्त यह भीज्ञात होता है कि घायल शेर बहुत अधिक खतरनाक सिद्ध होता है। शिकारी लोग शिकार करने के लिए जंगलों में कई स्थानों पर भैंसे आदि बंधवाते हैं जिससे शिकार आसानी से मिल जाता है। यथा ––

"कल भी यदि राजकुमारी जी और आपको शेर न मिले तो रात में पास के ही जंगल में कई स्थानों पर पड़वे बँधवाऊँगा। गारा होगा फिर मचान पर से शेर का शिकार अवश्य हो जायेगा .... इस हाँके में शेरों का शिकार हो या न हो यहाँ से थोड़ी सी ही दूर पर जहाँ केन नदी ने चक्कर काटकर एक बड़ा द्वीप सा बना लिया है, घोर जंगल है वहाँ जानवरों की बहुतायत है। डाबरों पोखरों पर मचान बाँध कर बैठा जायेगा। मचान पर सुभीता न जान पड़ा तो छोटे छोटे गोल गड्ढों से जो पत्थरों के बनाये गये हैं और झरोखे दार हैं अचूक शिकार होगा।[2]"

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शिकारी लोग शिकार कने के लिए झरोखे दार पत्थर के गोल गढे अधिक उपयुक्त समझते हैं।

'मृगनयनी' उपन्यास में भी शिकार के अनेक रोमांचक चित्र मिलते हैं। यथा ––

"एक क्षण उपरान्त ही पूरी लम्बाईचौड़ाई वाला भरा पूरा नाहर मानसिंह के मचान की दिशा में गर्दन जरा सी मोड़ कर देखते हुए आता दिखलाई

1- दुर्गावती, पृ0 58-59

2- दुर्गावती, पृ0 65

पड़ा। निन्नी ने तुरन्त गर्दन का निशाना बाँधा और पूरी शक्ति के साथ डोरी को खींचकर तीर छोड़ दिया। अविलम्ब दूसरा चढ़ा लिया नाहर की गर्दन में तीर धँस गया। नाहर ने तड़प और हुंकार के साथ उपर को उचाट भरी और जिस ठौर से उचटा था उसी पर गिर गर अपने बड़े बड़े नाखूनों से धरती खोद-खोदकर धूल उड़ाने लगा। तीक्ष्ण हुंकारे तो निकाल ही रहा था।"[1]

इससे ज्ञात होता है कि नाहर इत्यादि जीव चोट खाकर ऊपर उच्चाटन भरते हैं और बड़ा भयंकर शब्द करते हैं। 'मृगनयनी' में अरनाते भैंसे का शिकार बड़ा ही सुन्दर एवं रोमांचक चित्रण मिलता है। यथा ——

"कमान पर तीर चढ़ाया ही था कि एक बड़ा पूरा अरना भैंसा फुफकारें मारता हुआ सामने से छोटी छोटी झाड़ियों को रौंदता कुचलता आ गया लाखी ने सिर का निशाना लेकर तीर छोड़ा, कोई दूसरा निशाना ठीक बैठता ही नहीं था। तीर अरने के माथे पर पड़ा और थोड़ा सा धँस गया। अरने ने जोर की डिंडकार लगाई .... अरने की बड़ी बड़ी लाल आँखों से अंगार छूट रहे थे और फुफकार में फेन उड़ रहा था।"[2]

निश्चित रूप से ऐसे वर्णन बिना स्वानुभूति के नहीं किए जा सकते है। वर्मा जी में यह स्वानुभूति पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी। वनों की शोभा तो कभी कभी इतनी आकर्षक होती है कि शिकारी भी अपना शिकार करना भूल जाते हैं। यथा ——

"पौ फटी जानवरों की बोलियाँ सुनाई पड़ी खुरियों की आहट मिली परन्तु कोई भी जानवर दिखलाई नहीं पड़ा। दलीप सिंह को आशा बँध गई — जानवर हँकाई में अवश्य मिलेंगे .... दलीप सिंह फूलों का टपकना देखता रहा । शीघ्र ही कु पेड़ के नीचे चौक से पुर गये .... उसने उठा कर सूँघे भीनी भीनी महक थी उसी समय उसके पीछे एक साँभर आया बोला और सरपट भागा, जब तक दलीप सिंह ने बन्दूक सम्भाली वह जंगल में विलीन हो गया।"[3]

1- मृगनयनी, पृ0 178

2- वही, पृ0 179

3- कचनार, पृ0 42, 43

उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि वर्मा जी बुन्देलखण्ड के विभिन्न वनों में जाकर शिकार खेला है। जंगली जीवों के स्वभाव और शिकारियों की सूझबूझ साहस, कष्ट सहिष्णुता आदि का स्वयं अनुभव किया है और उसी अनुभव के विभिन्न रूपों को उन्होने अपने उपन्यासों में यत्र तत्र यत्किंचित् परिवर्तन के साथ चित्रित भी कर दिया है। इस प्रकार वर्मा जी ने आखेट जीवन की जिन अनुभूतियों को चित्रित किया है उनमें आंचलिक बोध अवश्य है क्योंकि वे सभी अनुभूतियाँ बुन्देलखण्डी अंचल की हैं।

किम्वदन्तियाँ एवं लोक कथाएँ :—

वर्मा जी के उपन्यासों में बुन्देलखण्ड में प्रचलित होने वाली अनेक किम्बदन्तियों और लोक कथाओं के वर्णन मिलते हैं। उन सबको उन्होने बड़ी सूक्ष्मता के साथ समझा है अतः उनमें स्वानुभूति मूलक आंचलिकता दिखलाई पड़ती है। यहाँ पर उनकी संक्षिप्त दिग्दर्शन मात्र प्रस्तुत किया जा रहा है।

'मृगनयनी' उपन्यास के परिचय भाग में वर्मा जी ने दो किम्बदन्तियों का उल्लेख किया है। यथा "किंवदन्ती है कि किसी ने नटिनी (बेड़िनी) को नरवर किले से बाहर रस्से पर टंगे टंगे जाकर जो किले के बाहर एक पेड़ से बँधा हुआ था चिट्ठी ले जाने को कहा और वचन दिया कि यदि चिट्ठी बाहर पहुँचा दो तो नरवर का आधा राज्य दे दिया जायेगा। नटिनी रस्से के सहारे किले से बाहर हो गयी। जब उसी सहारे वापिस आ रही थी तब वचन देने वाले ने रस्से को काट दिया और नटिनी नीचे खड्ड में गिर कर चकनाचूर हो गयी। मैंने इस किम्बदन्ती का दूसरे प्रकार से उपयोग किया है।"[1]

दूसरी किम्बदन्ती के रूप में वर्मा जी मृगनयनी' के परिचय भाग में लिखते हैं कि "एक किंवदन्ती है कि मानसिंह के दो सौ रानियाँ थीं ग्वालियर किले के गाइड ने मुझको दूसरी किम्बदन्ती का पता दिया कि राजा मानसिंह के रेट(आठ) रानियाँ थी मैंने गाइड के शब्द को ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है .... मैंने गाइड

1- मृगनयनी, पृ0 5 (परिचय)

की कही हुई बात को ही उपन्यास में मान्यता दी है।"[1]

मृगनयनी के अदि्वतीय रूप सौन्दर्य तथा विकट पराक्रम की चर्चायें उसके भाई का अपनी जाति से बाहर एक अहीरिन के साथ प्रेम विवाह, लोक – निन्दा और अपना गाँव छोड़कर नरवर जाना आदि विविध प्रसंग किम्बदन्तीयों के रूप में प्रचलित हैं।"[2]

इसी प्रकार 'महारानी दुर्गावती' उपन्यास में सुधर सिंह नाम का पात्र लोक प्रचलित किम्बदन्ती की ही देन है जैसा कि वर्मा जी ने स्वयं लिखा है —

"एक ऐसा देशद्रोही जो मध्यकालीन भारतीय इतिहास में हो रहे थे कीर्तिसिंह की हार और कालिंजर के पतन का कारण हुआ। इस देश द्रोही का वर्णनइतिहास में नहीं है परन्तु परम्परामें है उसी से मैंने सुधर सिंह पात्र को लिया है।"[3]

एक किम्बदन्ती महारानी दुर्गावती से संबंधित है जो इस प्रकार प्रचलित है कि अकबर ने दुर्गावती को नीचा दिखलाने के लिए सोने का पिंजड़ा बनवाकर भेजा और पत्र में लिखा —" स्त्री होकर राज्य मत करो। पिंजड़े मेंबन्द रहो।' उत्तर में उन्होने सोने का पींजन भेजा और पत्र —' तुम राज्य करने योग्य नहीं हो, रूई धुना करो, रूई।'[4]

'महारानी दुर्गावती उपन्यास में एक लोक किम्बदन्ती का विवरण मिलता है कि लांजी का राजा अमर कंटक आया साथ में यदुराय पहरेदार भी जब वह पहरा दे रहा था तब उसके पास से एक गोंड औरगोंडिनी साथ में बन्दर लिए निकले बंदर के हाथ में मोर के पंख थे उसने यदुराय के पास पंख डाल दिये। उनके जाने के बाद उसी रात नर्मदा जी उसे स्वप्न में बताया कि गोंड गोंडिनी और बन्दर क्रमशः राम, सीता और हनुमान थे तुम रामनगर के सुरभी नामक तपस्वी

1- मृगनयनी, परिचय, पृ0 6

2- वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों का सांस्कृतिक अध्ययनः पृ0 157

3- महारानी दुर्गा वती, पृ03(परिचय)

4- वही, परिचय, पृ0 12

[illegible] पण्डित से मिलो । उसके मार्ग दर्शन से तुम्हें बड़ा राज्य प्राप्त होगा । उसने ऐसा ही किया। तपस्वी ने भी वैसा ही स्वप्न देखने की बात कही और तपस्वी के कहने पर नागराज के यहाँ नौकरी कर ली और उसकी कन्या से विवाह भी कर लिया।" किम्बदन्ती है कि यदुराज ने फिर क्षत्रिय वंश की कन्या से विवाह किया जिससे आजकल के राजगोंड राजाओं का वंश चला है।"[1]

इस किम्बदन्ती का उपयोग करने में वर्मा जी ने पर्याप्त खोज बीन की होगी।

'गढ़ कुण्डार' उपन्यास में लेखक ने किम्बदन्तियों के आधार पर बुन्देलों की उत्पत्ति इस प्रकार मानी है। बुन्देलों के पूर्वज जगदास पंचम अपने भाइयों के अन्यास से असन्तुष्ट होकर विन्ध्यवासिनी देवी को अपना सिर भेंट देकर प्रसन्न करना चाहते हैं, खड्ग के प्रहार से रक्त की बूँद निकलते ही देवी प्रकट होकर पंचम का हाथ पकड़ कर मनोवांछित फल प्रदान करती है। देवी के चरणों में गिरकर जो रक्त की बूँदें पवित्र हुईं थी वही बुन्देलों की देह में भी विद्यमान हैं।[2]

इसी प्रकार 'संगम' उपन्यास में लालमन डाकू को भवानी सिद्ध थी इस मान्यता के मूल में तारावली ग्राम के ठाकुर कुंजरसिंह डाकू विषयक किम्बदन्ती के सहारा लिया है।[3]

'लगन उपन्यास देवीसिंह के भीम पराक्रम का जो भी वर्णन मिलता है वह बहुत कुछ किम्बदन्तियों के ही आधार पर है। यथा —"नंदलाल का भीषण पराक्रम जिसका कहानी में वर्णन किया गया है सच्ची घटना है । किम्बदन्ती के रूप में अब भी आस पास के देहात में यह प्रसिद्ध है।[4]

'विराटा की पद्मिनी ' उपन्यास में बुन्देले देवीसिंह को उत्तराधिकारी घोषित करने की छल चातुरी और जनार्दन शर्मा के सिर कटवाने की प्रतिज्ञा का वृत्तान्त भी लोक प्रचलित किम्बदन्तियों पर आधारित है।[5]

1- दुर्गावती, पृ0 35-36

2- गढ़ कुण्डार, पृ0 88

3- संगम, पृ0 परिचय भाग

4- लगन परिचय भाग

उक्त किम्बदन्तियों तथा लोककथाओं के जानने में वर्मा जी ने पर्याप्त परिश्रम किया होगा। जिनको सुनियोजित करके उन्होने अपने उपन्यासों में स्थान दिया है। अतः आत्मसात किए हुए सभी किम्बदन्तियाँ लोकानुभूति परक होती हुई भी वर्मा जी की स्वानुभूति मूलक कही जा सकती है क्योंकि हम जिस विषय का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं वह ज्ञान भी अनुभूति बन जाता है।

दुर्ग तथा खण्डहर :—

वर्मा जी बुन्देलखण्ड के दुर्गों एवं भग्नावशेष खण्डहरों का अनेक बार भ्रमण किया और बड़ी रागात्मकता के साथ अपने कतिपय उपन्यासों में उन्हें स्थान दिया है। उनका यह आंचलिक बोध कितना स्वानुभूतिमूलक है इसे हम मूल उद्धरणों द्वारा व्यक्त करने की चेष्टा करेंगे।

बेतवा के तट पर विराटा के सबलसिंह के दुर्ग का वर्णन करता हुआ लेखक कहता है —"नदी कीकगार पर उसका गढ़ था, जो दूर से वन के सघन और दीर्घकाय वृक्षों के कारण कई ओर से दिखलाई भी न पड़ता था। गढ़ के ठीक सामने पूर्व की ओर नदी के बीचों बीच एक टापू पर एक छोटा मंदिर छोटी सी दृढ़ गढ़ी के भीतर था।"[1]

उक्त उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि वर्मा जी उक्त दुर्ग के स्थान में स्वयं जाकर उसका ऐसा सजीव गृहीत किया होगा। सिन्धु नदी के किनारे पर स्थित सिंहगढ का उल्लेख इस प्रकार मिलता है —

"कुंजर सिंह अपनी छोटी सी सेना के साथ सिंहगढ़ में वीरों द्वारा घेर लिया गया। सिन्धु नदी साँप की तरह कतराती हुई इस किले के नीचे से बहती हुई चली गयी है। नदी के उस ओर भयानक जंगल था। किले खाद्य सामग्री थोड़े दिनों के लिए थी .... किले की दिवारों पर तोपे निरन्तर गोले फेकने लगी।"[2]
इससे स्पष्ट है कि सुरक्षा की दृष्टि से दुर्गबड़े ही दुर्गम होते थे और वे ऐसे ही स्थान पर बनवाये जाते थे जहाँ पर शत्रु सरलता से आक्रमण न कर सके।

1- विराटा की पद्मिनी, पृ0 59

2- वही, पृ0 80

वर्मा जी ने बुन्देलखण्ड के ऐतिहासिक खण्डहरों के भी बड़े सुन्दर चित्र उपस्थित किए हैं। यथा ——

"माण्डेर का पुराना नाम लोग भद्रावती बतलाते हैं पहूज नदी के पश्चिमी किनारे पर बसा हुआ है खण्डहरों पर खण्डहर हो गये हैं। किसी समय बड़ा भारी नगर रहा होगा। अब मसजिदों और सोन तलैया के मंदिर के सिवाय और खास इमारत नहीं बची है। पहूज के पूर्वी किनारे पर जंगल से दल और भरके। से कटा हुआ एक विशाल प्राचीन नगर है। नदी के दोनों ओर भरको मैदानों टीलों और पहाड़ियों के विश्रृंखल क्रम है।"[1]

इस प्रकार के वर्णन बिना हृदयंगम किए नहीं लिखे जा सकते अतः इनमें वर्मा जी की स्वानुभूति मूलक आंचलिकता स्पष्ट है।

लेखक ने महारानी दुर्गावती उपन्यास में सिंगौर गढ़ नामक एक बहुत बड़े दुर्ग का उल्लेख किया है। यथा ——"पहले सिंगौर गढ़ चलना है अपने बहुत बड़े गढ़ों में से है गढ़ा राधानी रही है परन्तु रहते अधिकतर चौरागढ़ में थे वहाँ से मैं सिंगौर गढ़ चला अया हूँ।"[2] एक स्थल पर मनिया गढ़ का भी उल्लेख किया गया है।[3]

'महारानी दुर्गावती' उपन्यास में कालंजर के किले का भी उल्लेख मिलता है। उसमें शेरशाह के आक्रमण का वर्णन है यथा ——

"किले के फाटक बन्द कर लिए गये और सुरंगों के किवाड़ों के भीतर तरफ बड़े बड़े पत्थर अड़ा दिये गये शेरशाह आ गया । युद्ध प्रारम्भ हो गया।"[4]

'मृगनयनी' उपन्यास ग्वालियर से लगभग पच्चीस कोश दक्षिण पश्चिम में नरवर गढ़ का उल्लेख किया गया है। यथा ——

1- विराटा की पद्मिनी, पृ0 188

2- दुर्गावती, पृ0 156

3- वही, पृ0 154

4- वही, पृ0 211

"नरवर का विशाल गढ़ ग्वालियर के तोमरों के आधीन लगभग डेढ सौ वर्ष से चला आता था ग्वालियर से बहुत दूर नहीं था— लगभग पच्चीस कोश दक्षिण पश्चिम में .... तोमरों ने नरवर के किले को कछवाहों से लिया था।"[1]

इसी उपन्यास में मालवा के सरहदी नगर चन्देरी में भी एक दुर्ग का उल्लेख है। यथा —" नई चन्देरी का मिला नगर के उत्तर उत्तर से पूर्व की ओर घूमकर जाने वाली एक ऊँची पहाड़ी पर था चन्देरी का सूबेदार इसी में रहता था ।"[2]

उक्त उल्लेखों से ज्ञातहोता है कि बुन्देलखण्ड के दुर्गों के विषय में वर्मा जी ने कितनी ऐतिहासिक छानबीन कीहै। आंचलिकता का यह खोज पूर्णरूप एक बौद्धिक देन के रूप में स्मरणीय है। ग्वालियर दुर्ग तो आज भी अपने सम्पूर्ण रूप में विद्यमान है। जिसका उल्लेख 'मृगनयनी' उपन्यास में कई स्थानों पर किय गया है।[3]

'गढ़ कुण्डार' उपन्यास में कुण्डार गढ़ का वर्णन मिलता है जो झाँसी से पूर्वोत्तर तीस मील की दूर में स्थित है। यथा —

"कुण्डार का गढ़ अब भी अपनी प्राचीन शालिनता का परिचय दे रहा है। बीहड़ जंगल घाटियों और पहाड़ियों से आवृत्त यह गढ़ बहुत दिनों तक जुझोति को मुसलमानों की आग और तलवार से बचाये रहा था .... पृथ्वीराज ने अपने सामन्त खेतसिंह खंगार को कुण्डार का शासक नियुक्त किया। उसी खेतसिंह का वंशज हुरमत सिंह था।"[4]

यह विवरण अपने में बहुत महत्वपूर्ण है। यह इतना विस्तीर्ण दुर्ग था कि इसमें वर्मा जी के अनुसार 22 सहस्त्र पैदल और घुड़सवार थे।

1- मृगनयनी, पृ0 93

2- मृगनयनी, पृ0 94

3- वही, पृ0 98, 375, 393

4- गढ़ कुण्डार, पृ0 7

बु बुन्देलखण्ड की कितने ही समृद्ध नगर उजड़गये हैं। जिनके खण्ड-हर आज भी अपना इतिहास सांजोये हुए मूक स्वरों से कुछ कहते हैं। पलोथर, देवरा, देवल, भरतपुरा इत्यादि का उल्लेख वर्मा जी ने किया है। इसी प्रकार शक्ति भैरव नगर का भी प्राचीन उल्लेख किया गया है।[1]

'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई 'उपन्यास मे झाँसी के किले का वर्णन इस प्रकार मिलता है। यथा —

"किला बड़ा है नगर के चारों ओर परकोटा है .... किला पहाड़ी पर है उसमें राजमहल है। महादेव और गणपति के मंदिर, एक बड़ा महल नीचे है। महल के पीछे नाटक शाला।.................. किले के भीतर एक पोखरा है। एक बड़ा कुआँ भी है उसमें बहुत पानी रहता है। न जाने पहाड़ पर किसने खुद-वाया होगा।"[2]

'कचनार ' उपन्यास में धमोनी के दुर्ग का उल्लेख मिलता है । किन्तु उसका कोई विशेष विवरण नहीं मिलाता है।[3]

इस प्रकार वर्मा जी ने इन दुर्गों को अनेक बार स्वयं जाकर देखा है और उनका ओजपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है। इससे उनके आंचलिक बोध का प्रबल प्रमाण मिलता है।

(ख) वर्मा जी के उपन्यासों में परानुभूति मूलक आंचलिकता

वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में जो भी विवरण दिया है उसमें बहुत कुछ उनकी स्वानुभूति की छाप है। उन्होने यहाँ के वन, पर्वत, दुर्ग, भग्नावशेष खण्डहर आदि सभी का अवलोकन किया। गम्भीरता के साथ उन सब के इतिहास को जानने की चेष्टा की है। अतः उनके ऐतिहासिक आंचलिक तथ्य पर्याप्त मात्रा में उप -

---

1- गढ़ कुण्डार, पृ0 11

2- ~~वही~~, पृ0 59, 61, झाँसी की रानी

3- कचनार, पृ0 293

लब्ध होते है किन्तु उनके उपन्यासों में आंचलिकता के कुछ ऐसे भी तत्व हैं जो उन्हें परम्परा से प्राप्त एवं ज्ञात हुए है हैं। अतः उन तत्वों को परानुभूति मूलक आंचलिकता में गृहीत करते हैं। उदाहरणार्थ वे ऐतिहासिक तथ्य जो वर्मा जी के समय घटना के रूप में घटित नहीं हुए, सभी परानुभूतिमूलक कहे जायेंगे। इसी प्रकार उन्हें उपन्यासों के जो कथासूत्र अपने ~~मित्रों~~ मित्रों से या सहयोगियों से प्राप्त हुए हैं वे आंचलिक होते हुए भी परानुभूति मूलक हैं। यहाँ पर इस परानुभूति काशोधपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

सुरत्तानपुरा, परगाना मोंठ जिला झांसी निवासी श्री नन्दू पुरोहित के यहाँ मैं प्राया करता था, उन्हें किम्बदन्तियाँ और कहानियाँ बहुत आती थी वह कहते कहते कभी नहीं थकते थे, चाहे सुनने वालों को सुनते सुनते नींद भले ही आजाये .... विराटा की पद्मिनी की कहानी उन्होने सुनाई थी। यह कहानी सुनकर मुझे उस समय तो क्या सुनने के बाद भी बड़ी देर तक नींद नहीं आयी .... उपन्यास लिखने के प्रयोजन से मैंने नन्दू काका की सुनाई हुई कहानी के प्रचलित अंशों की परीक्षा करने के लिए और कईजगह उसे सुना। विराटा के एक वयोवृद्ध दाँगी से भी हठपूर्वक सुना .... इसके पश्चात् मैंने विराटा, रामनगर और मुसावली की दस्तूर देहियां सरकारी दफ्तर में पढ़ी उनमें भी पद्मिनी के बलिदान का सूक्ष्म दर्शन पाया।[1]

उक्त उल्लेख से यह स्पष्ट है कि लेखक ने इस उपन्यास की कथावस्तु को स्वयं परानुभूतिमूलक स्वीकार किया है। इसी प्रकार उनके अन्य अनेक उपन्यासों के कथासूत्र परानुभूतिमूलक हैं। जिनका विवरण उन्होने अपने ग्रन्थों की भूमिका में ही दे दिया है। यहाँ पर उन सबका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

'मुसाहिब जू' उपन्यास की घटना दतिया निवासी छोटू नाई द्वारा बतलाई गयी थी। जिसका उल्लेख प्रस्तुत उपन्यास के परिचय में वर्मा जी ने इस प्रकार दिया है —

1- विराटा की पद्मिनी, पृ0 1-2

"छोटू नाई दतिया का रहने वाला था। जब मुझे मिला लगभग अस्सी वर्ष का था उसने जीवन भर सिपाहगीरी की थी। दतिया में बका जू कोतवाल के सिपाहियों में नौकर रहा था। दतिया में अनेक पुरातन प्रथाओं के विध्वन्स के साथ इसकी सिपाहगीरी ख़त्म हो गयी। इस उपन्यास की घटना उसी की बतलाई हुई है।"[1]

उक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि मुसाहिब जू उपन्यास की कथावस्तु आंचलिक होती हुई भी परानुभूतिमूलक है जिसको वर्मा जी ने छोटू नाई द्वारा सुनकर पल्लवित कर लिया है। उपन्यास की प्रमुख घटनायें वास्तविक हैं।

'गढ़ कुण्डार' उपन्यास की कहानी 'अर्जुन कुम्हार' जिसका वास्तविक नाम दुर्जन कुम्हार था से सुनी गयी थी। उसी ने वर्मा जी को विभिन्न स्थानों का अवलोकन कराया है जिसको उन्होने भूमिका मात्रमें इस प्रकार स्वीकार किया है — केवल अपने एक मित्र का नाम कृतज्ञता ज्ञापन की विवशता के कारण बतलाना पडेगा नाम है दुर्जन कुम्हार सुल्तान पुरा (चिरगाँव से उत्तर में दो मील) का निवासी। उपन्यास में जिन स्थानों का वर्णन किया गया है। वे जंगलों में अस्त व्यस्त अवस्था में पड़े हुए हैं। दुर्जन कुम्हार की सहायता से लेखक ने उनको देखा है। गढ़ कुण्डार का अर्जुन कुम्हार का इसी दुर्जन कुम्हार का प्रतिबिम्ब है। 'गढ़कुण्डार' की कहानी उसने सुनी है। इस प्रकार उपन्यास में वर्णित ऐतिहासिक चरित्र भी परानुभूतिमूलक हैं।

'मृगनयनी' उपन्यास में मृगनयनी के सम्बन्ध में लेखक ने किम्बदन्तियों के साथ ही ग्वालियर गजेटियर का आश्रय लिया है और उन्होने यह भी उल्लेख किया है कि "मैंने गूजरों में घूम फिर कर बातें की उन्होंने भी उसी का समर्थ न किया।[2]

इससे यह सिद्ध होता है कि इतिहास के अतिरिक्त वर्मा जी ने इसके कथा अंशों के चयन करने में परानुभूतियों से भी काम लिया है। "कथावस्तु के संग्रह में महामान्या महारानी साहब ग्वालियर मध्य भारत के मंत्री मंडल और ग्वालियर के पुरातत्व विभाग ने मेरी बहुत सहायता की है मैं उनका बहुत कृतज्ञ हूँ।"

1- मुसाहिब जू, पृ0 परिचय भाग

2- मृगनयनी, पृ0 3, परिचय

उक्त उल्लेखकीय वक्तव्य से प्रस्तुत उपन्यास की कथावस्तु की परानुभूति मूलकता स्पष्ट है।

'लगन' उपन्यास की बहुत सी घटनायें दमरू नामक लोधी की प्रत्यक्ष की हुई हैं। इस नब्बे वर्षीय दमरू ने कथा नायक देव सिंह (वास्तविक नाम नन्दलाल) की अनेक प्रत्यक्ष दृष्ट घटनायें लेखक को बतलाई हैं जैसा कि उन्होंने ग्रन्थ के परिचय में स्वयं लिखा है —

"कहानी के चरित्र नायक देवसिंह का असली नाम नन्दलाल था। यह बड़ा शक्तिशाली पुरूष था। अस्सी वर्ष की अवस्था में इसको दमरू नामक लोधी ने देखा है जो सुल्तान पुरा में (चिरगांव से डेढ़ मील उत्तर) रहता है। इसकी आयु इस समय नेब वर्ष की है। वह नन्दलाल के बलकी बहुत सी आँखों देखी घटनायें बतलाता है। नन्दलाल का भीषण पराक्रम जिसका कहानी में वर्णन किया गया है, सच्ची घटना है। किम्वदन्ती के रूप में अब आस पास के देहात में वह प्रसिद्ध है।"[1]

इस प्रकार इस उल्लेख से 'लगन' की कथावस्तु भी परानुभूतिमूलक प्रतीत होती है।

'झाँसी की रानी' उपन्यास की कथावस्तु आंचलिक होती हुई भी परानुभूतिमूलक है। मूल रूप में लेखक के परदादा दिवान आनन्दराय की पत्नी से रानी के विषय में कहानियाँ सुनने को मिली। इसके अतिरिक्त इतिहास से सहायता ली गयी नवाब अलीबहादुर का रोजनामचा भी कुछ सहायक हुआ। मुंशी तुराब अली दरोगा जो अंग्रेजों की ओर से पुलिस थानेदार थे उनसे भी लेखक रानी के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त हुईऔर उससे भी अधिक अजीमउल्ला नायक एक बुड्ढे से रानी के विषय में अनेक बातें ज्ञात हुईं। इन सबके अतिरिक्त वर्मा जी के व्यक्तिगत अनुसंधान से रानी विषयक ऐतिहासिक तथ्य संकलित हो सके हैं। अस्तु, ये सभी बातें परानुभूतिमूलक आंचलिकता की कोटि में आती हैं।[2]

1- लगन, परिचय भाग

2- झाँसी की रानी, परिचय के आधार पर।

'संगम ' उपन्यास की उधिकांश कथा परानुभूति मूलक ही है। जैसा कि लेखक ने परिचय में लिखा है ——

"लालमन दतिया रियासत के अन्तर्गत नदी गाँव निवासी मन्नू लाल डाकू का प्रतिबिम्ब है .... लालमन के विषय में कुछ स्थानों में अनेक कहानियाँ मशहूर है। यह विश्वस्त सूत्र से मालुम हुआ है कि लालमन स्त्रियों और बच्चों पर हाथ नहीं पसारत्ता था और न उसके साथ उसके डर के मारे स्त्रियों और बालकों पर हाथ उठाते थे।"[1]

उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि लेखक को मन्नू लाल डाकू से सम्बन्धित बहुत सी बातें लोक परम्परा से ज्ञात हुई हैं।

'कचनार' उपन्यास की कथावस्तु भी परानुभूत मूलक आंचलिकता से ओतप्रोत है क्योंकि लेखक ने उसमें इतिहास से भी अधिक परम्परा का आश्रय लिया है। यथा ——

"मैंने कचनार के लिखने में अपने अभ्यास के अनुसार इतिहास और परम्परा दोनों का प्रयोग किया है .... मुझको परम्परा इतिहास से भी अधिक आकर्षक जान पड़ती है।"[2] इससे ज्ञात होता है कि इस उपन्यास की कथावस्तु में भी परानुभूति का पलड़ा भारी है।

इस प्रकार अन्य ऐतिहासिक उपन्यास परानुभूतिमूलक ही कहे जायेगें क्योंकि ऐतिहासिक घटनायें जिस समय की होती है उस समय उनका अनुभव उसी समय के व्यक्ति का हो सकता है अन्य को नहीं और सुनी सुनाई घटनायें तो परानुभूति मूलक होती हैं।

'प्रेम कीभेंट' उपन्यास की तथ्यमूलक घटना लेखक को अपने एक मित्र के द्वारा ज्ञात हुई थी।[3] इससे उक्त कथानक परानुभूति मूकक ही प्रती होता है।

1- संगम, पृ02 परिचय।

2- कचनार, परिचय, पृ0 6

3- प्रेम की भेंट परिचय,

'अमरबेल' उपन्यास में वर्मा जी की स्वानुभूति मूलक विशेषताओं के अतिरिक्त श्री श्याम लाल पाण्डवीय ने वर्मा जी को विस्तार के साथ इसकी आंशिक घटना बतलाई थी जिसका सम्बन्ध वाद्यराज द्वारा कलाकारों को लुटवाने से है।[1]

इस प्रकार वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में आंचलिक तत्वों को पर्याप्त स्थान दिया है। ऐतिहासिक तथ्यों के चयन करने में उन्होने केवल एक ही सूत्र पर विश्वास नहीं किया अपितु अनेक सूत्रों के आधार पर जब उन्हें उनकी सत्यता पर विश्वास हो गया तभी उन्होने उन घटनाओं को उपन्यास में स्थान दिया है। इस प्रकार उनकी ऐतिहासिक सामग्री से अनुप्राणित उपन्यासों में स्वानुभूति मूलक आंचलिकता का आंशिक रूप स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु इतिहास मुख्यतः परानुभूति मूलक ही होता है। अतः अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यास परानुभूति मूलक ही कहे जायेंगे। जिन उपन्यासों की घटनायें लेखक के सामने घटित हुई है जिनका उन्होने स्वयं अनुभव किया है वे कथा अंश स्वानुभूति मूलकता की श्रेणी में आते हैं। किम्बदन्तियों एवं लोक विश्वासों के आधार पर लिखी गयी बातें परानुभूति की श्रेणी में आती हैं। कुछ भी हो इतना तो निश्चित है कि वर्मा जी का आंचलिक बोध अत्यन्त प्रभावशील एवं चातुर्य पूर्ण हैं जिसमें बुन्देलखण्ड की प्रत्येक वस्तु के साथ वर्मा जी का हार्दिक लगाव प्रतीत होता है। यही कारण है कि उनके उपन्यास आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी का पूर्ण स्पर्श तो नहीं किन्तु आंशिक स्पर्श तो अवश्य कर लेते हैं क्योंकि उनमें आंचलिकता के तत्व विद्यमान हैं।

1- अमर बेल, परिचय

नवम् अध्याय

उपसंहार

नवम अध्याय

उपसंहार

डा0 वृन्दावन लाल वर्मा हिन्दी साहित्य के यशस्वी उपन्यासकार थे। उन्हें हिन्दी भाषा-भाषियों के मध्य जितनी लोक प्रियता प्राप्त हुई उतनी बहुत कम साहित्यकारों को प्राप्त है। उनके साहित्य का प्रसार इतर भाषाओं में भी हुआ है। उदाहरणार्थ झाँसी की रानी' उपन्यास का मराठी, कन्नड़ और सिन्धी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है और अंग्रेजी में तो स्वयं वर्मा जी ने इसका अनुवाद किया है। विदेशों में 'झाँसी की रानी' शीर्षक अनुवाद की सर्वाधिक ख्याति हुई। इन्होंने शैशव से ही मातृभूमि के प्रति अपना प्रगाढ़ अनुराग व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया था। इन्होंने लगभग पचास वर्ष तक अपने लेखन से सरस्वती की सेवा की और हिन्दी के भण्डार को अपनी विविध कृतियों से समृद्ध किया। उनकी विविध विधाओं मेंसर्वाधिक महत्वपूर्ण उपन्यास साहित्य है। इनके उपन्यास साहित्य की प्रमुख विशेषता यह है कि उसमें बुन्देलखण्ड की भाषा, खान-पान, रहन-सहन, संस्कृति, सामाजिक चेतना, भौगोलिक पर्यावरण आदि अनेक आंचलिक विशेषताएँ अपने सजीव रूप में विद्यमान हैं जिनमें कृतिकार के अनुभव की गम्भीर छाप लगी हुई है। उन्होंने 1927 में अपने प्रथम उपन्यास 'गढ़ कुण्डार' को प्रकाशित कराया जिस पर आचार्य द्विवेदी ने इन्हें स्वर्ण पदक प्रदान किया। इनके उपन्यास दो वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं –

(1) सामाजिकउपन्यास

(2) ऐतिहासिक उपन्यास

सामाजिक उपन्यासों में लगन, कुण्डलीचक्र, संगम, प्रेम की प्रत्यागत, कभी न कभी, अचल मेरा कोई, अमर बेल, उदय किरण, और आहत का नाम उल्लेखनीय है। इस प्रकार ऐतिहासिक उपन्यासों में गढ़ कुण्डार, विराटा की पद्मिनी, मुसाहिब जू, झाँसी की रानी, मृगनयनी, कचनार, टूटे काँटे, माधव जी सिंधिया, रानी दुर्गावती, अहिल्याबाई, रामगढ़ की रानी, सोती आग, देवगढ़ की मुस्कान, कीचड़ और कमल तथा ललितादित्य के नाम उल्लेखनीय है। इनमें तीन अप्रकाशित है इनके अतिरिक्त भुवन विक्रम उपन्यास भी प्रकाशित रूप में हमारे

समक्ष है। इन उपन्यासों में सर्वाधिक प्रशंसित उपन्यास 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' और 'मृगनयनी' है। मृगनयनी' पर वर्मा जी को उत्तर प्रदेश सरकार से 1951 में पुरस्कार प्राप्त हुआ था। इन्हें 1958 में आगरा विश्वविद्यालय ने डी0लिट0 की सम्मानित उपाधि देकर इनकी साहित्यिक सेवाओं कोआदर प्रदान किया था। साहित्य सन्देश में 1959 के ऐतिहासिक उपन्यास शीर्षक अन्य अंक में वर्मा जी के कृतित्व को विशेषरूप से स्थान दिया गया था और 1965 में भारत सरकार ने इनकी विशिष्ट सेवाओं के उपलक्ष्य में पद्मभूषण की उपाधि देकर इन्हें आदर प्रदान किया था। इनकी प्रशंसा में प्रसिद्ध आलोचक डा0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने लिखा है कि ऐतिहासिक उपन्यास लेखकों में वृन्दावन लाल वर्मा का नाम सर्वोपरि है। डा0 प्रभाकर माचवे ने भी आलोचना के इतिहास विशेषांक में वर्मा जी को गुण और परिमाण दोनों दृष्टियों से सराहा है।

वर्मा जी अपने सम-सामयिक समाज के दुख दर्द से उसके गुण दोषों से भली भाँति परिचित हैं। उनके मन में अपने साहित्य के माध्यम से बुन्देलखण्ड को अमर कर देने की प्रबल आकांक्षा थी। फलतः बुन्देलखण्ड के प्रति रागात्मक होते हुए उन्होने निःसंकोच भाव से बुन्देलखण्ड की सबलताओं एवं दुर्बलताओं का यथार्थ चित्रण किया है। उन्होनेअपने उपन्यासों की कथावस्तु दो स्रोतों से एकत्र की है प्रथम स्रोत ऐतिहासिक अंचल है और द्वितीय स्रोत स्वानुभूति पर अथवा किंवदन्तियों, कहानियों और भेंट वार्ताओं पर आधारित है जिसे परम्परामूलक भी कह सकते हैं। जैसा कि प्रत्येक उपन्यास के परिचय भाग में तत् तत् उपन्यास के कथास्रोत पर स्वयं भी प्रकाश डालदिया है।

उनके सामाजिक उपन्यासों में दहेज प्रथा, नारी यातना, कुण्डली मिलाने की रूढ़ियाँ, जाति पाँतिका बन्धन, ऊँच नीच की समस्या, सामाजिक अन्याय, आन्तरिक घुटन, विधवा जीवन की समस्याएँ, प्रेम मार्ग की विषमताएँ, साम्प्रदायिक कलह नारी स्वातन्त्र्य, आस्थावादी दृष्टिकोण, उदात्तता और सहनशीलता, कृषक जीवन की भीषण परिस्थितियाँ, स्वातन्त्र्योत्तर ग्रामीण जीवन, निम्न वर्ग का जागरण, चोरों और डाकुओं का आतंक, जमींदारी की समाप्ति पर जमींदारों की दुर्गति, पारिवारिक विघटन आदि सामाजिक समस्याओं का गुप्त या प्रकट रूप से चित्रण हुआ है। उन्होने सामाजिक समस्याओं का चित्रण वैयक्तिक स्तर पर किया है। इन सामाजिक उपन्यासों की कथावस्तु के लिए वर्मा जी को दूर जाने की आवश्यकता नहीं पड़ी उन्होने अपने परिवेश से ही मूल स्रोत लेकर उन्हें अपनी कल्पना से सजा सँवार कर औपन्यासिक रूप दे

दिया है। अतः उनके उपन्यासों की प्रमुख घटनाएँ और पात्र सत्य हैं।

इन उपन्यासों की तुलना में उनके ऐतिहासिक उपन्यास अधिक महत्व पूर्ण माने जाते हैं क्योंकि उन्होने ऐतिहासिक तथ्यों को जैसा का तैसा नहीं मान लिया अपितु उनके बारे में पर्याप्त अन्वेषण भी किया है। वे ऐतिहासिक भ्रमों के निवारण हेतु पर्याप्त श्रमकरते थे। सरदेसाई, रानडे, यदुनाथ, सरकार, डा0 वसु हेमचन्द्र, राय वैवरिज, स्मिथ, टामसन, डरविन, कर्नल मैलसिन आदि इतिहासकारों के ग्रन्थो का आलोडन करके इन्होने अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। इनके अतिरिक्त आइने अकबरी, मीराते ~~सिकि~~ सिकन्दरी, वयाने बुकाय, चहारे गुलशन आदि ग्रन्थों तथा पुराने पत्रों, रोजनामचों, दस्तूर देहियों आदि से भी तथ्यों का संग्रह करते थे। इन्होने लिखित प्रमाणों के अतिरिक्त जन श्रुतियों एवं मौलिक परम्पराओं से प्राप्त सूचनाओं को भी अपनी मान्यताओं का आधार बनाया है। जैसा कि दुर्गावती, गढ़ कुण्डार, विराटा की पद्मिनी, मृगनयनी' आदि उपन्यासों की भूमिकाओं से प्रतीत होता है। उन्होने वर्तमान शक्तिशाली बनाने के लिए ही अतीत को उपजीव्य बनाया है।जैसा कि उनके निम्नलिखित शब्दों से व्यक्त होता है —

"मैं आपको कभी सैकड़ों वर्ष पीछे ले जाता हूँ और कभी उससे भी अ अधिक परन्तु इतिहास की उदासीनता में आपको फिर भी जकड़े रहता हूँ। किसी देश का इतिहास भूत और वर्तमान से अलग रहकर नहीं चलता। भूत में ग्राह्य और अग्राह्य दोनों ही हैं। भूत के ग्राह्य को लेना और अग्राह्य को छोड़ देना वर्तमान के लिए उतना ही आवश्यक है जितना भविष्य के लिए वर्तमान की सुरूपता और सुगढ़ता का मैंने गौरव गाथा द्वारा वर्तमान को भुलाया नहीं और न पाठक को पलायनवादी बनाता हूँ मैं उनको उत्तेजित करके ~~भी~~ भविष्य के लिए प्रबल बनाता हूँ।"[1]

वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासों की एक और विशेषता है कि वे इतिहास सर्वमान्य तथ्यों का खण्डन न करते हुए भी भारतीय शौर्य की भग्न प्रतिमा को पुनः प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। विदेशी इतिहासकारों ने भारतीयों के ऊपर कायरता

1- अपनी कहानी, पृ0 234

असमर्थता, कर्तव्यविमूढ़ता आदि के जो आक्षेप लगाये हैं वर्मा जी ने उन सबको निराधार सिद्ध किया है और भारतीय जनों को आत्मविश्वास और उत्साह की ऊष्मा तथा ऊर्जा देकर समृद्ध किया है। वर्मा जी ने भारतीय पराक्रम को सहिष्णुता, त्याग, करूणा मैत्री और क्षमा से पूर्ण करके भारतीय संस्कृति के संबंध में विभिन्न आक्षेपों का खण्डान किया है किन्तु यहाँ की संकीर्णता, रूढ़िग्रस्तता और जाति वादिता जैसे दोषों का निः-संकोच उद्घाटन भी किया है। वर्मा जी ने बुन्देलखण्ड के इतिहास को हृदय और मस्तिष्क दोनों की सहायता से चित्रित किया है इसके लिए उन्होने परम्परा और जन श्रुतियों के कोमल तन्तुओं का आश्रय लेकर इतिहास की टूटी हुई कड़ियों के जोड़ने का भगीरथ प्रयास किया है। फलतः उनके इन उपन्यासों में देश प्रेम, राष्ट्रीयता, स्वामिभक्ति , शौर्य , साहस, शत्रुता, बलिदान, प्रेम और संघर्ष जैसे भावों के सूत्र सहज में ही संचित हो गये है। उनके अधिकांश कथानकों में उनकी वास्तविक अनुभूतियों ने कलात्मकता का रंग लेकर नया जामा पहना है और अतीत की घटनाओं ने उनकी आत्मा का स्पंदन प्राप्त किया है।

युद्ध और आखेट के चित्रण में वर्मा जी को अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है उनके वर्णनों में मध्ययुगीन शूरवीरों की यथार्थझाँकी अंकित है। उन्होंने मैदानों, पहाड़ियों, गढ़ो और घाटियों में घण्टों घूम घूमकर जो आत्मानुभव प्राप्त किया है उसे लिखा है। श्री राम की शिकार कथाओं को छोड़कर वर्मा जी के समय तक कोई ऐसा समर्थ उपन्यासकार नहीं हुआ जिसने वन्य जीवन के रोमांस को वर्मा जी के समान चित्रित किया हो। वर्मा जी के उपन्यासों में आखेट का आनन्द अपनी पूर्ण यथार्थता और रोमांचकता के साथ देखने को मिलता है। जंगली भैंसो, दुर्दान्त सुअरो, चीतलों और शेरों की दहाड़ के लिए वे उतावले से प्रतीत होते हैं। उनके मृगनयनी' मुसाहिब जू' और 'दुर्गावती' जैसे उपन्यास इस विशेषता के लिए प्रसिद्ध हैं, इनमें साहस शौर्य, उल्लास और माधुर्य स्थानीय भावनाओं एवं विशेषताओं कोलेकर प्रकट हुये हैं। इस प्रकार वर्मा जी के उपन्यासों में तथ्य और कल्पना, इतिहास और रोमांस का अद्भुत समन्वय विद्यमान है।

वर्मा जी की भाषा में पर्याप्त आंचलिकता विद्यमान है उन्होने बुन्देलखण्ड में प्रचलित होने वाले विभिन्न लोकगीतों को यथास्थान उद्धृत कर जहाँअपने आंचलिक बोध को मुखर किया है वही उनके प्रति अपनी रागात्मकता भी व्यक्त की है। क्योंकि

उनमें लोक संस्कृति बोलती है। वे भाषा के कृत्रिम रूप से सदैव बचते रहे हैं। यही कारण है कि कुछ आलोचक उनकी भाषा का लालित्यहीन या सीधी सपाट कहते हैं। उन्होने अपनी कहानी मुे लिखा भी है कि —" जहाँ जैसे अटक है वहाँ वैसी भाषा का उपयोग किया जाना चाहिए। मैं भाषा को जबरदस्ती बोझिल बनाने के पक्ष में नही हूँ। "।

वास्तव में वर्मा जी ने अपनी भाषा ऐसी व्यवस्थित रखी है कि जिसमें स्वाभाविकता की सुरक्षा और और साहित्यिक सौष्ठव भी अभिव्यक्त होता जाये इस कारण उनकी भाषा में प्रेषणीयता का स्वाभाविक गुण विद्यमान है जो ओज, प्रवाह, सजीवता और सहजता से अलंकृत है। इसी प्रकार वे कोमलऔर परुष दोनों प्रकार के भावों को सहज में ही अभिव्यक्त करने में सक्षम हुए हैं। न तो उन्होने शब्दों को तोड़ा मरोड़ा है और न अनावश्यक वचनवक्रता से जटिल बनया। उन्होने स्वाभाविकता लाने के लिए अनेक स्थलों पर बुन्देलखण्ड की वाक्यावली का भी प्रयोग किया है किन्तु बहुत सजग रहते हुए क्योकि अधिक प्रयोग से बुन्देली से अपरिचित व्यक्तियों को कुछ कठिनाई हो सकती थी। इतना अवश्य है कि बुन्देलखण्ड अंचल में प्रयुक्त होने वाले सैकड़ों शब्दों को अपने उपन्यासों में स्थान देकर वर्मा जी ने अपने आंचलिक बोध एवं आंचलिकता को पर्याप्त महत्व दिया है। उदाहरणार्थ — टौरिया, मरका, लौकना, टिटकार तिरचाँवरी, अर्राटा, टन्नातीखन्नाती , कछौटा, कुडकुडाई, खुसफुस जैसे शब्द स्थान स्थान पर वाक्यों के बीच में प्रयुक्त हुए है। जिनसे भावाभिव्यक्ति में पर्याप्त सहायता मिली है। वर्मा जी ने वाक्य रचना में दोहरे शब्दों का भी प्रयोग किया है जैसा कि ब बुन्देलखण्ड में प्रचलित भी हैं। इनमें एक सार्थक होता है और एक निरर्थक। यथा — चमकीली चँदीली , बँधा-रँधा, फड़र फड़र, धूल धक्कड़, कतर व्योंत, गुटगुटा, धड़धड़ा आदि। हो सकता है कुछ पाठकों को ऐसी शब्दावली इतनी रोचक न लगती हो किन्तु इनसे भाषा की अभिव्यंजना शक्ति में कितनी वृद्धि हुई है इसे तो वही जान सकते हैं जिन्होने बुन्देली भाषा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया हो। इनमें प्रयुक्त लोकोक्तियों एवं मुहावरे लेखक की ~~शक्ति~~ शक्ति के द्योतक हैं। लक्षणा और व्यंजना के चमत्कार

1- अपनी कहानी, पृ० 238

विशेषता लोकोक्तियों और महावरों में दृष्टव्य हैं। इस प्रकार भाषायिक आंचलिकता के संबंध में यही निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में खड़ीबोली का ही प्रयोग किया है किन्तु ग्रामीण अंचलों से सम्बद्ध कतिपय पात्रों के स्वाभाविक उद्‌गारों कीअभिव्यक्ति के लिए उन्होने बुन्देली भाषा के वाक्य के वाक्य उद्धृत किए हैं। उदाहरणार्थ 'झाँसी की रानी' उपन्यास में 'झलकारी' कोरिन के कथन बुन्देली में ही लिखे गयेहैं। इसके अतिरिक्त अर्जुन और विराटा की पद्‌मिनी का गड़रिया बालक भी बुन्देली बोलता है इससे वैयक्तिक और प्रादेशिक विशेषताओं की अभिव्यक्ति के साथ ही साथ लेखक को वातावरण निर्माण में बड़ी सहायता प्राप्त हुई है। स्काट के डायलवट के समान वर्मा जी के बुन्देली सम्वादों की नैसर्गिक सरलता, खुरदरी स्निग्धता और अल्हड़ सौन्दर्य अधिकांश उपन्यासों को जीवन स्पर्शी से विशिष्ट माधुर्य प्रदान करते हैं। युद्ध और आखेट के सजीव चित्रों में वर्मा जी की भाषा अत्यन्त सजीव हो उठी है। इस प्रकार उनकी भाषा में बुन्देलखण्ड की आंचलिकता रह रह कर बोलती है जहाँ एक ओर उसमें स्वाभाविकता एवं ओज के दर्शन होते हैं वहाँ दूसरी ओर उसमें आंचलिकता और सुन्दरता के भी यथार्थ दर्शन होते हैं। सब कुल मिलाकर उनकी भाषा भावों एवं विचारों के वहन करने में पर्याप्त सक्षम है। यदि उसमें आंचलिक बोध का समावेश न किया गया होता तो उनकी अभिव्यंजना शक्ति में एक खटकने योग्य न्यूनता दिखलाई पड़ती और वे अपने कथ्य को पूर्ण शक्ति के साथ अभिव्यक्ति देने में असमर्थ रहते।

सांस्कृतिक आंचलिकता की दृष्टि से वर्मा जी के उपन्यास बड़े महत्वपूर्ण हैं। उनमें धर्म, नीति, दर्शन, कलादि के विषयों में पर्याप्त रूप से आंचलिकता के दर्शन होते हैं। उत्सव-त्योहारों की दृष्टि से यहाँ की विशिष्ट परम्पराएँ हैं। चैत्र में नवरात्र के अवसर पर 'गौरपूजा' सुअटा के त्योहार के रूप में बड़े उल्लास के साथ मनाया जाता है, जिसमें सधवा स्त्रियाँ परस्पर कुंकुम-रोरी लगाती हुई युक्तिपूर्वक एक दूसरे के पति का नाम पूछती हैं। 'रामनवमी' की छटा तो अपूर्व ही होती है। वैशाख शुक्ला 3 अक्षयतृतीया के दिन स्त्रियाँ मधुरगीत गाती हुई गृहस्वामि का खेतों में आह्वान करती हैं। इसी प्रकार ज्येष्ठ में 'गंगा दशहरा' सावन में रक्षाबन्धन और कजरी , भादों में 'वामन द्वादशी' आश्विन में पितृपूजा, दुर्गापूजा, कार्तिक में कार्तिक स्नान, दीपावली, अगहन में पौशी, पौष केबाद माघ में गणेश चतुर्थी तथा वसन्त पंचमी तथा मकर संक्रान्ति, फाल्गुन में शिवरात्रि तथा होली के पर्व तथा त्योहार

अपनी आंचलिकता के लिए प्रसिद्ध है। इनमें मिट्टी की मूर्तियों का निर्माण, उनका श्रृंगार, फूलामालाओं की शोभा, मेंहदी रचना, विविध प्रकार की चौकें पूरना बुन्देलखण्डीय संस्कृति के विचित्र एवं कलात्मक उदाहरण हैं, जो वर्मा जी के उपन्यासों में प्राप्त होते हैं।

बुन्देलखण्ड में विवाहादि संस्कारों में भी आंचलिकता विद्यमान है, जन्मपत्री मिलाना, फलदानादि की प्रथायें इसका प्रमाण हैं। यहाँ के प्रचलित विश्वास करना, मुहूर्त के आधार पर ही कोई कार्य करना, अंगस्फुरण, हस्तरेखा एवं ज्योतिष पर विश्वास करना, स्वप्नविचार, मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए पूजापाठ, तुलसी एवं पीपलपूजन, बलिदान देना आदि। यहाँ अनेक अनिष्टकारक तान्त्रिक क्रियाएँ भी प्रचलित हैं। 'देवगढ़ की मुसकान' शीर्षक उपन्यास में वर्मा जी ने 'मारणमंत्र और 'पशुबलि' का उल्लेख किया है। यहाँ भूतों प्रेतों एवं अतिमानवीय शक्तियों पर भी विश्वास किया जाता है। अमरबेल, कचनार, कुण्डलीचक्र, और 'कीचड़ और कमल' ये ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं। नैतिक दृष्टि से यहाँ आदर्शवाद प्रचलित हैं। इस प्रकार वर्मा जी ने बुन्देलखण्ड स्थानीय संस्कृति को अपने सम्पूर्ण वैशिष्ट्य के साथ चित्रित किया है।

भौगोलिक दृष्टि से वर्मा जी ने बुन्देलखण्ड के विविध अंचलों का बड़ा ही रोमांचक चित्रण प्रस्तुत किया है उन्होंने उन अंचलों का अनेक बार अवलोकन भी किया है। उनके उपन्यासों में ये सभी भौगोलिक चित्र जीते जागते एवं बोलते बतलाते प्रतीत होते हैं। नदियों में उन्होंने बेतवा, धसान, सिन्धु, केन, पुहूज या पुष्पावती, चम्बल, सोन, हिरनी, यमुना, एवं नर्मदा आदि अनेक नदियों का चित्रण किया गया है। उनके इस चित्रण में भीषण और सुन्दर का ऐसा समन्वयात्मक चित्रण हैजो वस्तुतः यथार्थ प्रतीत होते हैं। इन नदियों के सर्वाधिक रागात्मकता लेखक ने बेतवा के साथ दिखलाई है क्योंकि प्रसंगवश जहाँ जहाँ इसका नाम आ जाता है वर्मा जी वहाँ वहाँ अधिक भावुक प्रतीत होते हैं। अन्य नदियों के वर्णन में उनकी इतनी प्रगाढ़ रागात्मकता नहीं प्रतीत होती। बुन्देल खण्ड प्राकृतिक दृश्यों की मनोरम रंगस्थली है। विन्ध्य श्रेणी के पारिवारिक सदस्य छोटे मोटे अनेक पर्वत अपनी प्राकृतिक सुषमा के लिए विख्यात है। वर्मा जी ने उन सबकी यथार्थ भौगोलिक स्थिति एवं उनकी वैयक्तिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। वर्षा के दिनों में यहाँ के नाले कितना भीषण रूप ले लेते हैं

इसका उल्लेख वर्मा जी ने अपनी अनुभूति के आधार पर किया है। उदाहरणार्थ बबन-वारा नाले का जैसा चित्रण मिलता है वैसा और किसी नाले का नहीं। वनों की भीषणता और सुन्दरता का कहना ही क्या है। मकौये तेन्दू, करधई, आँवला, आदि बुन्देखण्डीय वृक्षों का जैसा सजीव चित्रण लेखक ने किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

यहाँ की जलवायु ऋतु विशेष में परिवर्तित होती रहती है। सामान्यतया ग्रीष्म के दिनों में यहाँ भयंकर गर्मी पड़ती है और लू चलती है। विशेष बात तो यह है कि इन दिनों रात्रि के समय मौसम सुहावना हो जाता है। इस विशेषता का उल्लेख बुन्देलखण्ड के गजेटियर तक में व्याप्त हैऔर स्वयं वर्मा जी ने भी कई उपन्यासो में इसका उल्लेख किया है। इसी प्रकार जाड़े के दिनों में यहाँ भयंकर जाड़ा पड़ता है जो यहाँ के दन्यपूर्ण जीवन के लिए अभिशाप बन जाता हैय हाँ के निवासी इन दिनों अधिकांश अग्नि जलाकर अपनी शीत को दूर करते हैं। जिसका उल्लेख वर्मा जी ने कई कृतियों में किया है। ऋतुओं की दृष्टि से वर्मा जी ने सर्वाधिक चित्रण वर्षा एवं ग्रीष्म का किया है क्योंकि वर्षा के दिनो में यहाँ प्राकृतिक सौन्दर्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है और ग्रीष्म के दिनों में प्रकृति की भयंकरता भी अपनी चयम सीमा पर पहुँच जाती है। लेखक ने अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार सुन्दर और भीषण तत्वों को यहाँ भी वरीयता प्रदान की है।

बुन्देलखण्ड का प्रधान आयस्रोत कृषि ही है। किन्तु पर्वतों एवं वनों के आधिक्य के कारण यहाँ खेतों का आकार अपेक्षाकृत छोटा होता है। रात्रि के समय कृषक को जंगली जीवों से कृषि को बचाने के लिए रखवाली भी करनी पड़ती है। सिंचाई के लिए नहरों के अभाव के कारण उसे पुर और रहट जैसे साधनों पर आधारित रहना पड़ता है। अभी वैज्ञानिक ढंग से खेती करने की प्रक्रि या यहाँ समुचित विकसित नहीं हो पायी है। इन सबका उल्लेख लेखक ने किया है। अन्य विशेषताओं में यहाँ के दुर्ग एवं खण्डहर उल्लेखनीय है जिनके प्रति वर्मा जी ने संवेदनात्मक दृष्टिकोण अपनाया है। आज वे खण्डहर अपने में बुन्देलखण्ड का इतिहास छिपाये हुए हैं। जिसकी खोज में वर्मा जी एक अन्वेषक की भाँति संलग्नरहे हैं। वनों की अधिकता के कारण यहाँ पर विभिन्न खनिज पदार्थ एवं वन्य जीवों का बाहुल्य है। चीतल, तेन्दुआ, सूअर, शेर, अरना भैंसा , हिरन आदि जीवों की प्रवृत्तियों आदि का जीता जागता चित्रण उनके उपन्यासों

में प्राप्त है।

ऐतिहासिक आंचलिकता की दृष्टि से उनके ऐतिहासिक उपन्यास अद्वितीय हैं उनकी यह विशेषता है कि उन्होने लोकोक्तियों एवं किम्बदन्तियों के साथ ही ऐतिहासिकता से समन्वय करने की चेष्टा की है और जहाँ पर इतिहासकारों से कुछ भूलें हो गयी हैं उनका उन्होने सुधार भी किया है। उदाहरणार्थ इतिहासकारों ने झाँसी की रानी के विषय में ऐसा उल्लेख किया है कि उन्होने अंग्रेजों की छत्रछाया में रहकर विवशतापूर्ण युद्ध किया किन्तु वास्तविकता यह नहीं है अपितु देश प्रेम और राष्ट्रीयता से उत्प्रेरित होकर रानी ने युद्ध किया। इस बात की स्थापना करने के लि वर्मा जी ने अनेक अकाट्य तर्क दिये हैं जिनकी वास्तविकता से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

सामाजिक तथा आर्थिक आंचलिकता की दृष्टि से उनके उपन्यास महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। वर्ण व्यवस्था की दृष्टि से उसमें उच्चवर्ग एवं निम्नवर्ग दोनों की स्थिति स्पष्ट की गयी है। निम्नवर्ग ऋण के भार से लदा हुआ, रूढि एवं परम्पराओं से जकड़ा हुआ अभिशप्त चित्रित किया गया है इसके विपरीत सामन्ती जीवन की झलक दिखाने में वर्मा जी ने उनकी विलासिता अत्याचार, खान-पान, रहन-सहन आदि का यथार्थ चित्रण किया है। यद्यपि कृषकों के साथ शासन की सहानुभूति रही है किन्तु उन्होने उनके उत्थान के लिए अधिक उल्लेखनीय कोई कार्य नहीं किया। इतना अवश्य है कि कभी कभी आपत्ति पड़ने पर वे लगान माफ कर देते थे और तकाबी देते थे। उन्हें शासन को 1/6 उपज का भाग देना पड़ता था। इसके अति-रिक्त निर्धारित रूप में उन्हें मंदिर आदि के लिए भी उसी से देना पड़ता था जिससे उनके पास उपज का 3/4 ही शेष रहता था। जैसा कि 'मृगनयनी' उपन्यास में लेखक ने उल्लेख किया है। प्रजा की प्रगति सन्तोषजनक नहीं थी वे अन्ध परम्पराओं और रूढ़ियों से ग्रस्त थी यदि प्रगतिशीलता के नाम पर कोई अन्तरजातीय विवाह करता भी था तो वह जनता की दृष्टि में हेय समझा जाता था। राजाओं और सामन्तों में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। विधवा विवाह अथवा पुर्नविवाह जैसी परम्परायें पनप नहीं पायी थी किन्तु कुछ जागरूकता अवश्य उत्पन्न हो गयी थी। लेखक ने यहाँ के जन जीवन की अच्छाइयों एवं बुराइयों का खुलकर चित्रण किया है। निम्नवर्ग के लोग जहाँ

सरल निष्कपट भोले भाले और सादा जीवन उच्च विचार के प्रतिनिधि चित्रित किए गये हैं वहीं उनके कुव्यसनों का खुल कर भण्ड-फोड़ किया गया है। सुरापान की प्रवृत्ति अपव्यय करने की आदत यहाँ के दुर्व्यसनों में से हैं। अशिक्षा के कारण रूढ़ियों ने यहाँ के जन जीवन को जकड़ रखा है इसके कारण यहाँ की जनता का अभी समुचित विकास नहीं हो पाया है।

इस प्रकार वर्मा जी के उपन्यासों में स्वानुभूति मूलक आंचलिकता और परानुभूति मूलक आंचलिकता के दर्शन होते हैं। प्रथम वर्ग में वे विशेषताएँ आतीहैं जिनको वर्मा जी ने स्वयं अपनीआँखों से देखा है या उनका अनुभव किया है। उदाहरणार्थ उपन्यासों के अनेक पात्र ऐसे हैं जो लेखक के जीवन में वर्तमान रहे हैं। यहाँ के भौगोलिक दृश्य आज भी दर्शनार्थ उपलब्ध हैं। यहाँ की परम्परायें और सामाजिकता आज भी बहुत कुछ वैसी ही हैजैसी की चित्रित है। अतः परानुभूति मूलक आंचलिकता में ऐतिहासिक तथ्य ही मुख्य रूप में आते हैं इनके अतिरिक्त कर्ण परम्परा से सुनी हुई कथायें एवं किम्बदन्तियाँ भी इस वर्ग मेंआती हैं वर्मा जी ने इन दोनों प्रकार की आंचलिकता का ऐसा सुन्दर ताल मेल के साथ चित्रण किया है कि दोनों एक सी प्रतीत होती है। अस्तु वर्मा जी के उपन्यासों में आंचलिकता के सभी प्रमुख तत्व अपने स्वाभाविक रूप में विद्यमान है इसमें कोई सन्देह नहीं है। बुन्देलखण्ड का समस्त जीवन, समस्त समाज, समस्त प्रकृति, समस्त इतिहास, समस्त वातावरण, उनके उपन्यासों में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता है।इसलिए वे मुंशी प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार माने जाते हैं। ऐतिहासिक, उपन्यासकार की दृष्टि से वे हिन्दी जगत के 'वाल्टर-स्काट' हैं।

सहायक ग्रन्थ-सूची

(क) हिन्दी-ग्रन्थ

(ख) अंग्रेजी-ग्रन्थ

(ग) विविध पत्र-पत्रिकाएँ

परिशिष्ट

डा0वृन्दावन लाल वर्मा के प्रकाशित उपन्यासों की सूची

उपन्यास का नाम	रचनाकाल सन् में	प्रबन्ध में प्रयुक्त संस्करण
गढ़ कुण्डार	1927	आठवाँ 1977
लगन	1927	तेरहवाँ 1974
संगम	1927	छठाँ 1975
प्रत्यागत	1927	तीसरा 1963
कुण्डली चक्र	1928	चतुर्थ 1965
प्रेम की भेंट	1928	छठाँ 1966
विराटा की पद्मिनी	1933	नवाँ 1974
मुसाहिब जू	1937	सातवाँ 1974
कभी न कभी	1942-43	पाँचवा 1973
झाँसी की रानी	1946	पन्द्रहवाँ 1973
कचनार	1946	ग्यारहवाँ 1975
अचल मेरा कोई	1974	11वाँ, 12वाँ 1965-72
माधव जी सिन्धिया	1948	सातवाँ 1975
टूटे काँटे	1949	चतुर्थ 1965
मृगनयनी	1950	बीसवाँ, 1972
सोना	1950	दसवाँ, 1975
अमरबेल	1952	पाँचवाँ, 1965
भुवन विक्रम	1955	आठवाँ 1975
अहिल्याबाई	1955	तेरहवाँ, 1974
आहत	1960	पाँचवाँ 1973
उदयकिरण	1961	नवम् 1974
दुर्गावती	1961	आठवाँ, 1973

रामगढ़ की कहानी 1961 तृतीय 1966

सोती आग 1966

डा0 वृन्दावन लाल वर्मा के अप्रकाशित उपन्यासों की सूची

देवगढ़ की मुस्कान

कीचड़ और कमल

ललितादित्य

अब क्या हो?

सहायक ग्रन्थ-सूची

दबे पाँव डा0वृन्दावन लाल वर्मा

अपनी कहानी डा0वृन्दावन लाल वर्मा

अशोक के फूल डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी

उपन्यासकार वृन्दावन लाल वर्मा, डा0शशिभूषण सिंहल

वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों में सांस्कृतिक अध्ययन, डा0 कृष्णा अवस्थी

बुन्देलखण्ड की संस्कृति और साहित्य, रामचरण हयारण 'मित्र'

हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास और मृगनयनी, डा0 शान्ति स्वरूप गुप्त

हिन्दी उपन्यास डा0 सुषमा धवन

वृन्दावन लाल वर्मा उपन्यास और कला, डा0 शिवकुमार मिश्र

गोदान गवेषणा सम्पादक-कपिलदेव सिंह, पद्मनारायण निशांतकेतु

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता- डा0 प्रसन्नकुमार आचार्य

साकेत एक अध्ययन, डा0 नगेन्द्र

वट पीपल, दिनकर

भारतीय संस्कृति का विकास, डा0 मंगल देव शास्त्री

भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, डा0 सत्यकेतु विद्यालंकार

भारतीय संस्कृति डा0 देशराज

कला और संस्कृति — डा0 वसुदेवशरण अग्रवाल

भारत की प्राचीन संस्कृति — डा0 राम जी उपाध्याय

हिन्दी विश्वकोश : खण्ड 12 — काशी नागरी प्रचारणी सभा

विचार और वितर्क — डा0 हजारी प्रसाद दि्ववेदी

सांस्कृतिक भारत — डा0 भगवत शरण उपाध्याय

समाजशास्त्र के मूल तत्व — सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ — शशिभूषण सिंहल

भारतीय संस्कृति — डा0 गुलाबराय

सत्ता निरपेक्ष संस्कृति एवं सत्ता सापेक्ष, सभ्यता शब्द का चिरन्तन इतिवृत्त

भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों की रूपरेखा — मोती लाल शर्मा

संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर — काशी नागरी प्रचारणी सभा

हिन्दी साहित्य कोश — ज्ञानमण्डल लि0वाराणसी

मृगनयनी — जगदीश त्रिपाठी

भागवत दसवाँ स्कन्ध

साहित्यिक निबंध संग्रह — राजनाथ शर्मा

पिच्छि कमण्डलु

यजुः संहिता

शतपथ ब्राह्मण

अंग्रेजी ग्रन्थ-सूची

General Anthropology - Boas and others

Culture and Anarchy - Mathew Arnold.

The Evalution of Culture - Prof.Laslie A White

Anthropology - A.L.Kroeber

Indian Culture - Hitendra Nath Datt

Primitive Culture - E.V.Tylar

--Contd.on-- 4

Sociology - - - - - T.B. Bottomore
Encyclopaedia of social-science - Vol. III of IV E. R. A.- Seligman
Culture and History - Phillip Bagby.
Ibid - Sweetness and Light.

पत्र-पत्रिकाएँ

नागरी प्रचारणी पत्रिका — अंक 3 वर्ष 1969
साहित्य सन्देश, — अक्टूबर, नवम्बर, 1940
नये पत्ते जनवरी अंक — 1953
साहित्य सन्देश ऐतिहासिक विशेषांक, सन् 1969
सारिका — अंक अक्टूबर, 1961, राजेन्द्र अवस्थी
सारिका — अंक 1971 राजेन्द्र अवस्थी
कल्याण — हिन्दी संस्कृति अंक
हिन्दी संस्कृति अंक कल्याण- — राजगोपालाचार्य
हिन्दी संस्कृति अंक जनवरी, — 1950, डा0 सम्पूर्णानन्द